UGST-04 संस्कृत

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

खण्ड-एक (भाग-एक) : वैदिकमन्त्रचयनम्

खण्ड-एक (भाग-दो) : वैदिकमन्त्रचयनम्

शान्तिपुरम् (सेक्टर - एफ) फाफामऊ
इलाहाबाद-211013

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

UGST - 04
संस्कृत

व्रण्ड-एक (भाग-एक)

ादिकमन्त्रचयनम्

काई- १ ५
द का सामान्य परिचय

काई- २ २४
ङ्ग

काई- ३ ३३
ता परिचय

काई- ४ ४३
देक भाषा की विशेषताएं और ऋग्वेद के छन्द

ृ्यक्रम-परिचय

यह UGST-04 के प्रथम खण्ड का प्रथम भाग है। इसमें वेद का सामान्य परिचय, वेदाङ्ग, ा परिचय, वैदिक भाषा की विशेषता तथा ऋग्वेदीय 'छन्द' प्रस्तुत किये हैं, जिनसे पाठ्यक्रम में रित वैदिक मन्त्र अल्प परिश्रम से ही बोधगम्य हो गये हैं।

ाई–1 वेद का सामान्य परिचय

उद्देश्य

वेद

१.१.१ चार वेद

१.१.२ चार ऋत्विक्

१.१.३ वेदत्रयी

वेद के विभाग

१.२.१ संहिता

१.२.२ ब्राह्मण

१.२.३ आरण्यक

१.२.४ उपनिषद्

संहिता ग्रन्थ

१.३.१ ऋग्वेद-संहिता

१.३.१.१ ऋग्वेद का विभाजन

१.३.१.२ ऋग्वेद का प्रतिपाद्य विषय

१.३.२ यजुर्वेद-संहिता

१.३.२.१ यजुर्वेद के सम्प्रदाय

१.३.२.२ शुक्लयजुर्वेद-संहिता

१.३.२.३ कृष्णयजुर्वेद-संहिता

१.३.३ सामवेद-संहिता

१.३.३.१ शाखाएँ

१.३.४ अथर्ववेद-संहिता

ब्राह्मणग्रन्थ

१.४.१ ऋग्वेद के ब्राह्मण-ग्रन्थ

१.४.१.१ ऐतरेयब्राह्मण

१.४.१.२ कौषितकिब्राह्मण

१.४.२ शुक्लयजुर्वेद के ब्राह्मण

१.४.२.१ शतपथब्राह्मण

१.४.३ कृष्णयजुर्वेद के ब्राह्मण

१.४.३.१ तैत्तिरीयब्राह्मण

१.४.४ सामवेदीय-ब्राह्मण

१.४.५ अथर्ववेदीय-ब्राह्मण

आरण्यक-ग्रन्थ

१.५.१ ऋग्वेद के आरण्यक-ग्रन्थ

१.५.२ यजुर्वेद के आरण्यक-ग्रन्थ

१.५.३ सामवेद का आरण्यक-ग्रन्थ
१.५.४ अथर्ववेद का आरण्यक
१.६ उपनिषद्
१.६.१ ऐतरेयोपनिनषद्
१.६.२ कौषितकि-उपनिषद्
१.६.३ श्वेताश्वरोपनिषद्
१.६.४ कठोपनिषद्
१.६.५ तैत्तिरीयोपनिषद्
१.६.६ मैत्रायणोपनिषद्
१.६.७ बृहदारण्यकोपनिषद्
१.६.८ ईशावास्योपनिषद्
१.६.९ केनोपनिषद्
१.६.१० मुण्डकोपनिषद्
१.६.११ माण्डूक्योपनिषद्
१.६.१२ प्रश्नोपनिषद्

१.० उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन करने के पश्चात् आप–

- वेद का परिचय प्राप्त करेंगे।
- चार वेद, चार ऋत्विक और वेदत्रयी का ज्ञान प्राप्त करेंगे।
- संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् - इन वेदों के चारों विभागों के विषय में जान पाएँगे।
- ऋग्वेद-संहिता, ऋग्वेद का विभाजन और ऋग्वेद के प्रतिपाद्य-विषय को समझ सकेंगे।
- यजुर्वेद-संहिता, यजुर्वेद के सम्प्रदाय, शुक्लयजुर्वेद और कृष्णयजुर्वेद संहिता के विषय में जान लेंगे।
- सामवेद-संहिता और उसकी शाखाओं का परिचय प्राप्त करेंगे।
- अथर्ववेद-संहिता के विषय में जानकारी प्राप्त करेंगे।
- ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के ब्राह्मणग्रन्थों के विषय में जान लेंगे।
- चारो वेदों के आरण्यक और उपनिषद् ग्रन्थों से परिचित होंगे।

१.१ वेद—

'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' के अनुसार मन्त्र और ब्राह्मणात्मक शब्दराशि को वेद कहा जाता है। 'मनातात् मन्त्राः' के अनुसार जिनके द्वारा यज्ञ-यागों का अनुष्ठान निष्पन्न

ोता है तथा जिनमें उल्लिखित देवताओं की स्तुति का विधान किया जाता है, उन्हें मन्त्र ाम से अभिहित किया जाता है। मन्त्र का सङ्कलन संहिताओं में किया गया है। ब्राह्मण ो ग्रन्थविशेष अभिप्रेत है। बृह् वर्धने धातु से निष्पन्न ब्रह्मन् शब्द का अर्थ है– वर्धन, वेस्तार या यज्ञ। अत: यज्ञ की विविध क्रियाओं को बतलाने वाले ग्रन्थ सामान्य रूप ो ब्राह्मण कहे जाते हैं। ब्राह्मण के तीन भाग है– ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्। इस ाकार वेद के अन्तर्गत संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् समाहित होते हैं। ेदाङ्ग वेद के उपकारक हैं। अत: वैदिक वाङ्मय में उनका भी समाहार किया जाता है।

विद् ज्ञाने धातु से घञ् प्रत्यय लगकर निष्पन्न वेद शब्द का अर्थ है– ज्ञान। किन्तु ाभी ज्ञान की वेद संज्ञा नहीं है। सायण के अनुसर 'इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिक-ुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेद:' अर्थात् जो ग्रन्थ इष्ट की प्राप्ति तथा अनिष्ट-वस्तु के ारिहार के कारणभूत अलौकिक उपाय को बतलाता है, वह वेद है। आचार्य विष्णुमित्र के अनुसार 'विद्यते ज्ञायते लभ्यते धर्मादिपुरुषार्थ इति वेद' अर्थात् जिसके द्वारा धर्मादि ारों पुरुषार्थ प्राप्त किये जाते हैं, वह ज्ञान वेद कहलाता है। यद्यपि वेद ज्ञानार्थक है केन्तु उसका अभिधान संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् के लिए किया गया है। तदुपकारक होने के कारण वेदाङ्ग भी वैदिक वाङ्मय में समाहित हैं।

१.१.१ चार वेद—

मन्त्रों के समूह का नाम संहिता है। पहले वेद एक ही था। यज्ञ के अनुष्ठान को ृष्टि में रखकर भिन्न-भिन्न ऋत्विजों के उपयोग के लिए वेदव्यास ने वेद का चतुर्धा वेभाजन किया। ऋत्विक् होता के लिए उपयोगी मन्त्रों का सङ्कलन ऋग्वेदसंहिता में, अध्वर्यु ऋत्विक् के लिए उपयोगी मन्त्रों का सङ्कलन यजुर्वेद संहिता में, उद्गाता ऋत्विक् के लिए सामवेद-संहिता में तथा ब्रह्मा ऋत्विक् के लिए उपयोगी मन्त्रों का सङ्कलन अथर्ववेद-संहिता में किया और इनको क्रमश: पैल, वैशम्यायन, सुमन्तु और जैमिनि को ाढ़ाया।

१.१.२ चार ऋत्विक्—

वस्तुत: यज्ञ के लिए चार ऋत्विजों की आवश्यकता होती है– होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा। (१) **हौत्रकर्म** का सम्पादन **होता** नामक ऋत्विक् करता है जो ऋग्वेद की ऋचाओं का पाठ करके उपयुक्त देवताओं को यज्ञ में आह्वान करने का कार्य करता है। वह 'याज्या' तथा अनुवाक्या ऋचाओं का पाठ करता है जिसका पारिभाषिक नाम है– शस्त्र। (२) **अध्वर्यु** यज्ञ के मुख्य कर्मों का निष्पादक प्रधान ऋत्विक् होता है। उसी के विशिष्ट कर्म के लिए यजुर्वेद की संहिता सङ्कलित की गयी। (३) **उद्गाता** तत्तत् देवताओं की स्तुति में सामवेद की संहिता के मन्त्रों का गायन करता है जिसका पारिभाषिक नाम स्तोत्र है। (४) **ब्रह्मा** ऋत्विक् का कार्य यज्ञ की बाहरी विघ्नों से रक्षा करना, स्वरों में सामान्य त्रुटियों का परिमार्जन करना तथा यज्ञीय अनुष्ठानों में उत्पन्न होने वाले अनेक प्रकार के दोषों के लिए प्रायश्चित का विधान करना है। इसीलिए ब्रह्मा यज्ञ का अध्यक्ष होता है जिसका कार्य यागीय अनुष्ठानों का पूर्णरूपेण निरीक्षण तथा त्रुटिमार्जन करना होता है। यज्ञ निरीक्षण का प्रधान उत्तरदायित्व सम्भालने वाला ब्रह्मा वेदत्रयी का ज्ञाता होता है परन्तु उसका विशिष्ट वेद अथर्ववेद ही है।

१.१.३ वेदत्रयी—

ऋक्, यजु: और साम– इस स्वरूप के भेद से वेद का त्रिधा विभाजन हुआ है।

'तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था' (जै०सू० २.१.३५) अर्थात् जिन मन्त्रों में अर्थवशात् पादों की व्यवस्था होती है, उन छन्दोबद्ध मन्त्रों को ऋक् या ऋचा कहा जाता है। **'गीतीषु सामाख्या'** (जै०सू० २.१.३६) अर्थात् इन ऋचाओं पर जो गायन गाये जाते हैं, उन गीतिरूप मन्त्रों को साम कहते हैं। **'शेषे यजुः शब्दः'** (जै०सू० २.१.३७) इन ऋचाओं और सामों से अन्य मन्त्रों को यजुष् कहा गया है। **'गद्यात्मको यजुः'** के अनुसार यजुष् गद्यात्मक होते हैं। इस प्रकार मन्त्रों की रचना तीन विधाओं में हुई है– ऋक्, यजुष्, और सामन्। इन्हीं के आधार वेद को ऋक्, यजुः, साम– इन तीन भागों में विभक्त किया गया है। ऋग्वेद ऋचात्मक, सामवेद सामात्मक (गेयात्मक) और यजुर्वेद यजुषात्मक (गद्यात्मक) हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि अथर्ववेद वेदत्रयी के अन्तर्गत नहीं है। वस्तुतः अथर्ववेद के मन्त्रों का छन्दोबद्ध भाग ऋक् (ऋचा) और गद्यात्मक भाग यजुष् के अन्तर्गत समाहित है।

१.२ वेद के विभाग

सभी वेदों के मुख्य चार विभाग हैं– (१) संहिता (२) ब्राह्मण (३) अरण्यक (४) उपनिषद्। यहाँ संहिता का अर्थ है– वह ग्रन्थ जिसमें वेदमन्त्र सङ्कलित किये गये हैं। ऋक्, यजुष्, साम तथा अथर्व (अथर्वन्) रूपात्मक मन्त्रों के चारों सङ्कलन, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ही संहिता के नाम से कहे जाते हैं।

१.२.१ संहिता—

संहिता-ग्रन्थों की संख्या चार है। जिस ग्रन्थ में विभिन्न ऋषियों द्वारा दृष्ट-ऋक् मन्त्रों का सङ्कलन किया गया है, उसे ऋग्वेद-संहिता; जिस ग्रन्थ में यज्ञ-यागादि में प्रयुक्त होने वाले यजुष् मन्त्रों का सङ्कलन किया गया उसे यजुर्वेद-संहिता, जिस ग्रन्थ में यज्ञ-यागादि में गाये जाने वाले साममन्त्रों का सङ्कलन हुआ है, उसे सामवेद-संहिता एवं शान्तिक तथा पौष्टिक कार्यों से सम्बन्धित मन्त्रों का जो सङ्कलन तैयार किया गया, उसे अथर्ववेद-संहिता कहा गया। यद्यपि ऋक्-लक्षण पद्यात्मक मन्त्र चारों संहिताओं में प्राप्त होते हैं, फिर भी जिस सङ्कलन में केवल ऋक्मन्त्रों (ऋचाओं) का ही सङ्कलन है, उसे ऋग्वेद-संहिता कहते हैं। जिस सङ्कलन में यजुष् मन्त्रों की अधिकता है और साथ ही कतिपय ऋक्-लक्षणयुक्त मन्त्र भी गद्य रूप में पढ़े जाते हों, वह सङ्कलन यजुर्वेद-संहिता कहलाता है। इसी प्रकार स्तोम एवं गान के आधारभूत कतिपय ऋचाओं एवं स्तोम-लक्षण कतिपय मन्त्रों के साथ ही उसमें 'साम' का ही सङ्कलन प्राधान्य प्राप्त कर चुका है, उसे सामवेद-संहिता कहते हैं। इस प्रकार पद्य, गद्य एवं साम के आधार पर जो संहिताएँ सङ्कलित की गयीं उनका नामकरण तो हो गया, परन्तु अन्य सङ्कलन का नामकरण क्या हो, इस समस्या का समाधान उन मन्त्रों के द्रष्टा अथर्वा और अङ्गिरस ऋषियों के नाम से 'अथर्वाङ्गिरस् संहिता' अथवा अथर्ववेद-संहिता नाम रखकर कर लिया गया है।

१.२.२ ब्राह्मण—

संहितागत मन्त्रों के व्याख्यापरक ग्रन्थ ब्राह्मण कहलाते हैं। इन ग्रन्थों में संहितागत मन्त्रों की व्याख्या के साथ ही उनका विविध याज्ञिक कर्मों में विनियोग भी बतलाया गया है। 'ब्रह्म' शब्द के अनेक अर्थ हैं, जिनमें 'मन्त्र' और 'यज्ञ' अर्थ अपना विशिष्ट महत्त्व रखते हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों में मन्त्रों की व्याख्या के साथ ही साथ यज्ञीय कर्मकाण्ड की

व्याख्या तथा उनका सम्पूर्ण विवरण प्रस्तुत करना मुख्य उद्देश्य समझा गया है। इस प्रकार ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञों की वैज्ञानिक आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक मीमांसा प्रस्तुत की गयी है। विश्व-साहित्य में गद्य का आविर्भाव तो यजुर्वेद से ही हो गया था परन्तु उसे परिष्कार मिला है ब्राह्मणग्रन्थों में। ब्राह्मण-ग्रन्थों में विविध प्रकार की ललित कथाओं के माध्यम से यज्ञ में होने वाले विविध कर्मकाण्डों का औचित्य समझाने का सफल प्रयास किया गया है। सभी ब्राह्मण-ग्रन्थ गद्यमय हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञ का विधान कब किया जाय, कैसे किया जाय, उसमें कौन-कौन से साधन आवश्यक हैं, उन यज्ञों के अधिकारी कौन हैं इत्यादि विषयों को सुलझाने का प्रयास भी किया गया है। इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रधान विवेच्य विषय है– विधि। स्थान-स्थान पर अनेक आख्यान प्रस्तुत करके यजमानों के अन्त:करण में यज्ञ के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करना भी ब्राह्मण-ग्रन्थों का एक प्रयोजन है। यत्र-तत्र कतिपय शब्दों का निर्वचन करके ये ब्राह्मण-ग्रन्थ अपने उद्देश्य-सिद्धि में सफल हुए हैं। सभी संहिताओं के अलग-अलग ब्राह्मण-ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं।

१.२.३ आरण्यक—

जिन ग्रन्थों का प्रणयन विशेष रूप से अरण्य में पढ़ने के लिए किया गया था वे आरण्यक कहलाये। आरण्यक-ग्रन्थों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय यज्ञ न होकर उनके अन्तर्गत विद्यमान आध्यात्मिक तथा दार्शनिक तत्त्वों की मीमांसा है। प्राणविद्या की भी महत्ता इन आरण्यक ग्रन्थों में प्रतिपादित की गयी है। आरण्यक एवं उपनिषद् ग्रन्थों को ब्राह्मणग्रन्थों का परिशिष्ट भी कह सकते हैं।

१.२.४ उपनिषद्—

भारतीय आध्यात्मिक ज्ञान-धारा को सरल प्रवाही रूप में प्रस्फुटित करने का गौरव उपनिषद्-साहित्य को ही प्राप्त हुआ है। वेद का अन्तिम भाग होने से एवं संहिता-ब्राह्मण आदि ग्रन्थों के सारभूत तत्त्वज्ञान का प्रतिपादन करने के कारण ही उपनिषदों को वेदान्त भी कहते हैं। उपनिषदों की गणना प्रस्थानत्रयी में की जाती है। गीता तथा ब्रह्मसूत्र के उपजीव्य ग्रन्थ उपनिषद् ही हैं। उपनिषद्-वाङ्मय भारतीय-संस्कृति के आध्यात्मिक चिन्तन का चरम निदर्शन है। दाराशिकोह जैसे इस्लाम धर्म के अनुयायियों ने भी उपनिषदों को अपने अध्ययन का प्रधान विषय बनाया है। पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में तो उपनिषद् विश्व के अध्यात्म-गुरु का स्थान प्राप्त कर चुके हैं।

वेदों के उपर्युक्त चतुर्धा विभाग का एक विशेष कारण भी है। भारतीय संस्कृति के अनुसार हमारा सम्पूर्ण जीवन चार आश्रमों में विभाजित था– (१) ब्रह्मचर्य, (२) गृहस्थ, (३) वानप्रस्थ एवं (४) संन्यास। इन आश्रमों का वर्ष-विभाजन भी किया गया था। सामान्यत: प्रारम्भ से २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य आश्रम, उसके बाद ५० वर्ष की अवस्था तक गृहस्थाश्रम तत्पश्चात् ७५ वर्ष की अवस्था तक वानप्रस्थ आश्रम और शेष आयु संन्यास आश्रम में व्यतीत करने का विधान था। ब्रह्मचर्य आश्रम में संहिता-ग्रन्थों का पढ़ना एवं कण्ठाग्र करना विहित था। गृहस्थाश्रम में ब्राह्मण-ग्रन्थों का अध्ययन करते हुए यज्ञ-यागादि करने का विधान था। वानप्रस्थाश्रम में पति-पत्नी को पुत्रों पर परिवार का भार सौंपकर जङ्गल में जाकर आरण्यक-ग्रन्थों का अध्ययन एवं तदनुरूप कार्य करना पड़ता था। जीवन की अन्तिम अवस्था में संन्यास ग्रहण करके केवल आध्यात्मिक सुधा-धारा

का पान करने के लिए उपनिषदों का अध्ययन, मनन एवं प्रवचन करते हुए लोकोपकार करने का विधान था।

१.३ संहिता-ग्रन्थ

१.३.१ ऋग्वेद-संहिता—

'ऋग्वेद' सूक्तों का वेद है। सूक्त का अर्थ है– सुभाषित या उत्तम वचन अर्थात् जिन मन्त्रों में उत्तम वचन होते हैं, उनके समूह को सूक्त कहा गया है। वैदिक साहित्य की समस्त रचनाओं में ऋग्वेदसंहिता सर्वाधिक प्राचीन, महत्त्वपूर्ण तथा मौलिक है। इसमें किसी भी विद्वान् को किञ्चिन्मात्र भी विप्रतिपत्ति नहीं है; क्योंकि लगभग सम्पूर्ण सामवेद (७५ मन्त्रों को छोड़कर) और यजुर्वेद का पद्यात्मक अंश तथा अथर्ववेद के कतिपय अंश ऋग्वेद से ही लिये गये हैं। ऋग्वेद-संहिता को संक्षेप में 'ऋग्वेद' भी कहते हैं। इसका कारण यह है कि सम्पूर्ण ग्रन्थ छान्दोबद्ध है। छन्दोबद्ध या पद्यात्मक मन्त्रों को 'ऋक्' या 'ऋचा' कहते हैं। ऋचाओं का विशाल संग्रह ही ऋग्वेद संहिता है।

महाभाष्य में पतञ्जलि ने इस वेद की इक्कीस शाखाओं का निर्देश किया है– **एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्**। किन्तु परवर्ती ग्रन्थों में केवल ५ शाखाओं का ही उल्लेख प्राप्त होताा है। ये शाखाएँ हैं– शाकल, बाष्कल, आश्वलायन, शाङ्खायन और माण्डूकायन। किन्तु सम्प्रति उपलब्ध एवं प्रचलित शाखा 'शाकल' है। इस शाखा की संहिता में कुल मिलाकर १०१७ + ११ (बालखिल्य) = १०२८ सूक्त हैं। इस ग्रन्थ में लगभग १०६०० ऋचाएँ हैं।

१.३.१.१ ऋग्वेद का विभाजन—

ऋग्वेद-संहिता का दो प्रकार से विभाजन किया गया है— अष्टकक्रम और मण्डलक्रम।

(१) अष्टकक्रम— सम्पूर्ण ग्रन्थ आठ अष्टकों में विभक्त किया गया है। प्रत्येक अष्टक में आठ अध्याय हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थ ६४ अध्यायों में विभक्त है। प्रत्येक अध्याय अवान्तर विभागों में विभाजित है जिसे वर्ग कहा जाता है। वर्ग ऋचाओं के समुदाय का नाम है। वर्ग में ऋचाओं की संख्या निश्चित नहीं है। ऋग्वेद में वर्गों की कुल संख्या २००६ है।

(२) मण्डलक्रम— ऋग्वेद १० मण्डलों में विभक्त है। प्रत्येक मण्डल में अनेक सूक्त और सूक्तों के अन्तर्गत मन्त्र (ऋचाएँ) हैं। ऋग्वेद का यह विभाग अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। १० मण्डलों में विभक्त होने के कारण ऋग्वेद को 'दशतयी' भी कहा जाता है। ऋग्वेद में कुल ५८ अनुवाक, १०१७ सूक्त हैं। इन सूक्तों के अतिरिक्त ११ सूक्त बालखिल्य के नाम से प्रसिद्ध हैं। ऋग्वेद में कुल १०५८० ऋचाएँ हैं और ऋचाओं में कुल शब्दों की संख्या १५३८२६ तथा अक्षरों की संख्या ४३२०००० है। यह [illegible] कात्यायन की ऋक्सर्वानुक्रमणी के आधार पर की गयी है।

ऋग्वेद की भाषा तथा विषय के गम्भीर विवेचन के उपरान्त विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि ऋग्वेद के दूसरे मण्डल से सातवें मण्डल तक के सूक्त अपेक्षाकृत प्राचीन हैं। विद्वान् इस अंश को 'वंश-मण्डल' के नाम से अभिहित करते हैं। इनमें प्रत्येक मण्डल का सम्बन्ध एक-एक ऋषि के साथ है। द्वितीय मण्डल के ऋषि गृत्समद, तृतीय के

मित्र, चतुर्थ के वामदेव, पंचम के अत्रि, षष्ठ के भरद्वाज और सप्तम मण्डल के ऋषि ठ हैं। नवम मण्डल के ऋषि इन्हीं ऋषियों में से हैं। प्रथम और अष्टम मण्डल ालीन प्रतीत होता है। दशम मण्डल सर्वाधिक अर्वाचीन है; क्योंकि इस मण्डल के में स्थान-स्थान पर मण्डलों के सूक्तों का उल्लेख प्राप्त होता है। भाषा की दृष्टि से स मण्डल को अन्य मण्डलों से अर्वाचीन सिद्ध किया जाता है।

१.३.१.१ ऋग्वेद का प्रतिपाद्य—

ऋग्वेद का अर्थ है– ऋचाओं का वेद। छन्दोबद्ध मन्त्रों का ही नाम ऋक् या ऋचा ेद का अर्थ ज्ञान है। अत: ऋग्वेद का शाब्दिक अर्थ हुआ– ऋचाओं का ज्ञान। अन्य वेदों में भी ऋचाओं का सङ्कलन हुआ है परन्तु ऋग्वेद में केवल ऋचाओं का ङ्कलन है। ऋचाओं से देवताओं की स्तुति की जाती है। इस प्रकार ऋग्वेद के मन्त्रों ढ़कर देवताओं की स्तुति करना ही इस वेद का मुख्य प्रयोजन है। किन्तु ऋग्वेद ास्तुति के साथ ही साथ ब्रह्मविद्या, धार्मिक विचार, व्यवहार एवं मान्य-ताओं के ूत्र भी प्राप्त होते हैं। इनके अतिरिक्त तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक ार्मिक दशाओं पर भी पर्याप्त प्रकाश ऋग्वेद के अध्ययन से पड़ता है। ऋग्वेद में रचना, दार्शनिक विचार, वैवाहिक-रीति-रिवाज, पशु-पक्षी तथा वृक्षों आदि से कुछ मन्त्र भी मिलते हैं। ऋग्वेद में कुछ संवाद सूक्त भी उपलब्ध होते हैं।

म्पूर्ण ऋग्वेद में मात्र ४० सूक्त इस प्रकार के उपलब्ध होते हैं, जिनमें उपरिकथित अनुस्यूत हैं, अन्यथा ऋग्वेद देवताओं की स्तुतिओं से सम्बन्धित मन्त्रों से परिपूर्ण है।

ग्वेद में हिन्दू धर्म के सभी तत्त्व मूलरूप में विद्यमान हैं। ऋग्वेद वस्तुत: हिन्दू धर्म र्शन की आधारशिला है। भारतीय कला एवं विज्ञान के उदय का सङ्केत भी यहीं त होता है। विश्व के मूल में रहकर विश्व को नियन्त्रित करने वाली मूलसत्ता के व्यक्त अव्यक्त रूप में विश्वास, मन्त्र, यज्ञ आदि से अनेक पूजन, यजन और मौलिक तत्त्व ऋग्वेद में पाये जाते हैं। इसी प्रकार तत्त्वों की जिज्ञासा, तत्त्वों के रूपकात्मक मानवजीवन की आकाङ्क्षाओं, आदर्शों तथा मान्यताओं आदि पर ऋग्वेद के न से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। दर्शन की मूल समस्याओं-ब्रह्म, आत्मा, माया, ुनर्जन्म आदि के ज्ञान के स्रोत भी ऋग्वेद में प्राप्त हो जाते हैं। देववाद, ाद, सर्वेश्वरवाद, अद्वैतवाद आदि दार्शनिक वादों का बीज भी ऋग्वेद में ही यी पड़ता है।

२ यजुर्वेद-संहिता—

जस वेद में 'यजुषो' का सङ्कलन है उसे यजुर्वेद कहा जाता है। 'यजुष्' का अर्थ ात्मक मन्त्र। 'गद्यात्मको यजु:' या 'अनियताक्षरावसानो यजु:' ये वाक्य 'यजुष्' ण निर्दिष्ट करते हैं। यद्यपि इस वेद में भी ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों का सङ्कलन है मन्त्र कहीं-कहीं किञ्चित् परिवर्तन के साथ भी ग्रहण किये गये हैं। यह ग्रन्थ न्थ' है जो पौरोहित्य प्रणाली में यज्ञक्रिया को सम्पन्न करने के लिए संगृहीत हुआ तिग्रन्थ' होने के कारण यह अध्ययन का सुप्रचलित विषय बन गया है। इसकी ाखाओं का सङ्केत प्राप्त होता है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने 'एकशतमध्वर्युशाखा' इसके १०१ शाखाओं की ओर सङ्केत किया है। यजुर्वेद में मानवमात्र को म कार्यों में प्रवृत्त कराने वाले मन्त्र सङ्कलित है।

१.३.२.१ यजुर्वेद के सम्प्रदाय—

यजुर्वेद के दो सम्प्रदाय हैं– शुक्ल-यजुस्सम्प्रदाय और कृष्ण-यजुस्सम्प्रदाय। शुक्ल- यजुस्सम्प्रदाय का प्रतिनिधि शुक्ल-यजुर्वेद तथा कृष्णयजुस्सम्प्रदाय का प्रतिनिधि कृष्णयजुर्वेद है।

कृष्ण-यजुर्वेद से सम्बन्धित ४ शाखाओं के नामों का उल्लेख प्राप्त होता है– कठ, कपिष्ठल, मैत्रायणी एवं तैत्तिरीय। शुक्लयजुर्वेद की माध्यन्दिन और काण्व दो शाखाएँ उपलब्ध हैं। इस प्रकार विद्वानों ने यजुर्वेद के दो भेद स्वीकार किये हैं। अब संक्षेप में इनका निरूपण किया जा रहा है—

१. शुक्लयजुर्वेद-संहिता अधिक क्रमबद्ध होने से शुक्ल कहलाती है। २. इस संहिता में ब्राह्मणात्मक गद्य का सर्वथा अभाव है। दूसरी ओर कृष्ण-यजुर्वेद में मन्त्रात्मक गद्य-पद्य के साथ ही साथ ब्राह्मणात्मक गद्य का भी पर्याप्त समावेश है। मन्त्र और ब्राह्मण के सम्मिश्रण के कारण यजुर्वेद का एक भेद 'कृष्ण' तथा सम्मिश्रण से रहित शुद्ध मन्त्र होने के कारण द्वितीय भेद 'शुक्ल' नाम से अभिहित हुआ।

१.३.२.२ शुक्लयजुर्वेद—

शुक्ल-यजुर्वेद की संहिता का नाम है– 'वाजसनेयिसंहिता'। परम्परानुसार मध्य दिन में इनका ज्ञान दिये जाने के कारण माध्यन्दिन-संहिता भी इस संहिता को कहा जाता है। यजुर्वेद में यजुषों का सङ्कलन है। 'यजुष्' का शाब्दिक अर्थ है– यज्ञ, पूजा, श्रद्धा, आदर आदि। इस प्रकार वेद का वह भाग जिसका सम्बन्ध यज्ञ, पूजा आदि से है 'यजुष्' कहलाता है। इस वेद के मन्त्रों का पाठ यज्ञ में 'अध्वर्यु' संज्ञक पुरोहित करता है। इसकी वाजसनेयि-संहिता में चालीस अध्याय हैं। प्रारम्भिक २५ अध्याय विषयवस्तु की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। प्रथम एवं द्वितीय अध्याय में 'दर्श' एवं 'पौर्णमास' यज्ञ के मन्त्र सङ्कलित हैं। तृतीय अध्याय में दैनिक 'अग्निहोत्र' तथा 'चातुर्मास्य' यज्ञ के मन्त्रों का संग्रह है। चतुर्थ से अष्टम अध्याय पर्यन्त 'अग्निष्टोमादि' सोमयज्ञों एवं पशुबलि से सम्बन्धित मन्त्र प्राप्त होते हैं। कतिपय एक दिन में समाप्त होने वाले यज्ञ भी सोमयज्ञ की परम्परा में प्राप्त हैं। इनमें 'वाजपेय' सर्वप्रधान है। इस यज्ञ का सम्पादन राजा अथवा योद्धा लोग करते थे। सोमयज्ञों की ही परम्परा में राजाओं द्वारा सम्पाद्य 'राजसूय यज्ञ' भी है। उपर्युक्त दो प्रकार की प्रार्थनाएँ वाजसनेयि-संहिता के नवम तथा दशम अध्याय में की गयी है। एकादश से अष्टादश अध्याय तक अग्निचयन के लिए की जाने वाली प्रार्थनाओं तथा विविध याज्ञिक नियमों का संग्रह है। 'अग्निचयन' के निमित्त निर्मित होने वाली 'अग्निवेदिका' का भी वर्णन इसमें प्राप्त होता है। उन्नीसवें तथा बीसवें अध्याय में 'सौत्रामणि उत्सव' के प्रयोग से सम्बन्धित मन्त्रों का सङ्कलन है। इक्कीसवें से पच्चीसवें अध्याय तक अश्वमेध' यज्ञ की प्रार्थनाओं का संग्रह किया गया है। छब्बीस से चालीस तक की रचना अपेक्षाकृत अर्वाचीन है, ऐसा पाश्चात्य विद्वानों का मत है। इसमें छब्बीस से पैंतीस अध्याय तक 'खिल-सूक्त' हैं। 'खिल' का अर्थ 'परिशिष्ट' है। ३०वें अध्याय में यद्यपि किसी प्रकार की प्रार्थना नहीं है तथापि पुरुषमेध यज्ञ का वर्णन इसी अध्याय में है। पुरुषमेध यज्ञ में बलि के उपयुक्त व्यक्तियों की गणना करायी गयी है। ३१वें अध्याय भी इसी प्रकार का है। इसी में ऋग्वेद का प्रसिद्ध पुरुषसूक्त सङ्कलित है। ३२वें अध्याय से ३४वें अध्याय में अन्त्येष्टि क्रिया से सम्बद्ध ऋचाएँ हैं। ३६वें से ३९ अध्याय तक 'प्रवर्ग्य यज्ञोत्सव' की प्रार्थनाएँ सङ्कलित हैं। ४०वाँ अध्याय प्रसिद्ध उपनिषद् 'ईशावास्योपनिषद्' के नाम से विख्यात है।

१.३.२.३. कृष्णयजुर्वेद-संहिता—

मन्त्रब्राह्मणात्मक कृष्णयजुर्वेद में कुल १८००० मन्त्र मिलते हैं। तैत्तिरीय संहिता ही ो प्रधान संहिता है जिसमें ७ अष्टक हैं। प्रत्येक अष्टक में ७,८ अध्याय हैं। अध्याय ूसरा नाम 'प्रश्न' तथा अष्टक का दूसरा नाम 'प्रपाठक' भी है। प्रत्येक अध्याय में ह अनुवाक हैं तथा अनुवाकों की सम्पूर्ण संख्या लगभग ७०० है। 'चरणव्यूह' के ार 'कृष्णयजुर्वेद' की ८६ शाखाएँ थीं। 'कृष्णयजुर्वेद'की विषयवस्तु शुक्लयजुर्वेद मलती-जुलती है। अत: उपर्युत विवेचन से ही कृष्णयजुर्वेद का प्रतिपाद्य का भी ास मिल जाता है।

.३ सामवेद-संहिता—

जिस वेद में गेय मन्त्रों का विशिष्ट प्रकार से सङ्कलन किया गया है उसे सामवेद कहा है। सामवेद का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए 'बृहद्देवता' नामक ग्रन्थ में कहा गया 'सामानि यो वेत्ति स वेद तत्त्वम्'। अर्थात् जो व्यक्ति साम को जानता है, वही वेद त्त्व का ज्ञान है। गीता में भी भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं को 'सामवेद स्वरूप' कहा वेदानां 'सामवेदोऽस्मि'।

अनेक ग्रन्थों में 'साम' शब्द का प्रयोग ऋचाओं के ऊपर गाये जाने वाले 'गान' के प्राप्त होता है तथा ऋग्वेद के मन्त्रों के लिए भी इस शब्द का प्रयोग यत्र-तत्र प्राप्त है। सामवेद के मन्त्रों को यज्ञ के अवसर पर 'उद्गाता' नामक पुरोहित तार स्वर से श्यकतानुसार गान करता है।

१.३.३.१ शाखाएँ—

सामवेद में ७५ मन्त्रों को छोड़कर सभी मन्त्र ऋग्वेद से लिये गये हैं। भारतीय नों के अनुसार सामवेद की एक हजार शाखायें थीं। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने त्रवर्त्मा सामवेद:' कहा है। 'चरणव्यूह' में शौनक सामवेद के १००० शाखाओं को ष्ट करते हैं जिनमें से अनेक शाखाएँ अनध्याय के समय पढ़े जाने के कारण इन्द्र द्वारा हार करके नष्ट कर डाली गयीं– **सामवेदस्य किल सहस्र भेदाः भवन्ति एष यायेषु अधीयानः ते शतक्रतुः वज्रेणाभिहतः**। सम्प्रति इन शाखाओं में से आसुरायणीय, ायणीय, वार्त्तान्तवेय, प्राञ्जल, ऋग्वर्णभेदा, प्राचीनयोग्य, ज्ञानयोग्य तथा राणायनीय : नामों का ही उल्लेख मिलता है।

सामवेद के पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक दो भाग हैं। इनमें प्राप्त होने वाली (७५ मन्त्रों छोड़कर) सभी ऋचाएँ ऋग्वेद से ली गयी हैं। इन ऋचाओं को पृथक् करने पर ओं की वास्तविक संख्या १५४९ रहती है। ७५ को छोड़कर शेष सभी ऋचाएँ द-संहिता के अष्टम एवं नमव मण्डल से ली गयी हैं। इन ऋचाओं की रचना गायत्री प्रगाथ छन्द में हुई है।

सामवेद-संहिता के पूर्वार्चिक में ६५० ऋचाएँ हैं। इसमें ६ प्रपाठक हैं। प्रथम क में अग्नि-विषयक ऋचाओं का संग्रह है अत: इसे 'आग्नेयकाण्ड' कहते हैं। य से चतुर्थ प्रपाठक तक 'ऐन्द्रपर्व' कहा जाता है यहाँ पर इन्द्र से सम्बन्धित ऋचाएँ पञ्चम प्रपाठक में सोमपरक ऋचाएँ हैं अत: इसे 'पवमानपर्व' कहा गया है। छठाँ क आरण्यकपर्व के नाम से प्रसिद्ध है।

आचार्य जैमिनि गीति (गेयता) को ही साम मानते हैं। गीति के प्राण हैं– स्वर। ओं को सामगान तथा मूलाधार या योनि कहा गया है।

सामवेदीय ऋचाओं को संगीतमय करने के लिए कतिपय शब्दों को जोड़ा जाता है, इन्हें 'स्तोभ' कहा गया है। कतिपय 'स्तोभ' शब्द इस प्रकार है– हाऊ, औ, हो, होई। ये स्तोभ उसी प्रकार कार्य करते हैं जैसे संगीतज्ञ आलाप के लिए कुछ शब्दों का उच्चारण करता है। इन्हें सामविकार भी कहा गया है। ये विकार ६ प्रकार के हैं– विकार, विश्लेषण, विकर्षण, अभ्यास, विराम तथा स्तोभ।

१.३.४ अथर्ववेद-संहिता—

सम्पूर्ण अथर्वसंहिता में बीस काण्ड हैं। सभी काण्डों को ३८ प्रपाठकों में विभक्त किया गया है। इसमें ७६० सूक्त और लगभग ६००० मन्त्र हैं। किसी-किसी शाखा से सम्बन्धित संहिता में अनुवाकों के आधार पर भी विभाग प्राप्त होते हैं। अनुवाकों की संख्या ८० है।

प्रथम काण्ड से लेकर सातवें काण्ड तक मन्त्रों का क्रम विषयानुकूल नहीं है। केवल मन्त्रों की संख्या के अनुसार सूक्तों का क्रम बाँधा गया है। प्रथम काण्ड में चार-चार मन्त्रों का क्रम है। दूसरे में पाँच-पाँच का, तीसरे में छः-छः का, चौथे में सात-सात का परन्तु पाँचवें में आठ से अठारह मन्त्रों का क्रम है। छठें में तीन-तीन का क्रम है। सातवें में बहुत से अकेले मन्त्र हैं और ग्यारह-ग्यारह मन्त्रों तक का भी समावेश है। आठवें से लेकर बीसवें काण्ड तक लम्बे-लम्बे सूक्त हैं जो संख्या में पचास, साठ, सत्तर तथा अस्सी तक चले गये हैं।

अथर्ववेद के तेरहवें काण्ड तक विषयों का कोई क्रम निश्चित नहीं है। उनमें विशेष रूप से प्रार्थनाएँ हैं, मन्त्र हैं और प्रयोग तथा विधियाँ हैं। इन विधियों और प्रयोगों से सब तरह के भूत-प्रेत, पिशाच, राक्षस, डाकिनी, शाकिनी, वेताल आदि से रक्षा की जाती है। जादू-टोना करने वालों; सर्पों, नागों और हिंसक जन्तुओं से तथा रोगों से बचाव होता है। मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदि प्रयोगों के लिए भी मन्त्रों का सङ्कलन इसी भाग में हुआ है। चौदहवें काण्ड में विवाह की रीतियों का वर्णन है। पन्द्रहवें, सोलहवें तथा सत्रहवें काण्डों में कतिपय विशिष्ट मन्त्र हैं। अठारहवें में अन्त्येष्टि क्रिया की विधियाँ तथा पितरों के श्राद्ध की रीतियाँ हैं। उन्नीसवें में विविध मन्त्रों का सङ्कलन है। बीसवें में इन्द्र सम्बन्धी सूक्त हैं, जो ऋग्वेद में भी प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि अथर्ववेद शत्रु-विनाश, आत्मरक्षा तथा विपद्निवारण आदि कार्यों के मन्त्रों से भरा पड़ा है। वर्तमान तान्त्रिक प्रयोगों का उद्भव भी इसी वेद से हुआ है। सृष्टि-प्रक्रिया तथा ब्रह्मविद्या से सम्बन्धित अनेक रहस्यपूर्ण तथ्य भी इस वेद में यत्र-तत्र प्राप्त होते हैं जिनका और विकास आगे चलकर ब्राह्मण ग्रन्थों तथा उपनिषदों में हुआ।

१.४ ब्राह्मण-ग्रन्थ

वैदिक साहित्य में संहिताओं के पश्चात् ब्राह्मण-ग्रन्थों का स्थान आता है। ये ग्रन्थ वैदिक साहित्य के अभिन्न अङ्ग माने जाते हैं। 'ब्रह्म' का अर्थ है मन्त्र, यज्ञ आदि। वैदिक साहित्य का वह भाग जो विविध वैदिक यज्ञों के लिए वेद-मन्त्रों के प्रयोग के नियमों, उनकी उत्पत्ति, विवरण व्याख्या आदि प्रस्तुत करना है और जिसमें स्थान-स्थान पर सुविस्तृत दृष्टान्तों के रूप में परम्परागत कथाओं का समावेश है 'ब्राह्मण' कहलाता है–

'ब्राह्मणं नाम कर्मणस्तन्मन्त्राणां च व्याख्यानग्रन्थः ।'

वास्तव में यज्ञ-विज्ञान का गम्भीर विवेचन करने वाले ग्रन्थ ही 'ब्राह्मण' कहलाते हैं। अनेक वैदिक विद्वान् ब्राह्मण-ग्रन्थों को भी 'वेद' कहते हैं- **मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्** अर्थात् मन्त्र और ब्राह्मण भाग का सामूहिक नाम 'वेद' है। शबरस्वामी ने ब्राह्मग्रन्थों की विषय-सामग्री को इस प्रकार बतलाया है—

हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः ।
परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारणकल्पना ।
उपमानं दशैते तु विषया ब्राह्मणस्य च ।। —शाबर-भाष्य २.१.८

अर्थात् यज्ञ क्यों किए जाँय, कब किए जाँय, किन साधनों से किए जाँय, यज्ञ के अधिकारी कौन हैं, कौन नहीं है, इत्यादि विभिन्न विषयों का निर्देश इन ब्राह्मणग्रन्थों में किया गया है।

ब्राह्मण-ग्रन्थ के वर्ण्यविषय को चार भागों में बाँटा जा सकता है- १. विधिभाग २. अर्थवादभाग ३. उपनिषद्भाग तथा ४. आख्यानभाग। **विधिभाग** में यज्ञों के विधानों का वर्णन है। इसमें यज्ञीय कर्मों का अर्थ तथा अनेक शब्दों की व्युत्पत्ति बतलायी गयी है। **अर्थवादभाग** में यज्ञों के माहात्म्य को समझाने के लिए प्ररोचनात्मक विषयों का समावेश है। इसमें यज्ञीय कार्यों के समर्थन में सुन्दर-सुन्दर कथाएँ कही गयी हैं। मीमांसाकार जैमिनी ने अर्थवाद के भी तीन भेद बतलाये हैं- गुणवाद, अनुवाद और भूतार्थवाद। ब्राह्मणग्रन्थों के उपनिषद्भाग में ब्रह्मतत्त्व का विवेचन है। इसमें रमणीय कथाओं के माध्यम से आत्मा, जीव एवं जगत् से सम्बन्धित विषयों का मनोहारी वर्णन है। आख्यानभाग में प्राचीन ऋषिवंशों, आचार्यवंशों तथा राजवंशों की कथाएँ वर्णित हैं।

प्रत्येक वेद से सम्बन्धित ब्राह्मणग्रन्थ प्राप्त होते हैं। अब क्रमशः इनका संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है—

१.४.१ ऋग्वेद के ब्राह्मण ग्रन्थ—

ऋग्वेद के दो ब्राह्मण ग्रन्थ प्राप्त होते हैं- (१) ऐतरेयब्राह्मण (२) कौषीतकि ब्राह्मण।

१.४.१.१ ऐतरेय-ब्राह्मण—

ऐतरेय-ब्राह्मण सभी दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ में चालीस अध्याय हैं। पाँच-पाँच अध्यायों की आठ पञ्चिकाएँ हैं। इनके रचयिता 'महीदास ऐतरेय' हैं, इनका जन्म इतरा नामक दासी से हुआ था। इसमें सामयज्ञ का विस्तार पूर्वक-वर्णन मिलता है। प्रारम्भिक सोलह अध्यायों में एक दिन में समाप्त होने वाले 'अग्निष्टोम-संज्ञक सोमयज्ञ का वर्णन हैं। १७वें तथा अठारहवें अध्यायों में एक दिन में समाप्त होने वाले 'अग्निष्टोम' संज्ञक सोमयज्ञ का वर्णन हैं। १७वें तथा अठारहवें अध्यायों में तीन सौ साठ दिनों में समाप्त होने वाले 'गवामयन' संज्ञक सोमयज्ञ का वर्णन है। उन्नीसवें अध्याय से चौबीसवें अध्याय तक बारह दिन में पूर्ण होने वाले 'द्वादशाह' संज्ञक सोमयाग का वर्णन प्राप्त होता है। अवशिष्ट सोलह अध्यायों में अग्निष्टोम यज्ञ तथा कतिपय अन्य विषयों का समावेश है। इस ब्राह्मण के तेईस से चालीसवें अध्याय तक राजपुरोहित तथा राज्याभिषेक आदि की विधियों का भी वर्णन है।

१.४.१.२ कौषीतकिब्राह्मण—

'कौषीतकि ब्राह्मण' का दूसरा नाम 'शांखायनब्राह्मण' भी है। यह ब्राह्मण ऐतरेयब्राह्मण के प्रारम्भिक पाँच अध्यायों का विकसित रूप ही प्रतीत होता है। इस ब्राह्मण में तीस अध्याय हैं। इसमें कतिपय विशिष्ट आख्यानों की सत्ता भी पायी जाती है। प्रो० बेवर ने 'ईशान' एवं 'महादेव' से सम्बन्धित सूक्तों के आधार पर कहा है कि यह ब्राह्मण शुक्लयजुर्वेद की रचना के अन्तिम काल में रचा गया है। इसी ब्राह्मण की सातवीं पञ्चिका में 'शुन:शेप' आख्यान है जो संक्षेप में इस प्रकार है– राजा हरिश्चन्द्र वरुण देव को प्रसन्न करके एक पुत्र प्राप्त करते हैं। पुत्र का नाम रोहित है। शर्त यह थी कि वरुण जब चाहेंगे अपने पुत्र को वापस माँग लेंगे। पुत्र रोहित जब पूर्ण युवा हो जाता है, वरुण उसे माँगता है, परन्तु राजा 'वरुण' का बलि देना चाहता है। रोहित यह सुनकर जङ्गल में भाग जाता है। इसके पश्चात् राजा को वरुण के शाप से 'जलोदर' का रोग हो जाता है। रोहित इस समाचार को सुनकर लौटना चाहता है किन्तु ब्राह्मण वेषधारी इन्द्र उसे भ्रमण के महत्व को समझाकर लौटने नहीं देता। इस प्रकार वह पाँच वर्षों तक जङ्गल में घूमता रहता है। छठें वर्ष रोहित को 'अजीगर्त' ऋषि अपने तीन पुत्रों- 'शुन:पुच्छ:', 'शुन:शेप', तथा 'शुनोलाङ्गूल', और अपनी पत्नी के साथ मिलते हैं। रोहित एक पुत्र के बदले ऋषि को सौ गायें देने को कहता है। अजीगर्त अपने मध्यम पुत्र 'शुन:शेप' को रोहित के लिए दे देते हैं। वरुण क्षत्रिय 'रोहित' की अपेक्षा ब्राह्मण 'शुन:शेप' को बलि के लिए श्रेष्ठ समझकर स्वीकार कर लेता है। राजसूय यज्ञ में पशु के स्थान पर शुन:शेप की बलि का आयोजन होता है। इसी समय एक समस्या खड़ी हो जाती है कि ब्राह्मणहत्या का पाप अपने सिर पर कौन लेगा? अजीगर्त स्तम्भ में बाँधने के बदले सौ गायें तथा मारने के बदले सौ गायें लेकर उपस्थित हो जाता है। इसी समय शुन:शेप वेदों की शरण में जाकर उनसे प्रार्थना करता है। तीन ऋचाओं में उषा की स्तुति होने पर उसके बन्धन खुल जाते हैं। हरिश्चन्द्र का जलोदर रोग भी ठीक हो जाता है। इसके बाद पुरोहित वर्ग यज्ञमहोत्सव में शुन:शेप का स्वागत करता है। हरिश्चन्द्र यज्ञ के 'होता' बनते हैं तथा अपने सौ पुत्रों की उपेक्षा करके 'शुन:शेप' को पुत्र बनाकर अपना उत्तराधिकारी घोषित करते हैं। इस आख्यान में स्त्री को मित्र, पुत्री को विपत्ति तथा पुत्र को स्वर्गीय कहा गया है।

१.४.२ शुक्ल-यजुर्वेद के ब्राह्मण

१.४.२.१ शतपथब्राह्मण—

शुक्लयजुर्वेद की माध्यन्दिनीय तथा काण्व शाखाओं के अलग-अलग ब्राह्मणग्रन्थ हैं। दोनों ही 'शतपथ' के नाम से विख्यात हैं। माध्यन्दिनशतपथ में सौ तथा काण्वशतपथ में एक सौ चार अध्याय हैं इसीलिए इनका नाम शतपथ है। यह ब्राह्मण विस्तृत एवं सुव्यवस्थित है। माध्यन्दिन-शाखा के ब्राह्मण का विभाजन चौदह काण्डों में हुआ है। इसके प्रारम्भिक नौ काण्डों में वाजसनेयि-संहिता के प्रारम्भिक अठारह अध्यायों की व्याख्या है। इस ब्राह्मण के रचयिता महर्षि याज्ञवल्क्य हैं। दशम काण्ड में अग्निरहस्य का विवेचन है। ग्यारहवें काण्ड में आठ अध्याय हैं। ग्यारहवें से लेकर तेरहवें काण्ड तक उपनयन, स्वाध्याय, अन्त्येष्टि, सर्वमेध आदि का विवेचन है। इसका चौदहवाँ काण्ड आरण्यक है। इसके प्रथम तीन अध्यायों में 'प्रवर्ग्य' उत्सव का वर्णन है। इसी चौदहवें काण्ड के अन्त में 'बृहदारण्यक-उपनिषद्' प्राप्त होता है।

शतपथ-ब्राह्मण में पर्याप्त ऐतिहासिक तथ्यों की उपलब्धि होती है। इसमें अनेक आख्यान प्राप्त होते हैं जिन्हें महाभारत की अनेक कथाओं का स्रोत कहा जा सकता है। रामकथा, कद्रू-सुपर्णा की कथा, पुरूरवा-उर्वशी का प्रेमाख्यान, अश्विनीकुमारों द्वारा

ग्वन ऋषि को यौवनदान आदि कथाएँ शतपथब्राह्मण में उपलब्ध होती हैं। इस प्रकार हा जा सकता है कि संस्कृत-साहित्य के काव्य, नाटक, चम्पू आदि अनेक विधाओं के ्र ब्राह्मणग्रन्थों में विद्यमान है।

.४.३ कृष्णयजुर्वेद का ब्राह्मण

१.४.३.१ तैत्तिरीयब्राह्मण—

यह ब्राह्मण कृष्णयजुर्वेदीय शाखा का एक मात्र ब्राह्मण है। शतपथब्राह्मण के समान इका पाठ स्वरों से युक्त है। परिणामत: अधिक प्राचीन प्रतीत होता है। यह ब्राह्मण तीन ाण्डों में विभक्त है। इसके प्रथम और द्वितीय काण्ड में आठ अध्याय है जो प्रपाठक नाम अभिहित होते हैं तथा तृतीय काण्ड में बारह अध्याय हैं जिनके अवान्तर विभाग नुवाक नाम से प्रसिद्ध है। तैत्तिरीय-ब्राह्मण के प्रथम काण्ड में अग्न्याधान, गवामयन, जपेय, सोम, नक्षत्रेष्टि तथा राजसूय का वर्णन हुआ है। द्वितीय काण्ड में अग्निहोत्र, महोम, सौत्रामणि, बृहस्पतिसव, वैश्वसव इत्यादि अनेक सत्रों का विवेचन हुआ है। त्येक अनुष्ठान के उपयोगी ऋग्-मन्त्रों को निर्दिष्ट किया गया है। नासदीयसूक्त (ऋ० ०.१२९) के मन्त्रों का विनियोग एक सामान्य होम निमित्त प्रस्तुत किया गया है।

तृतीयकाण्ड अवान्तर कालीन रचना माना जाता है जिसमें सर्वप्रथम नक्षत्रेष्टि का विस्तार वर्णन है। चतुर्थकाण्ड में पुरुषमेध के उपयोगी पशुओं का विवेचन हुआ है जो ष्णयजुर्वेद की संहिताओं में अनुपलब्ध है, उसे माध्यन्दित संहिता से उद्धृत किया गया । इस काण्ड के अन्तिम तीन अनुवाक (१०-१२) प्रपाठक काठक नाम से यजुर्वेदियों रा अभिहित किये जाते हैं। सम्भव है– यह अंश काठक शाखीय ब्राह्मण का हो और सी विशेष उद्देश्य से यहाँ संगृहीत हो। नचिकेत-अग्नि की वेदि तथा उपासना का यहाँ शेषरूप से वर्णन हुआ है जिसमें अग्निविद्या के द्वारा ही मोक्ष प्राप्त करने का निर्देश है। दश प्रपाठक में चतुर्होत्र तथा वैश्वसृज याग का विवेचन हुआ है। वैश्वसृजयाग एक ीकात्मक याग है जिसमें समस्त पदार्थों का होम सम्पन्न किया जाता है।

.४.४ सामवेदीय ब्राह्मण—

सम्प्रति सामवेद से सम्बन्धित चार ब्राह्मण-ग्रन्थों की सत्ता प्राप्त होती है। ताण्ड्य या ञ्चविंशब्राह्मण, षड्विंशब्राह्मण, जैमिनीयब्राह्मण तथा सामविधानब्राह्मण। **ताण्ड्यब्राह्मण** च्चीस अध्यायों से संकलित होने के कारण 'पञ्चविंश' भी कहलाता है। इसमें सामान्यत: ामयज्ञ का वर्णन है। रचना की दृष्टि से यह प्रौढ़ तथा प्राचीन है। इसमें 'ब्रात्यस्तोम' मक यज्ञ का वर्णन है। इस यज्ञ से ब्रात्यों (भ्रष्टों) को शुद्ध करके उन्हें ब्राह्मणों अथवा ार्यजातियों के अन्तर्गत स्वीकार कर लिया जाता था। इसके रचयिता सम्भवत: **ताण्ड** मक कोई ऋषि हैं अथवा 'ताण्ड' ऋषि की शाखा से इस ब्राह्मण (ताण्ड्य) का सम्बन्ध । **षड्विंशब्राह्मण** को कुछ विद्वान् 'ताण्ड्यब्राह्मण' का अंग स्वीकार करते हैं। इसके न्तिम अध्यायों को 'अद्भुतब्राह्मण' कहा जाता है, जिसमें इन्द्रजाल तथा अन्य लौकिक घटनाओं का उल्लेख है। देवताओं के 'रुदन' तथा 'हास्य' का भी सङ्केत इसमें त्र-तत्र प्राप्त होता है। **जैमिनीयब्राह्मण** का सम्बन्ध सामवेद की 'तवलकार' शाखा के ाथ है। इसके रचयिता जैमिनि नामक कोई ऋषि रहे होंगे। इसमें पाँच मण्डल हैं। प्रथम न मण्डलों में यज्ञ-विधियों का वर्णन है। चौथा मण्डल उपनिषद् ब्राह्मण है। पाँचवें ण्डल का नाम आर्षेयब्राह्मण है। इसमें सामवेदीय ऋषियों के नामों की एक लम्बी सूची

प्राप्त होती है। धर्म तथा आख्यान के इतिहास की दृष्टि से इसका विशेष महत्त्व है। चतुर्थ **सामविधानब्राह्मण** में जादू, टोना, शत्रु-निवारण, धनोपार्जन तथा नानाविध उपद्रवों की शान्ति के लिए सामगायन एवं कतिपय अनुष्ठानों के विधान का वर्णन है। इसीलिए इसको सामविधान नाम प्राप्त हुआ है। इस ब्राह्मण के तीन प्रकरण हैं, जिसमें धर्मसूत्रों में वर्णित दोष, अपराध तथा उनके प्रायश्चितों का वर्णन है। इनके अतिरिक्त सामवेद से सम्बन्धित कतिपय अन्य ब्राह्मणों का नाम भी प्राप्त होता है जैसे– दैवतब्राह्मण, संहितोपनिषद्ब्राह्मण, वेशब्राह्मण, उपनिषद्ब्राह्मण आदि।

१.४.५ अथर्ववेदीय ब्राह्मण—

अथर्ववेद से सम्बन्धित एकमात्र 'गोपथ-ब्राह्मण' प्राप्त होता है। इसके दो भाग हैं– 'पूर्वगोपथ' एंव 'उत्तरगोपथ'। प्रथम भाग पाँच अध्यायों से युक्त है तथा द्वितीय छः अध्यायों से। इस ब्राह्मण में 'शिव' शब्द की प्राप्ति तथा अति परिष्कृत व्याकरणसम्मत शब्दावली इसको अर्वाचीन सिद्ध करने के लिए पर्याप्त प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। विषयवस्तु की दृष्टि से इस पर 'शतपथब्राह्मण' का पर्याप्त प्रभाव दिखलायी पड़ता है। इसमें ऋग्वेदीय ब्राह्मणों से भी विषय-सामग्री को ग्रहण किया गया है।

ब्राह्मणसाहित्य के गम्भीर अनुशीलन के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ऋग्वेदीय 'ब्राह्मण ग्रन्थ' ऋग्वेद से सम्बन्ध रखने वाले 'होता' नामक पुरोहित-वर्ग के यज्ञीय कार्यों की व्याख्या करते हैं। यजुर्वेद के ब्राह्मणग्रन्थ यजुर्वेद से सम्बन्ध रखने वाले अध्वर्यु संज्ञक पुरोहित-वर्ग के कार्यों की व्याख्या करते हैं। इसी प्रकार सामवेदीय एवं अथर्ववेदीय ब्राह्मणग्रन्थ क्रमशः उद्गाता तथा ब्रह्मा नामक पुरोहित-वर्गों के कार्यों की व्याख्या करते हैं।

१.५ आरण्यक-ग्रन्थ—

ब्राह्मणों तथा उपनिषदों का मध्यवर्ती साहित्य आरण्यक है। आरण्यकग्रन्थ ब्राह्मण-ग्रन्थों की ही भाषा-शैली में लिखे गये उनके पूरक ग्रन्थ हैं। आरण्यक-ग्रन्थों का अध्ययनाध्यापन नगरों तथा ग्रामों से दूर अरण्यों (जङ्गलों) में होता था। तैत्तिरीय आरण्यक के भाष्य में कहा गया है—

अरण्याध्ययनादेतद् आरण्यकमितीर्यते।
अरण्ये तदधीयीतेत्येवं वाक्यं प्रवक्ष्यते।।

भारतीय आश्रम व्यवस्था में ब्रह्मचर्य आश्रम में संहिताग्रन्थ, गृहस्थाश्रम में ब्राह्मण-ग्रन्थ बानप्रस्थ-आश्रम में आरण्यक ग्रन्थ एवं संन्यासाश्रम में उपनिषद् ग्रन्थों का अध्ययन विहित था। वानप्रस्थी व्यक्ति जङ्गलों में जाकर आरण्यक-ग्रन्थों का ही अध्ययन एवं मनन करता था।

आरण्यक-ग्रन्थों के अध्यायों का प्रारम्भ ब्राह्मणग्रन्थों के समान ही है, किन्तु वर्ण्यविषय में सामान्य अन्तर दिखलायी पड़ता है जो क्रमशः रहस्यात्मक दृष्टान्तों या रूपकों के माध्यम से दार्शनिकचिन्तन में बदल गया है। साधारणतः धार्मिक क्रिया-कलापों और रूपकों वाले भाग ही आरण्यक कहलाते हैं एवं दार्शनिक भाग उपनिषद् कहलाते हैं। आरण्यक-ग्रन्थ धार्मिक क्रिया-कलापों का वर्णन करते हैं तथा यत्र-तत्र उनकी रहस्यपूर्ण व्याख्या भी प्रस्तुत करते हैं। वेदभाष्यकार सायणाचार्य का कथन है कि

आरण्यक-ग्रन्थ साधुओं का पाठ्य ब्राह्मण-ग्रन्थ था। प्रो० कीथ का मत है कि ब्राह्मण-ग्रन्थों की भाँति आरण्यक-ग्रन्थ भी पुरोहित वर्ग का पाठ्य-ग्रन्थ था। दोनों में अन्तर केवल रहस्यों का था, जो कि ब्राह्मणों में न होकर आरण्यक-ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं।

रामायण में उल्लेख है कि विद्यार्थी अपनी शिक्षा समाप्त करने के अनन्तर तीन मार्गों में से किसी एक का चयन कर सकता था– १. अपने गुरु के साथ आजीवन रहना २. गृहस्थ बनना ३. अरण्यवासी साधु बनना। इस तृतीय मार्ग का अनुसरण करने वाला व्यक्ति वैखानस या बानप्रस्थ (वनवासी) कहलाता था। सम्भवत: इसी श्रेणी के व्यक्तियों कि लिए अध्ययन विहित था। आरण्यक-ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है।

१.५.१ ऋग्वेद के आरण्यक-ग्रन्थ—

ऋग्वेद के दो आरण्यक-ग्रन्थ हैं— **ऐतरेय** तथा **कौषीतकि**। ऐतरेय-आरण्यक का सम्बन्ध ऐतरेय-ब्राह्मण के साथ है। इसमें पाँच खण्ड प्राप्त होते हैं। दूसरे और तीसरे को उपनिषद् कहा जा सकता है। दूसरे के उत्तरार्द्ध के चार परिच्छेदों में वेदान्त का प्रतिपादन है। इसीलिए यह ऐतरेय उपनिषद् कहलाता है। ऐतरेय-आरण्यक के प्रथम आरण्यक में महाव्रत, द्वितीय में उक्थ, शस्त्र, प्राणविद्या तथा पुरुष का विवेचन है। तृतीय में ध्वनि-विज्ञान से सम्बन्धित पदपाठ, क्रमपाठ, स्वर तथा व्यञ्जन के स्वरूप का विवेचन है। चौथे तथा पाँचवें में कतिपय अन्य विषयों के साथ 'निष्कैवल्य-शास्त्र' का वर्णन है। कतिपय विद्वान् उपर्युक्त पाँच खण्डों को पाँच आरण्यक मानते हैं। इनके अनुसार पाँच आरण्यकों का संश्लिष्ट रूप ही ऐतरेय-आरण्यक है।

ऋग्वेद का दूसरा आरण्यक कौषीतकि या सांखायन-आरण्यक है। इसके तीन खण्ड हैं। प्रथम एवं द्वितीय खण्ड में कर्मकाण्डीय तथ्य सन्निविष्ट हैं। तीसरा खण्ड कौषितकि-उपनिषद् कहलाता है। अध्यायों की संख्या पन्द्रह है।

१.५.२. यजुर्वेद के आरण्यक-ग्रन्थ—

शुक्लयजुर्वेद का एकमात्र आरण्यक बृहदारण्यक प्राप्त होता है। इसमें आत्मतत्त्व का विशद विवेचन है। कृष्णयजुर्वेद से सम्बन्धित तैत्तिरीय-आरण्यक है। इसमें काण्ड हैं। काठक शाखा में बतलायी गयी आरणीय विधि का भी इस ग्रन्थ में विचार हुआ है। इसके प्रथम और तृतीय प्रपाठक में यज्ञाग्नि की स्थापना से नियम है। दूसरे विचार में प्रपाठक में अध्ययन के नियम हैं। चतुर्थ, पञ्चम एवं षष्ठ प्रपाठकों में दर्शपूर्णमासादि तथा पितृमेधादि विषयों पर विचार किया गया है। इसका सातवाँ, आठवाँ तथा नवाँ प्रपाठक उपनिषद् कहलाता है, जिनमें ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन हुआ है। प्रसिद्ध उपनिषद् कठोपनिषद् भी इसी से सम्बन्धित है।

१.५.३. सामवेद के आरण्यक-ग्रन्थ—

सामवेद से सम्बन्धित दो आरण्यक प्राप्त होते हैं— 'छान्दोग्य-आरण्यक' छ: प्रपाठकों में विभक्त है। इसका सम्बन्ध छन्दोगों के साथ है। छन्दोग का अर्थ है— सामवेद-संहिता के मन्त्रों को गाने वाला व्यक्ति। इस ग्रन्थ में छन्दोगों के करणीय

कार्यों का निर्देश भी हुआ है। प्रसिद्ध समावेदीय उपनिषद्, छान्दोग्यो-पनिषद् इसी का अंश है।

१.५.४ अथर्ववेद के आरण्यक-ग्रन्थ—

अथर्ववेद से सम्बन्धित एक भी आरण्यक-ग्रन्थ सम्प्रति उपलब्ध नहीं हैं। आरण्यक-ग्रन्थों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि उपनिषदों में जो ज्ञानकाण्ड प्राप्त होता है उनका प्रारम्भ आरण्यकों में ही हो गया था। ब्राह्मण-ग्रन्थों में गृहस्थों के लिए कर्मकाण्डों का विवेचन है, किन्तु वृद्धावस्था में जब वही गृहस्थ वनों का आश्रय ग्रहण करता है तो कर्मकाण्ड के स्थान पर उसे अन्य वस्तु के अध्ययन करने या व्यवहृत करने की आवश्यता प्रतीत होती है। आरण्यक उसी विषय की पूर्ति करने वाले ग्रन्थ है। डॉ० राधाकृष्णन् के अनुसार आरण्यक ग्रन्थ ब्राह्मण-विहित कर्मकाण्डों एवं उपनिषदों में विहित दार्शनिक चिन्तन के मध्यवर्ती संक्रमणकाल की शृङ्खला के रूप में हैं।

१.६ उपनिषद्-ग्रन्थ

वेदान्त-दर्शन के तीन प्रस्थानों में उपनिषद् का सर्वप्रमुख स्थान है। उपनिषद् वह साहित्य है, जिसमें जीवन और जगत् के रहस्यों को उद्घाटित किया गया है। उपनिषद् वैदिक-साहित्य की चरमपरिणति रूप ग्रन्थ है। वैदिक-साहित्य के अन्तिम ध्येय ब्रह्मतत्त्व का निरूपण होने से इसे वेदान्त भी कहा गया है। यहाँ पर कतिपय प्रमुख उपनिषद्-ग्रन्थों का संक्षेप परिचय दिया जा रहा है—

१.६.१. ऐतरेयोपनिषद्—

इसका सम्बन्ध ऋग्वेद के साथ है। यह अत्यन्त लघुकाय है। ऐतरेय-ब्राह्मण के द्वितीय आरण्यक के चतुर्थ से षष्ठ अध्यायों को ऐतरेयोपनिषद् कहा गया है। इसमें तीन अध्याय हैं, इनमें क्रमशः सृष्टि, जीवात्मा तथा ब्रह्मतत्त्व का निरूपण है। इस उपनिषद् की रचना का मूलाधार ऋग्वेदीय पुरुषसूक्त है। इसमें विश्व को आत्मा से उद्भूत बतलाया गया है।

१.६.२. कौषीतकिउपनिषद्—

इस उपनिषद् का भी सम्बन्ध ऋग्वेद के साथ है। कौषीतकि-आरण्यक के तृतीय एवं षष्ठ अध्यायों को मिलाकर कौषीतकि उपनिषद् कहा गया है। इसका उपदेश सम्भवतः कुषीतक नामक ऋषि ने किया था। इस उपनिषद् में ब्रह्म-सिद्धान्त का विस्तृत निरूपण किया गया है। इसमें कतिपय ऐसे याज्ञिक विधानों का भी निरूपण है जिनके द्वारा व्यक्ति अपनी कामनाओं की पूर्ति करने में सफल होता है। इसमें ज्ञान की अपेक्षा कर्म को अधिक महत्त्व दिया गया है।

१.६.३. श्वेताश्वतरोपनिषद्—

यह उपनिषद् कृष्ण-यजुर्वेद से सम्बन्धित है। इसमें विश्व को ब्रह्मकृत तथा माया का प्रतिरूप माना गया है। इसमें यत्र-तत्र योग के सिद्धान्तों का सम्यक्रूपेण प्रतिपादन प्राप्त

ोता है। इसकी रचना कठोपनिषद् के बाद की है, क्योंकि इसमें कठोपनिषद् के अनेक भंश उद्धृत हैं। इसकी रचना से स्पष्ट होता है कि यह उपनिषद् अनेक रचनाकारों की कृतियों का संग्रह है।

१.६.४. कठोपनिषद्—

यह भी कृष्णयजुर्वेदीय-उपनिषद् है। इसका सम्बन्ध कृष्णयजुर्वेद की कठ शाखा से है। इसमें दो अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय तीन-तीन बल्लियों में बँटा है। इस उपनिषद् में प्रसिद्ध 'यम-नचिकेता' आख्यान के माध्यम से जीव, जगत् और परमतत्त्व का सरल, हृदयग्राही एवं हितसाधक उपदेश मानवमात्र के कल्याणार्थ प्रस्तुत किया गया है। श्रेय अर्थात् आत्मकल्याण (मोक्ष) मार्ग तथा प्रेय अर्थात् सांसारिक बन्धनों के मार्ग का विवेचन किया गया है। इस उपनिषद् का मत है कि मनुष्यों के समक्ष श्रेय तथा प्रेय दोनों वस्तुएँ उपस्थित होती हैं। उनमें से जो व्यक्ति धीर अर्थात् आत्मकल्याण का इच्छुक होता है, वह श्रेयमार्ग का वरण करता है तथा कुत्सित संस्कार वाला व्यक्ति प्रेयमार्ग का वरण करके मानवजीवन के वास्तविक लक्ष्य से च्युत हो जाता है। इस उपनिषद् में रथ-रथी के रूपक द्वारा शरीर, आत्मा, मन तथा इन्द्रियों के पारस्परिक सम्बन्धों को समझाते हुए असत्कार्यों से सदैव पृथक् रहने का उपदेश दिया गया है। अतिथि-सत्कार, मातृपरितोष आदि का महत्त्व भी इस उपनिषद् में प्रतिपादित किया गया है।

१.४.५. तैत्तिरीयोपनिषद्—

कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय-संहिता के ब्राह्मण ग्रन्थ को तैत्तिरीय ब्राह्मण कहते हैं। इस ब्राह्मण का अन्तिम भाग तैत्तिरीय-आरण्यक कहलाता है। इसके सात से नौ प्रपाठकों को तैत्तिरीय-उपनिषद् कहते हैं। उपर्युक्त तीन प्रपाठकों को क्रमशः शिक्षा का माहात्म्य, ब्रह्मतत्त्व निरूपण तथा वरुण द्वारा अपने पुत्र को दिया गया उपदेश सङ्कलित है।

१.६.६. मैत्रायणोपनिषद्—

इस उपनिषद् का सम्बन्ध कृष्णयजुर्वेद की मैत्रायणी शाखा के साथ है। इसमें सात अध्याय हैं। इस उपनिषद् की रचना अधिकांश रूप में गद्यमय है। इस उपनिषद् में सांख्य-दर्शन के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है।

इस उपनिषद् की विषयसाम्रगी तीन प्रश्नों के उत्तर में निहित है। प्रथम प्रश्न में पूछा गया है कि आत्मा किस प्रकार शरीर में प्रवेश करता है; उत्तर स्वरूप कहा गया है कि स्वयं प्रजापति अपने द्वारा विरचित शरीर में जीवन-सञ्चार करने के लिए पञ्च प्राणों के रूप में प्रविष्ट होता है। दूसरा प्रश्न है— परमात्मा किस प्रकार भूतात्मा बनता है; इस प्रश्न का समाधान सांख्यसिद्धान्तानुसार देने का प्रयास किया गया है, जिसके अनुसार आत्मा प्रकृति के गुणों से पराभूत होकर आत्मरूप को विस्तृत कर जाता है परिणामतः आत्मज्ञानार्थ प्रयासरत रहता है। तृतीय प्रश्न है कि सांसारिक दुःखों से मुक्ति कैसे प्राप्त की जा सकती है; उत्तर में कहा गया है कि वर्ण-व्यवस्था एवं आश्रम-व्वस्था के प्रति निष्ठावान् व्यक्ति ही ब्रह्मज्ञान एवं मोक्ष के अधिकारी होते हैं। मोक्ष अथवा ब्रह्मज्ञान ही दुःखों से मुक्ति दिला सकता है।

१.६.७. बृहादारण्यकोपनिषद्—

यह उपनिषद् शुक्लयजुर्वेद से सम्बन्धित है। शतपथ-ब्राह्मण के अन्तिम छः अध्याय ही इस उपनिषद् के नाम से कहे गये हैं। यह पर्याप्त विशालकाय होने से अन्वर्थनामा भी है। यह तीन भागों में विभक्त है; प्रत्येक भाग दो-दो अध्यायों में बँटा हुआ है। प्रथम भाग 'मधु-काण्ड' है। द्वितीय भाग 'याज्ञवल्क्य-काण्ड' है तथा तृतीय भाग 'खिल-काण्ड' है, जो परिशिष्ट मात्र माना जाता है। इस उपनिषद् में प्राण को आत्मा का प्रतीक माना गया है। आत्मा तथा ब्रह्म से विश्व की उत्पत्ति तथा आत्मा की प्रकृति का निरूपण है।

१.६.८. ईशावास्योपनिषद्—

यह उपनिषद् शुक्लयजुर्वेद से सम्बन्ध रखता है। शुक्लयजुर्वेद का अन्तिम चालीसवाँ अध्याय ही यह उपनिषद् है। इसका प्रथम मन्त्र 'ईशावास्यमिदम्....' से प्रारम्भ होता है, अतः यह ईशावास्योपनिषद् कहलाता है। इसमें केवल अठारह मन्त्र हैं। परन्तु इसमें उपनिषदों के सभी विषयों का समावेश संक्षेप में ही हो गया है। इसमें ईश्वर को सर्वव्यापक मानते हुए तथा संतुष्टि का आश्रय ग्रहण करते हुए जीवनयापन करने का उपदेश दिया गया है।

१.६.९. केनोपनिषद्—

यह सामवेद की जैमिनीय-शाखा के ब्राह्मण-ग्रन्थ का नवम अध्याय है। इसका प्रारम्भिक मन्त्र **केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः। केनेषितां वामिमां वदन्ति श्रोत्रं चक्षुः कउ देवा युनक्ति।** है इसी आधार पर इसका नाम केनोपनिषद् पड़ गया है। केनोपनिषद् में अत्यन्त सबल भाषा में कहा गया है कि परमतत्त्व सभी इन्द्रियों का इन्द्रिय है तथा इन्द्रियों की पहुँच के बाहर हैं। परमतत्त्व समस्त देवताओं का देवता है एवं समस्त उपास्यों का उपास्य है। परमतत्त्व का ज्ञाता सभी पापों से मुक्त हो जाता है परिणामतः शाश्वत अमरपद का अधिकारी हो जाता है।

१.६.१०. मुण्डकोपनिषद्—

यह उपनिषद् अथर्ववेद की शौनक शाखा के अन्तर्गत आती है। सम्पूर्ण उपनिषद् तीन मुण्डकों में विभक्त है; तथा प्रत्येक मुण्डक दो-दो अध्यायों में विभक्त हैं। इस उपनिषद् का नामकरण सम्भवतः 'मुण्ड' साधुओं के नाम हुआ है जो जैन तथा बौद्ध धर्म के उत्तरकालीन साधुओं की भाँति सिर मुड़ाये रहते थे। इस उपनिषद् में सृष्टि की उत्पत्ति तथा ब्रह्मतत्त्व का विवेचन किया गया है।

१.६.११. माण्डूक्योपनिषद्—

यह उपनिषद् अथर्ववेद से सम्बन्धित एक अति संक्षिप्त उपनिषद् है। इसमें कुल बारह मन्त्र हैं। प्रथम मन्त्र में ही ओंकर की महिमा का प्रतिपादन किया गया है—

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव।

अर्थात् जो कुछ भूत, भविष्यत्, वर्तमान है, सब ओंकार ही है तथा जो कुछ इन तीन कालों से परे है वह भी ओंकार ही है।

इस उपनिषद् का उपसंहार भी ओंकार तत्त्व की महिमा के साथ हुआ है।

१.६.१२. प्रश्नोपनिषद्—

अथर्ववेद की पिप्पलाद शाखा के साथ सम्बन्धित यह उपनिषद् विषय-प्रतिपादन की ष्टि से महत्त्वपूर्ण है। सम्पूर्ण उपनिषद् गद्यमय है; कहीं-कहीं पद्य भी प्राप्त होते हैं। इसमें प्पलाद ऋषि ने भरद्वाज के पुत्र सुवेशम, शिवि के पुत्र सत्यवान्, कोशलदेशीय श्वालयन, विदर्भ निवासी भार्गव, कात्यायन एवं कबन्धी इन छः जिज्ञासु ऋषियों के प्रश्नों का विचारपूर्ण उत्तर प्रस्तुत किया है। इन जिज्ञासुओं के प्रश्न हैं— प्रजाओं के रीर धारण करने वाले देवताओं से सम्बन्धित, शरीर में प्राणों के प्रवेश एवं निर्गमन से म्बन्धित, मन तथा अन्य इन्द्रियों की ग्रहणशीलता, निद्रा, जागरण तथा स्वप्न आदि विषय में, ओंकार की उपासना के सम्बन्ध में तथा षोडश कलाओं से सम्पन्न पुरुष के म्बन्ध में। इन्हीं प्रश्नों के उत्तरस्वरूप आत्मतत्त्व का वर्णन किया गया है।

उपर्युक्त उपनिषदों के अतिरिक्त भी अन्य अनेक उपनिषदों की सत्ता प्राप्त होती है। वर्ती उपनिषद् मुक्तिकोपनिषद् में एक सौ आठ उपनिषदों के नामों की सूची दी गई है। ा सभी उपनिषदों का संग्रह निर्णयसार प्रेस बम्बई से गुटका के रूप में प्रकाशित हुआ । अड्यार लाईब्रेरी मद्रास से प्रकाशित उपनिषद् संग्रह में एक सौ उन्यासी उपनिषदों की णना करायी गयी है। गुजराती प्रिंटिंग प्रेस बम्बई से प्रकाशित 'उपनिषद्वाक्य हाकोश' में दो सौ तेईस उपनिषदों का नामोल्लेख है। इनमें कालक्रम के अनुसार निषदों को 'प्राचीन' तथा 'अर्वाचीन' दो भागों में बाँटा जा सकता है।

अर्वाचीन होने का सबसे स्थूल किन्तु निश्चित लक्षण यह है कि ये अर्वाचीन उपनिषदें म्प्रदायिक हैं, इनमें तत्तत् सम्प्रदायों के उपास्य देवता, उपासना पद्धति इत्यादि की ही चुरता है एवं प्राचीनतम उपनिषदों के प्रतिपाद्य ब्रह्मात्मैक्यवाद, माया, सृष्टि इत्यादि का विवेचन नहीं के बराबर है।

ाभ्यास

१) रिक्त स्थानों की पूर्ति करो -

(क) यज्ञ के लिए .....ऋत्विजों की आवश्यकता होती है।

(ख) संहिता-मन्त्रों के व्याख्यापरक ग्रन्थ ..... कहलाते हैं।

(ग) ऋग्वेद .....का वेद है।

(घ) सम्पूर्ण अथर्ववेद संहिता .....काण्डों में विभक्त है।

(ङ) ऐतरेयब्राह्मण .....से सम्बन्धित है।

(च) कृष्णयजुर्वेद के ब्राह्मण का नाम ..... है।

२) निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिए -

(क) वेद किसको कहा जाता हैं?

(ख) ऋग्वेद में कितने मण्डल है ?

(ग) कौषीतकिब्राह्मण किस वेद से सम्बद्ध है?

(घ) शतपथब्राह्मण में कितने अध्याय हैं ?

(ङ) कठोपनिषद् किस वेद से सम्बद्ध है?

३) ऋग्वेद का परिचय देते हुए उसके प्रातिपद्य विषय पर प्रकाश डालिए।

४) ऋग्वेदीय ब्राह्मण ग्रन्थों का परिचय दीजिए।

इकाई– २ वेदाङ्ग

२.० उद्देश्य

२.१ वेदाङ्ग

- २.१.१ शिक्षा
- २.१.२ कल्प
- २.१.३ व्याकरण
- २.१.४ निरुक्त
- २.१.५ छन्द
- २.१.६ ज्योतिष

२.२ प्रातिशाख्य

- २.२.१ ऋग्वेदप्रातिशाख्य
- २.२.२ तैत्तिरीयप्रातिशाख्य
- २.२.३ शुक्लयजुर्वेदप्रातिशाख्य
- २.२.४ शौनकीया चतुरध्यायिका
- २.२.५ अथर्वप्रातिशाख्य
- २.२.६ ऋक्तन्त्र

२.० उद्देश्य

इस इकाई में आप वेदाङ्गों का परिचय पढ़ेंगे, जिसमें-

- शिक्षा का परिचय जानेंगे।
- कल्प के विषय में जानेंगे।
- व्याकरण वेदाङ्ग से परिचित हो जायेंगे।
- निरुक्त के विषय में जानेंगे।
- छन्द से परिचित होंगे।
- ज्योतिष की उपयोगिता को समझ जाऐंगे।
- ऋग्वेदप्रातिशाख्य का परिचय जानेंगे।
- तैत्तिरीयप्रातिशाख्य के विषय में जानेंगे।
- शुक्लयजुर्वेदप्रातिशाख्य से परिचित होंगे।
- शौनकीया चतुरध्यापिका और अथर्वप्रातिशाख्य के विषय में जानेंगे।
- ऋक्तन्त्र का परिचय प्राप्त करेंगे।

२.१ वेदाङ्ग

वेदों के सहायक-शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दस् और ज्योतिष इन छः शास्त्रों को वेदाङ्ग कहा गया है। जिस प्रकार अङ्गविहीन शरीर असम्भव है, उसी प्रकार इन छः अङ्गों के अध्ययन के अभाव में वेदाध्ययन असम्भव है। वेदों के शुद्धपाठ, अर्थज्ञान, यज्ञों में मन्त्रों की उपयोगिता, यज्ञ के लिए उचित समय का ज्ञान तथा वेदि-

निर्माण की सही प्रक्रिया का ज्ञान वेदाङ्गों के अभाव में सम्भव नहीं है। पाणिनि-शिक्षा में कहा गया है कि 'ज्योतिष्' वेदों की आँख है, निरुक्त कान है, शिक्षा घ्राण है, व्याकरण मुख है, कल्प हाथ है, तथा छन्द पाँव हैं—

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते ।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ।।
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम् ।
तस्मात्साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते ।।

— पा०शि० ४१, ४२

इस प्रकार जैसे आँख, कान, नाक, मुख, हाथ तथा पाँव से शरीर में पूर्णता रहती है, उसी प्रकार इन षड्वेदाङ्गों के अध्ययन से वेदाध्ययन में परिपूर्णता आती है। अब क्रमशः वेदाङ्गों का संक्षित परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है—

२.१.१ शिक्षा—

षड्वेदाङ्गों में शिक्षा का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह प्रथम वेदाङ्ग है। इसको वेदों की 'नासिका' कहा गया है— 'शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य'। यह शुद्ध उच्चारण का शास्त्र है— **स्वरवर्णोच्चारणप्रकारो यत्र शिक्ष्यते उपदिश्यते सा शिक्षा ।** जिस शास्त्र में मन्त्रों के स्वर एवं व्यञ्जनों के शुद्ध उच्चारण को जाना जाता है। वह 'शिक्षा' कहलाता है। स्वर तथा व्यञ्जनों का ठीक-ठीक उच्चारण ही मन्त्रों के वास्तविक अर्थ का अवबोधन कराता है।

यह शास्त्र यद्यपि अत्यन्त प्राचीन है; परन्तु इस पर लिखे ग्रन्थों की संख्या अत्यल्प है। एक अनुश्रुति के अनुसार 'जैगीषव्य' के शिष्य 'बाध्रव्य' इस शास्त्र के प्रवर्तक हैं। ऋग्वेद के क्रमपाठ की व्यवस्था भी इन्होंने ही की थी। 'महाभारत-शान्तिपर्व' के अनुसार आचार्य 'गालव' ने एक शिक्षाशास्त्रीय ग्रन्थ का निर्माण किया था। अष्टाध्यायी में भी इसका उल्लेख पाया जाता है। 'भण्डारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना' से 'भारद्वाज-शिक्षा' का प्रकाशन हुआ है; जिसके रयियता 'भरद्वाजमुनि' माने जाते हैं। वेदों के शाखाभेद के कारण शिक्षाएँ भी विविध प्रकार के उच्चारण विधानों को प्रस्तुत करती हैं। पाणिनि ने भी एक शिक्षा-ग्रन्थ का प्रणयन किया था, जो पाणिनि-शिक्षा के नाम से प्राप्त होती है। वाराणसी से 'शिक्षा-संग्रह' नामक एक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है, जिसमें अनेक शिक्षाएँ एकत्र संगृहीत हैं। प्रत्येक वेद की अलग-अलग शिक्षाएँ हैं। आज केवल यजुर्वेद की याज्ञवल्क्य-शिक्षा, सामवेद की नारद-शिक्षा, अथर्ववेद की माण्डूकी शिक्षा ही सुव्यवस्थित रूप में उपलब्ध होती है। इनके अतिरिक्त भी नारदीय-शिक्षा, गौतम-शिक्षा, केशवी-शिक्षा, लघु अमोघानन्दिनी शिक्षा, आपिशलि-शिक्षा, वर्णरत्नप्रदीपिका-शिक्षा इत्यादि अनेक शिक्षाग्रन्थ प्राप्त होते हैं।

ध्वनि का आरोह-अवरोह, उच्चारण की शुद्धता, उच्चारण की कालावधि का परिसीमन आदि शिक्षा के मुख्य विषय हैं। इसके वर्ण्य-विषयों में वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम और सन्तान इन छः तत्त्वों की गणना की जाती है। वर्णों के उच्चारणस्थान, प्रयत्न आदि के अतिरिक्त 'साम' अर्थात् श्रुतिमधुर पाठ तथा 'सन्तान' अर्थात् सन्धि को भी कतिपय शिक्षा-ग्रन्थों में विवेच्य विषय बनाया गया है। प्रातिशाख्य ग्रन्थों को भी इसी वेदाङ्ग में रखा जाता है।

२.१.२ कल्प—

षद्वेदाङ्गों में दूसरा वेदाङ्ग 'कल्प' नाम से प्रसिद्ध है। 'कल्प' का मुख्य विषय है— धार्मिक कर्मकाण्डों का प्रतिपादन, यज्ञों का विधान और संस्कारों की व्याख्या। इससे सम्बन्धित ग्रन्थ 'सूत्र-ग्रन्थ' कहलाते हैं। जिन ग्रन्थों में कल्प (यज्ञ-विधान) संगृहीत हैं इन्हें कल्पसूत्र कहते हैं। इनके चार विभाग हैं— श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र तथा शुल्बसूत्र। श्रौतसूत्रों में श्रौतयज्ञों का विवेचन है। श्रौत्रयज्ञ दो प्रकार के हैं— सोमसंस्था' तथा 'हवि:संस्था'। गृह्यसूत्रों में गृह्ययज्ञों का विधान है। इसे 'पाकसंस्था' कहा जाता है। इन तीनों प्रकार के यज्ञों के सातषोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्याम। हवि:संस्था के प्रकार हैं— अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास, आग्रयण, चातुर्मास्य और पशुबन्ध। पाकसंस्था के प्रकार हैं— सायंहोत्र, प्रातर्होत्र, स्थालीपाक, नवयज्ञ, वैश्वदेव, पितृयज्ञ और अष्टका। कुल मिलाकर कल्पसूत्रों में बयालिस कर्मों का प्रतिपादन है। चौदह श्रौतयज्ञ, सात गृह्ययज्ञ, पाँच महायज्ञ और सोलह संस्कारयज्ञ।

श्रौतसूत्रों में कात्यायन-श्रौतसूत्र सर्वाधिक प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है। इसमें छब्बीस अध्याय हैं। शतपथब्राह्मण के प्रारम्भिक नौ काण्डों में विहित क्रियाओं का विधान इसके प्रारम्भिक अठारह अध्यायों में किया गया है। उन्नीसवें अध्याय में सौत्रामणी, बीसवें में अश्वमेध, इक्कीसवें में पुरुषमेध, पितृमेध और सर्वमेध, बाईसवें, तेईसवें और चौबीसवें अध्यायों में एकाह, अहीन तथा सत्र आदि याज्ञिक क्रियाएँ वर्णित हैं। पच्चीसवें में प्रायश्चित एवं छब्बीसवें में 'प्रवर्ग' पर विचार किया गया है। श्रौतसूत्रों में वैदिक यज्ञों का विवेचन किया गया है।

गृह्यसूत्रों में घरेलू यज्ञों तथा परिवार के लिए आवश्यक धार्मिक कृत्यों का उल्लेख है। गृह्यसूत्रों के तीन भाग हैं। प्रथम में छोटे यज्ञों का वर्णन है, दूसरे भाग में षोडश संस्कारों का वर्णन है। तीसरे में कतिपय मिश्रित विषय हैं, जैसे गृहनिर्माण सम्बन्धी कर्म, श्राद्धकर्म, पितृयज्ञ तथा अन्य लघुक्रियाएँ। 'कौशिक-गृह्यसूत्र' में चिकित्सा तथा दैवी-विपत्तियों को दूर करने के उपायों का भी समावेश है। इसकी भी संख्या वेदों की शाखाओं पर आधारित है। ऋग्वेद से सम्बन्धित सांख्यायन, तथा आश्वलायन गृह्यसूत्र, सामवेद से सम्बन्धित गोभिल, खादिर और जैमिनि गृह्यसूत्र, शुक्लयजुर्वेद से सम्बन्धित-पारस्कर-गृह्यसूत्र, कृष्णयजुर्वेद से सम्बन्धित-आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, बौधायन, भारद्वाज, मानव, वैखानस तथा अथर्ववेद से सम्बन्धित-कौशिक-गृह्यसूत्र प्राप्त होते हैं।

धर्मसूत्रों में यज्ञों का वर्णन न होकर धार्मिक आचारों तथा व्यवहारों का वर्णन प्राप्त होता है। धर्मसूत्रों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र चारों वर्णों तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास चारों आश्रमों का वर्णन किया गया है। साथ ही राजा, व्यवहार के नियम, अपराध सम्बन्धी तत्त्व, विवाह, उत्तराधिकार, अन्त्येष्टि क्रियाएँ, तपस्या के नियम आदि विषयों का भी समावेश है। प्रसिद्ध धर्मसूत्र पाँच हैं— आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, बौधायन, गौतम और वशिष्ठ।

शुल्बसूत्रों में यज्ञवेदिनिर्माण की प्रक्रिया का विवेचन हुआ है। विभिन्न प्रकार की वेदियों के निर्माण की विधि रेखागणितीय आधार पर बतलायी गयी है। भारतीय रेखागणित के मूलसूत्र इन्हीं ग्रन्थों में प्राप्त हैं। शुल्ब का अर्थ है– धागा। यज्ञ वेदि का निर्माण धागे द्वारा ही नापकर किया जाता था; इसलिए इन ग्रन्थों का नामकरण शुल्वसूत्र किया गया है।

२.१.३ व्याकरण—

वेद पुरुष का मुख 'व्याकरण' कहा गया है। वेदाङ्गों में इसका अति महत्त्वपूर्ण स्थान है। शब्दों में प्रकृति-प्रत्यय आदि का निर्धारण करके अर्थबोध कराना व्याकरणशास्त्र का ही कार्य है— **'व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दाः अनेनेति शब्दज्ञानजनकं व्याकरणम्'** किस शब्द में कौन सी धातु है कौन सा प्रत्यय है तथा तदनुरूप शब्द का अर्थ क्या हो सकता है, इन तथ्यों का सही ज्ञान व्याकरण के अध्ययन के अभाव में सम्भव नहीं है। किसी ने तो यहाँ तक कहा है कि बहुत पढ़ने के बाद भी व्याकरण का पढ़ना अनिवार्य है। अन्यथा शकृत् = विष्ठा तथा सकृत् = 'एकबार' में, सकल = सम्पूर्ण तथा शकल = खण्ड में, स्वजन = आत्मीय जन तथा श्वजन = कुत्तों में भेद करना कठिन हो जायेगा।

यद्यपि बहुनाधीषे तथापि पठ पुत्र! व्याकरणम्।
स्वजनः श्वजनो मा भूत् सकलच्छकलः सकृच्छकृत्।।

व्याकरण की परम्परा वैदिक-काल से ही चली आ रही है, परन्तु सर्वांगपूर्ण, सुव्यवस्थित व्याकरण छठीं शताब्दी ई०पू० से प्रारम्भ हुआ जब महर्षि पाणिनि ने तीन हजार नौ सौ छियान्बे सूत्रों से समन्वित, आठ अध्यायों से संवलित अष्टाध्यायी संज्ञक ग्रन्थ की रचना की। पाणिनिकृत अष्टाध्यायी 'गागर में सागर' वाली उक्ति को चरितार्थ करने वाला ग्रन्थ है। इसमें कुल आठ अध्याय हैं, प्रत्येक अध्याय में चार-चार पाद हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थ बत्तीस पादों में विभक्त है। लौकिक-संस्कृत के साथ ही साथ वैदिक भाषा का भी विवेचन पाणिनि की दृष्टि से नहीं बचा है। अष्टाध्यायी पर पतञ्जलि ने विस्तृत भाष्य की रचना की है, जिसे महाभाष्य संज्ञा से विभूषित किया गया है। कात्यायन ने वार्तिक लिखकर पाणिनि की दृष्टि से कतिपय ओझल तथ्यों का स्पष्टीकरण कर दिया है। इस प्रकार इन तीनों मुनियों (पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि) को पाकर व्याकरणशास्त्र परिपूर्णता को प्राप्त कर लिया है।

आचार्य वररुचि के अनुसार रक्षा, ऊह, आगम, लघु तथा असन्देह ये व्याकरण के पाँच प्रयोजन हैं— **रक्षोहागमलध्वसन्देहाः प्रयोजनम्**। वेदों की रक्षा पद, वर्ण, मात्रा के स्वरूपज्ञान से सम्भव है। 'ऊह' का अर्थ है— नूतन पदों की कल्पना। 'आगम' का ज्ञान भी व्याकरण के अध्ययन के अभाव में असम्भव है। अतः व्याकरणशास्त्र का अध्ययन वेदों के ज्ञान के लिए नितान्त स्पृहणीय है।

२.१.४ निरुक्त—

सायणाचार्य ने 'ऋग्वेद-भाष्य भूमिका' में कहा है— **'अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम्'** अर्थात् वेदार्थ-बोध के लिए स्वतन्त्र रूप में कठिन शब्दों में प्रकृति-प्रत्यय की कल्पना करके अर्थ-निर्धारण करने वाला शास्त्र 'निरुक्त' कहा जाता है। वस्तुतः 'निघण्टु' नामक वैदिक क्लिष्ट पदों के संग्रह की व्याख्या, 'निरुक्त' है। 'निघण्टु' में उन वैदिक पदों का एकत्र सङ्कलन किया गया है, जिनमें सरलता से प्रकृति और प्रत्यय का ज्ञान नहीं हो पाता। महाभारत के एक उल्लेख के अनुसार 'निघण्टु' के रचनाकार का नाम 'काश्यप' है। 'निघण्टु' शब्द की व्युत्पत्ति प्रायः इस प्रकार की जाती है— **'निश्चयेन घटयति पठति शब्दान् इति निघण्टुः'**। निघण्टु पाँच अध्यायों में विभक्त है। प्रथम तीन अध्यायों में एकार्थक चतुर्थ में अनेकार्थक तथा पञ्चम में देवता वाचक विशिष्ट शब्दों का संग्रह है। निघण्टु के शब्दों की संख्या एक हजार तीन सौ

इकतालिस है।

सम्प्रति उपलब्ध निरुक्त के रचयिता 'यास्क' हैं। कतिपय विद्वान् 'निघण्टु' को भी इन्हीं की रचना मानते हैं। यास्क ने निघण्टु के प्रथम तीन अध्यायों की व्याख्या निरुक्त के प्रथम तीन अध्यायों में की है। निघण्टु के चतुर्थ अध्याय की व्याख्या निरुक्त के अगले तीन अध्यायों की है। निघण्टु के पञ्चम अध्याय की व्याख्या निरुक्त के अवशिष्ट छः अध्यायों में की है। निरुक्त में कुल चौदह अध्याय हैं तथा अन्त के दो अध्याय परिशिष्ट हैं। इसमें भी तीन काण्ड हैं। निघण्टु के व्याख्याकार के रूप में 'देवराज यज्वा' का नाम भी प्राप्त होता है। सायणाचार्य ने क्षीरस्वामी तथा अन्य कई आचार्यों का नाम निघण्टु के व्याख्याकारों के रूप में उल्लिखित किया है।

निरुक्त के प्रसिद्ध भाष्यकार के रूप में 'दुर्गाचार्य' का नाम विख्यात है। स्वयं यास्क ने अपने से पूर्ववर्ती अनेक निरुक्तकारों की सत्ता स्वीकार की है। कतिपय विद्वानों के अनुसार यास्क चौदहवें निरुक्तकार हैं। यास्क के अनुसार अन्य निरुक्तकारों के नाम इस प्रकार हैं— अग्रायण, औपमन्यव, औदुम्बरायण, और्णनाभ, कात्थक्य, क्रौष्टुकि, गार्ग्य, गालव, तैटीकि, वार्ष्यायणि, शाकपूणि तथा स्थौलाष्ठीवि।

निरुक्त में कठिन वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति दी गयी है तथा यह बतलाया गया है कि कौन सा शब्द किसी विशिष्ट अर्थ में क्यों रूढ़ हो गया है। निरुक्त का विषय है— वर्णागम, वर्णविपर्यय, वर्णविकार, वर्णनाश तथा धातु का उसके अर्थातिशय के साथ योग—

'वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगो तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्।।'

निरुक्तकार सभी शब्दों को धातुज अर्थात् धातु और प्रत्ययों के योग से उत्पन्न मानते हैं।

वैदिक देवताओं के विषय में भी निरुक्त में विवरण प्राप्त होते हैं। यास्क के अनुसार देवताओं के तीन वर्ग हैं— पृथिवीस्थानीय देवता, अन्तरिक्षस्थानीय देवता तथा द्युलोक-स्थानीय देवता।

२.१.५ छन्द—

'पाणिनि शिक्षा' में छन्द को वेद का 'पाद' बतलाया गया है— 'छन्दः पादौ तु वेदस्य'। जिस प्रकार पैरों के बिना किसी जीवधारी की गमन-क्रिया असम्भव है, उसी प्रकार वेदमन्त्रों का पाठ छन्दोज्ञान के अभाव में नहीं हो सकता। जहाँ भी पद्यात्मकता होगी वहाँ छन्दात्मकता भी अवश्य होनी चाहिए। सर्वानुक्रमणी नामक ग्रन्थ में कात्यायन ने, स्पष्ट कहा है— **'यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः'** अर्थात् छन्द से यह ज्ञान होता है कि मन्त्र का पाठ कितने अक्षरपरिमाण में किया जाना चाहिए। सम्पूर्ण ऋग्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद पद्यमय हैं। इनके पाठ की व्यवस्था छन्द पर आधारित हैं। सम्भवतः इसीलिए 'छन्दस्' शब्द वेद का पर्याय बन गया है।

'छन्द' का मुख्य प्रयोजन है— 'भाषा का लालित्य'। गद्य को सुनने से मन को वह तृप्ति नहीं मिलती, जो पद्य को सुनने से प्राप्त होती है। पद्यों में शीघ्र स्मरण होने का गुण भी रहता है। वेदाध्ययन में छन्दों का अत्यधिक महत्त्व है। छन्दों के ज्ञानाभाव में वेदाध्ययन पाप माना जाता है।

कात्यायन की 'सर्वानुक्रमणिका' में सात छन्दों का उल्लेख हुआ है। गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् तथा जगती। गायत्री छन्द तीन चरणों का होता है, इसमें कुल अक्षरों की संख्या चौबीस होती है। उष्णिक् अट्ठाईस अक्षरों का छन्द है। अनुष्टुप् में बत्तीस अक्षर, बृहती में छत्तीस अक्षर, पंक्ति में चालीस अक्षर, त्रिष्टुप् में चौआलिस अक्षर तथा जगती छन्द में अड़तालिस अक्षर होते हैं। कात्यायन ने इस सात छन्दों के अनेक भेदों को स्वीकार किया है।

वैदिक छन्दों का सर्वप्रसिद्ध ग्रन्थ कात्यायन की 'सर्वानुक्रमणी' है। पिङ्गलरचित 'छन्द:सूत्र' भी वैदिक छन्दों का सर्वाङ्गपूर्ण विवेचन करने वाला ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ आठ अध्यायों में विभक्त है। उल्लेखनीय है कि प्राय: सभी वैदिक छन्द आक्षरिक हैं तथा उनके अनेक भेद-प्रभेद किये गये हैं। लौकिक छन्दों का विकास भी वैदिक छन्दों के आधार पर हुआ है।

२.१.६ ज्योतिष—

ज्योतिष को वेद का 'नेत्र' कह गया है— **ज्योतिषं नेत्रमुच्यते**। याज्ञिक विधिविधान के लिए तिथि, नक्षत्र, पक्ष, मास, ऋतु तथा संवत्सर के ज्ञान की अतीवावश्यकता होती है। इस आवश्यकता के लिए 'वेदाङ्ग ज्योतिष' का अध्ययन अपरिहार्य है। 'वेदाङ्ग ज्योतिष' से सम्बन्धित दो प्रमुख ग्रन्थ प्राप्त होते हैं— १. याजुष-ज्योतिष जिसका सम्बन्ध यजुर्वेद से है। २. ऋक्ज्योतिष जिसका सम्बन्ध ऋग्वेद के साथ है।

'वेदाङ्ग ज्योतिष' नामक ग्रन्थ का प्रणयन 'लगध' नामक विद्वान् ने किया है। इसमें सत्ताइस नक्षत्रों की गणना करायी गयी है। परवर्ती काल में वराहमिहिर के 'सूर्यसिद्धान्त' ने विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया, बाद में चलकर ज्योतिष और गणित ज्योतिष ने। कालान्तर में इसके होरा, गणित, संहिता, प्रश्न और निमित्त- इन पाँच अङ्गों का विकास हुआ। वेदाङ्ग ज्योतिष में ज्योतिष को वेद का सर्वोत्तम अङ्ग स्वीकार किया गया है। मयूरों की शिखा तथा सर्पों की मणि की भाँति ज्योतिष भी वेदाङ्गों का सिरमौर है—

'यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा।
तद्वद् वेदाङ्गशास्त्राणां गणितं मूर्धनि स्थितम्।।'

इसी ग्रन्थ में यह भी कहा गया है कि ज्योतिष का जानकार व्यक्ति ही यज्ञ करे क्योंकि तैत्तिरीय-आरण्यक में कहा गया है कि ब्राह्मण को वसन्तऋतु में क्षत्रिय को ग्रीष्मऋतु में तथा वैश्य को शरद्ऋतु में अग्नि का आधान करना चाहिए। कुछ यज्ञ सायंकाल में कुछ प्रात:काल में, कुछ विशिष्ट मासों एवं विशिष्ट पक्षों में किये जाते हैं इसलिए जो व्यक्ति इस कालविधान-शास्त्र (ज्योतिष) को जानता है वही वेद को जानता है—

'वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः कालातिपूर्वा विहिताश्च यज्ञाः।
तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञम्।।'

२.२ प्रातिशाख्य

सम्प्रति प्रातिशाख्य के नाम से छ: ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं- ऋग्वेदप्रातिशाख्य, तैत्तिरीयप्रातिशाख्य, शुक्लयजुर्वेदप्रातिशाख्य या वाजसनेयिप्रातिशाख्य, शौनकीया चतुरध्यायिका, अथर्ववेदप्रातिशाख्य, ऋक्तन्त्र। इनका परिचय दिया जा रहा है—

२.२.१ ऋग्वेदप्रातिशाक्य

यह प्रातिशाख्य ऋग्वेद की शाकलशाखा की शैशिरीय उपशाखा से सम्बन्धित माना जाता है। चरण से सम्बन्ध मानने वाले विद्वानों के अनुसार इसका सम्बन्ध सम्पूर्ण ऋक्चरण से है। उपलब्ध सभी प्रातिशाख्य ग्रन्थों में यह सर्वप्राचीन तथा आकार में विशालकाय है। विषयवस्तु के विवेचन की दृष्टि से यह सबसे महत्त्वपूर्ण है। यह प्रातिशाख्य दो रूपों में उपलब्ध होता है। (१) छन्दोबद्ध तथा (२) सूत्रबद्ध। दोनों रूपों में उपलब्ध यह प्रातिशाख्य तीन अध्यायों में विभक्त है। प्रत्येक अध्याय में छः पटल हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण प्रातिशाख्य में अट्ठारह पटल हैं। छन्दोबद्ध इस प्रातिशाख्य में पाँच सौ उन्तीस कारिकाएँ तथा सूत्र रूप में निबद्ध प्रातिशाख्य में एक हजार सरसठ सूत्र हैं। इसके कर्त्ता आचार्य शौनक हैं। प्रातिशाख्य के प्रथम पटल के पूर्व में **वर्गद्वय** संज्ञक दश अन्य कारिकाएँ भी हैं।

इसके प्रथम पटल में प्रातिशाख्य के सूत्रों में विहित-विधानों के सम्यक् प्रकारेण अवबोधनार्थ संज्ञा तथा परिभाषा-सूत्रों का विधान किया गया है। ग्रन्थ के द्वितीय, चतुर्थ तथा पञ्चम पटलों में सन्धियों का विशद् एवं वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत है। तृतीय पटल में उदात्तादि स्वरों तथा इन स्वरों की सन्धियों का विधान विहित है। षष्ठ, सप्तम, अष्टम तथा नवम पटलों में दीर्घत्व तथा दशम एवं एकादश पटलों में पदपाठ-विषयक विधान हैं। द्वादश, त्रयोदश एवं चतुर्दश पटलों में वर्णोच्चारण एवं वर्णोच्चारण में होने वाले दोषों का सम्यक् वैज्ञानिक विवेचन हुआ है। पञ्चदश पटल में वेदाध्ययन-विषयक विचार प्रस्तुत हैं। षोडश सप्तदश एवम् अष्टादश पटलों में छन्द-विषयक विधान विहित हैं।

२.२.२ तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य

यह कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीयशाखा से सम्बन्धित है तथा चरण से सम्बन्धित मानने वालों के अनुसार यह सम्पूर्ण कृष्णयजुश्चरण की संहिताओं से सम्बन्धित है। यह प्रातिशाख्य विस्तार में ऋग्वेदप्रातिशाख्य तथा वाजसनेयिप्रातिशाख्य से छोटा है किन्तु विषय-वस्तु के विधान की दृष्टि से यह अधिक विस्तृत, वैज्ञानिक तथा प्रामाणिक है। इस प्रातिशाख्य का सूत्रात्मक रूप उपलब्ध होता है। सम्पूर्ण प्रातिशाख्य दो प्रश्नों में विभक्त है। प्रत्येक प्रश्न में बारह अध्याय हैं। इस प्रकार तैत्तिरीयप्रातिशाय में कुल चौबीस अध्याय हैं। इसमें कुल सूत्रों की संख्या पाँच सौ सैतालिस है। दुःख का विषय है कि इतने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के कर्त्ता का नाम ज्ञात नहीं है।

तैत्तिरीयप्रातिशाख्य में प्रतिपादित विषय इस प्रकार है– प्रथम अध्याय में प्रातिशाख्य के सूत्रों को सम्यक् रूपेण समझने हेतु संज्ञा एवं परिभाषा सूत्रों का विधान हुआ है। द्वितीय अध्याय में शब्दोत्पत्ति एवं वर्णोचाण-विषयक अत्यन्त वैज्ञानिक विवेचन किया गया है। तृतीय अध्याय में संहितास्थ दीर्घ स्वरों के पदपाठ में ह्रस्व होने का विधान किया गया है। चतुर्थ अध्याय में प्रग्रह स्वर विहित हैं। पञ्चम से त्रयोदश अध्याय तक सन्धि-विषयक विधान है। चतुर्दश अध्याय में द्वित्व, आगम तथा ऊष्मवर्णों के विकार का विधान है। पञ्चदश अध्याय से द्वाविंश अध्याय तक अनुस्वार, अनुनासिक तथा उनका परस्पर भेद, ओङ्कार का उच्चारण, विक्रमस्वर, कम्प, क्षैप्रादि स्वरों के स्वरूप एवं उनके उच्चारणप्रकार, अङ्गाङ्गिभाव, प्रचय स्वर, उदात्तादि स्वर एवम् उनके उच्चारणप्रकार इत्यादि विषयों पर विचार किया गया है। त्रयोविंश अध्याय में वाणी के सात **स्थानों तथा कृष्टादि** स्वरों का विधान है। चतुर्विंश अध्याय में चार प्रकार की संहिताओं के **लक्षण तथा** वेदाध्ययन-विषयक विचार किया गया है।

२.२.३ शुक्लयजुर्वेदप्रातिशाख्य

यह प्रातिशाख्य शुक्लयजुर्वेदीय वाजसनेयिशाखा से तथा चरण से प्रातिशाख्यों का सम्बन्ध मानने वाले विद्वानों के अनुसार इसका सम्बन्ध शुक्लयुश्चरण की सम्पूर्ण शाखाओं से है। इसे वाजसनेयिप्रातिशाख्य भी कहा जाता है। इसके कर्त्ता आचार्य कात्यायन हैं। वाजसनेयिप्रातिशाख्य विस्तार में ऋग्वदेप्रातिशाख्य से छोटा तथा तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य से बड़ा है। सम्पूर्ण प्रातिशाख्य आठ अध्यायों में विभक्त है। यह प्रातिशाख्य सूत्र रूप में उपलब्ध होता है। अष्टम अध्याय में कतिपय विधान करिकाबद्ध हैं। मुद्रित संस्करणों में सूत्रों की संख्या समान नहीं है। सम्प्रति छपे संस्करणों में कम से कम सूत्रों की संख्या सात सौ पच्चीस तथा अधिक से अधिक सात सौ चालीस है। इसमें वर्णित विषय भी क्रमरहित तथा तितर-वितर हैं।

वाजसनेयिप्रातिशाख्य के प्रथम अध्याय में वर्णोत्पत्ति, वेदाध्ययनविधि, हस्तचालन द्वारा स्वरप्रदर्शन, संज्ञा-परिभाषा, वर्णोच्चारण में स्थान एवं करण, अक्षरविभाजन तथा उदात्तादि स्वरों का सम्यक् विवेचन प्रस्तुत है। द्वितीय अध्याय में नाम-पदों के स्वर-विषयक विधान हैं। तृतीय अध्याय में सन्धि विहित है। चतुर्थ अध्याय में सन्धि, पादपाठ तथा स्वर-विषयक विधान के साथ-साथ कतिपय पदों के स्वरूप के विषय में भी विचार किया गया है। पञ्चम अध्याय में पदपाठ-विषयक अवग्रह के नियम विहित हैं। षष्ठ अध्याय में आख्यात तथा उपसर्ग पदों के स्वरविषयक विधान के साथ-साथ कतिपय विशिष्ट पदों का स्वरूप भी वर्णित है। सप्तम अध्याय में परिग्रह-सम्बन्धी नियम हैं। अष्टम अध्याय में वर्णसमाम्नाय, वेदाध्ययन-विधि, वेदाध्ययन का फल, वर्णों के देवता, पदों के प्रकार, लक्षण, गोत्र तथा देवता-विषयक विस्तृत विवेचन प्रस्तुत है।

२.२.४ शौनकीया चतुरध्यायिका

कौत्सकृत यह प्रातिशाख्य अथर्ववेदीय **शौनक** शाखा से सम्बन्धित है। प्रातिशाख्यों का सम्बन्ध चरण से मानने वाले विद्वानों के अनुसार यह अथर्वचरण की सभी शाखाओं से सम्बन्धित है। इस ग्रन्थ में चार अध्याय हैं। शौनक-शाखा से सम्बन्धित होने के कारण ही **शौनकीया** और **चार अध्यायों** में विभक्त होने के कारण **चतुरध्यायिका** इस प्रकार यह प्रातिशाख्य **शौनकीया चतुरध्यायिका** नाम से प्रसिद्ध है। ह्विटनी ने इसका नामकरण अथर्ववेदप्रातिशाख्य किया है। प्रो० सूर्यकान्त ने इसका सम्बन्ध अथर्ववेद की शौनक शाखा से तथा अथर्ववेदप्रातिशाख्य का सम्बन्ध पैप्लाद शाखा से माना है किन्तु डॉ० जमुनापाठक के अनुसार चतुरध्यायिका ही अथर्वचरण की समस्त शाखाओं का प्रातिशाख्य है तथा अथर्ववेदप्रातिशाख्य नाम से प्रो० सूर्यकान्त द्वारा सम्पादित प्रातिशाख्य चतुरध्यायिका का परिशिष्ट तथा उसका पूरक है। डॉ० पाठक ने इस ग्रन्थ का नाम अथर्ववेदीया चतुरध्यायिका यह नाम स्वीकार किया है।

२.२.५ अथर्व-प्रातिशाख्य

प्रो० सूर्यकान्त के अनुसार अथर्वप्रातिशाख्य का सम्बन्ध अथर्ववेद की पैप्लादसंहिता से है तथा यह पाणिनि से अर्वाचीन है। इस प्रातिशाख्य के दो पाठ उपलब्ध होते हैं। (१) लघुपाठ, (२) बृहत्पाठ। लघुपाठ सूत्ररूप में उपलब्ध होता है। बृहत्पाठ में कुछ कारिकाएँ भी हैं। लघुपाठ में सूत्रों की संख्या दो सौ तेइस तथा बृहत्पाठ में सूत्रों की संख्या तीन सौ चौतीस है। दोनों पाठों के सम्यक् अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि अथर्व-

वेदप्रातिशाख्य का लघुपाठ बृहत्पाठ पर आधारित है। कतिपय विद्वान् लघुपाठ को ही मूल स्वीकारते हैं, किन्तु यह उचित प्रतीत नहीं होता; क्योंकि (१) अथर्वप्राति-शाख्य के लघुपाठ में विहित सूत्रों द्वारा किसी भी विषय का स्पष्ट ज्ञान नहीं होता तथा (२) लघुपाठ के सूत्रों में अनेक त्रुटियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। सम्पूर्ण प्रातिशाख्य तीन प्रपाठकों में विभक्त है।

अथर्वप्रातिशाख्य में संहिता की निष्पत्ति के लिए सन्धि-नियमों के विधान किये गये हैं। यह विधान यत्र-तत्र तीनों प्रपाठकों में उपलब्ध होते हैं। अथर्ववेदप्रातिशाख्य के तीनों प्रपाठकों में स्वर-विषयक विधान बड़े विस्तार में उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त इसमें पदपाठ में होने वाले विग्रह, अवग्रह तथा समापत्ति इत्यादि विषयों पर भी विचार किया गया है।

२.२.६ ऋक्तन्त्र

यह सामवेदीय **कौथुम** शाखा से सम्बन्धित प्रातिशाख्य है। इसके कर्त्ता के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। कतिपय विद्वान् आचार्य शाकटायन को और कतिपय औद्वज्रि को इसका कर्त्ता स्वीकारते हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ पाँच प्रपाठकों में विभक्त है, जिसमें सब मिलाकर सूत्रों की संख्या दो सौ सत्तासी है।

ऋक्तन्त्र में वर्णसमाम्नाय, वर्णोच्चारण, पारिभाषिक-संज्ञाएँ, अभिनिधान, अङ्गत्व-विचार, काल-निरूपण तथा उदात्तादि स्वरों का विवेचन किया गया है। इसके अतिरिक्त विभक्ति-लोप, संहिता एवं सन्धि-विषयक विधान भी विहित हैं। ऋक्तन्त्र में विहित पारिभाषिक संज्ञाओं का अपना विशेष वैशिष्ट्य है। इसकी संज्ञाओं की तीन श्रेणियाँ हैं— (१) कृत्रिमपरिभाषिक संज्ञाएँ— इसमें प्रातिशाख्यकार ने कतिपय कृत्रिम पारिभाषिक संज्ञाओं का विधान किया है जैसे– पादादि के लिए **णि** तथा संयोग के लिए **सण्** इत्यदि। (२) अपूर्ण पारिभाषिक संज्ञाएँ— प्रातिशाख्यकार ने कतिपय अपूर्ण पारि-भाषिक संज्ञाओं का प्रयोग किया है। जैसे उदात्त के लिए **उत्** दीर्घ के लिए **घ** तथा लघु के लिए **घु** इत्यादि। (३) अन्वर्थ संज्ञाएँ— प्रातिशाख्यकार ने कतिपय अन्वर्थक संज्ञाओं का भी प्रयोग किया है जैसे– स्वर, व्यञ्जन इत्यादि।

अभ्यास

१- निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिए-

(क) वेदाङ्गों की संख्या कितनी है ?

(ख) निरुक्त को वेदपुरुष का कौन सा अङ्ग कहा गया है ?

(ग) वेदपुरुष का मुख कौन-सा वेदाङ्ग है?

(घ) कल्प के कौन-कौन से चार विभाग हैं?

(ङ) ऋग्वेदप्रातिशाख्य किस शाखा का है?

(२) वेदाङ्गों का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

(३) परिचायात्मक टिप्पणियाँ लिखिए-

(क) ऋग्वेदप्रातिशाख्य

(ख) तैत्तिरीयप्रातिशाख्य

(ग) शुक्लयजुर्वेदप्रातिशाख्य

(घ) शौनकीया चतुरध्यायिका

इकाई–३ देवता-परिचय

३.० उद्देश्य

३.१ अग्नि

३.१.१ ऋग्वेद में स्थान

३.१.२ उत्पत्ति

३.१.३ स्वरूप

३.१.४ कार्य

३.१.५ प्राकृतिक आधार

३.१.६ मानव-जीवन से सम्बन्ध

३.२ इन्द्र

३.२.१ स्वरूप

३.२.२ जन्म एवं अन्य देवताओं से सम्बन्ध

३.२.३ कार्य

३.२.४ प्राकृतिक आधार

३.३ विश्वेदेवा

३.३.१ प्रार्थित विषय

३.३.२ विश्वेदेवा में प्रार्थित देवता

३.३.३ विश्वेदेवा सूक्त का महत्त्व

३.४ विष्णु

३.४.१ स्वरूप

३.४.२ कार्य

३.४.३ निवास-स्थान

३.४.४ प्राकृतिक आधार

३.५ वाक्

३.५.१ वाक् का स्वरूप

३.५.२ सर्वदेशरूपकता

३.५.३ वाक् के कार्य

३.६ पुरुष

३.६.१ पुरुष का स्वरूप

३.६.२ पुरुष का विभाजन

३.६.३ पुरुष के द्वारा यज्ञ

३.६.४ पुरुष द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति

३.७ शिवसङ्कल्प

३.७.१ मन के कार्य

३.७.२ शिवसङ्कल्प का महत्त्व

३.० उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप-

- अग्नि देवता का परिचय प्राप्त करेंगे।
- इन्द्र देवता से परिचित हो जाएँगे।
- विश्वेदेवा सूक्त का महत्व जान पाएँगे।
- विष्णु देवता का परिचय प्राप्त करेंगे।
- वाग्देवता को समझ लेंगे।
- पुरुष से परिचित हो जाएंगे।
- शिवसङ्कल्प के महत्व को समझ जाएंगे।

३.१ अग्नि

वैदिक देवताओं में अग्नि अत्यन्त महत्वपूर्ण देवता है। ऋग्वेद के लगभग २०० सूक्तों में अग्नि की स्तुति की गई है। अग्नि के सम्बन्ध में कतिपय मुख्य तथ्य इस प्रकार है—

३.१.१ ऋग्वेद में स्थान—

ऋक्संहिता का प्रथम मन्त्र अग्नि देवता को ही सम्बोधित किया गया है तथा प्रथम पद भी 'अग्निम्' ही है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि ऋग्वैदिक देवताओं में अग्नि प्रधान देवता हैं। अग्नि का अर्थ है— वह देव जो यज्ञ में प्रदान की गयी हवि को देवताओं तक पहुँचाता है। ऋग्वेद के तीन प्रमुख देवताओं में अग्नि का द्वितीय स्थान है। ऋग्वेद के २०० सम्पूर्ण सूक्तों के अतिरिक्त अन्य अनेक सूक्तों में अन्य देवताओं के साथ अग्नि की स्तुति की गयी है। प्राय: ऋग्वेद के सभी मण्डलों में प्रारम्भिक सूक्त अग्नि को ही सम्बोधित किये गये हैं।

३.१.२ उत्पत्ति—

अप्, उषस्, त्वष्टा, द्यावापृथिवी और विष्णु को अग्नि का उद्भावक कहा गया है, वह दो अरणियों के संघर्ष से उत्पन्न होता है। अरणियों में ऊपर वाली अरणि को पति और नीचे वाली अरणि को पत्नी कहा गया है, जिनके संयोग से शिशुवत् अग्नि की उत्पत्ति होती है। अग्नि को दस युवतियों से भी उत्पन्न कहा गया है। ये दस युवतियाँ मनुष्य के हाथों की दसों अङ्गुलियाँ ही हैं। अग्नि को 'सहस: पुत्र' भी कहा गया है क्योंकि अग्नि को उत्पन्न करने के लिए सहस् (शक्ति) भी लगानी पड़ती है।

३.१.३ स्वरूप—

अग्नि का धर्म है प्रकाशित होना। वह अङ्गारमय है, प्रकाशमय है (अङ्गिरा, राजन्तम्) ऋग्वेद में अग्नि को घृत-पृष्ठ, घृत-प्रतीक, घृत-लोम, मद्रजिह्व, शौचिषकोश आदि भी कहा गया है। वे भास्वर ज्वलाओं वाले हैं। उनका वर्ण भास्वर है। वे हिरण्यरूप हैं। वे सूर्य की भाँति चमकते हैं। उनकी प्रभा उषा, सूर्य एवं विद्युत जैसी है।

३.१.४ कार्य—

अग्नि यज्ञ में देवताओं को बुलाता है। वह उत्तम धनादिकों का प्रदाता है। अग्नि के माध्यम से यजमान को पुष्टि यश और वीर पौत्रादि की प्राप्ति होती है। यह यज्ञों का रक्षक और सत्य का प्रकाशक है। कर्मफल को प्रदान करना भी अग्नि का ही कर्म है। अग्नि स्वयं प्रकाशवान् होने से रात्रि को प्रकाशित करता है। जिस प्रकार एक पिता अपने पुत्र के लिए कल्याण-भावना रखता है उसी प्रकार अग्नि भी कल्याणकारी है। अग्नि यज्ञ के प्रत्येक रहस्य को जानता है, इसीलिए जातवेदस् भी कहा गया है। जिस प्रकार ऋतु और युद्धकर्म इन्द्र के अधीन हैं उसी प्रकार आर्यों के सारे गृहकृत्य अग्नि के अधीन हैं। अग्नि के सम्बन्ध में यह भी कहा गया है कि जिस यज्ञकर्म का साक्षी अग्नि होता है, केवल उसका ही फल देवताओं के पास पहुँचता है।

३.१.५ प्राकृतिक आधार—

अग्नि का प्राकृतिक आधार स्पष्ट है। हमारे सम्मुख अग्नि के मुख्यत: तीन रूप दृष्टिगोचर होते हैं— काठों से उत्पन्न दावाग्नि, जलों से उत्पन्न वाडवाग्नि एवं द्युलोक से उत्पन्न वैद्युताग्नि। ये अग्नि के रूप में मान्यता प्राप्त कर चुके हैं। यद्यपि जलों के सङ्घर्षण से अग्नि की उत्पत्ति नहीं होती तथापि वडवाग्नि को ही सम्भवत: अप् से प्रादुर्भूत अग्नि माना गया है। आधुनिक युग में विद्युत शक्ति की उत्पत्ति भी जलों के द्वारा की जाती है। बादलों के पारस्परिक टकराव से उत्पन्न आकाशीय विद्युत भी तो जलों से ही उत्पन्न मानी जा सकती है क्योंकि बादल भी जलों के ही रूप हैं। इस प्रकार यह सिद्ध है कि वैदिक अग्नि देवता का प्राकृतिक आधार भी अग्नि के उपर्युक्त रूप ही है।

३.१.६ मानव जीवन से सम्बन्ध—

अग्नि का मानव-जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। सम्पूर्ण गृहकृत्य के लिए अग्नि की महती आवश्यकता है। प्रत्येक घर में उसका निवास है। अग्नि ही एक ऐसा देवता है जो मनुष्य के जन्म से मृत्युपर्यन्त उसका साथ देता है। अग्नि के माध्यम से ही इस संसार में प्रकाश का जन्म हुआ है। वैदिक युग में ऋषियों के समक्ष अग्नि की उपादेयता सर्वाधिक सिद्ध हुई। इसका मुख्य कारण यह है कि अग्नि की सहायता से ही यज्ञानुष्ठान, भोजन-पाक तथा शीत इत्यादि से रक्षा हो जाती है।

इसलिए वैदिक ऋषि अग्निदेव से अपने उन्नति एवं कल्याण की प्रार्थना करता है।

३.२ इन्द्र

इन्द्र ऋग्वेद का सर्वाधिक लोकप्रिय और महत्त्वपूर्ण देवता है। ऋग्वेद के २५० सूक्तों में इन्द्र की स्तुति स्वतन्त्र रूप में की गयी है तथा ५० सूक्तों में अन्य देवताओं के साथ भी उसे स्तुत किया गया है। इस प्रकार ऋग्वेद का लगभग चतुर्थांश इन्द्र के ही गुणगानों से भरा हुआ है। जिस प्रकार अग्नि और सूर्य क्रमश: पृथिवीलोक एवं द्युलोक के अधिपति हैं, उसी प्रकार इन्द्र अन्तरिक्षलोक के अधिपति हैं। इन्द्र देवता की कतिपय विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

३.२.१ स्वरूप—

ऋग्वेद में इन्द्र का चित्रण मानवाकृति रूप में किया गया है। उसके विशाल शरीर, शीर्ष, भुजाओं एवं बड़े उदर का उल्लेख अनेक बार किया गया है। उसके जबड़ों एवं अधरों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। वह भूरे-वर्ण का देव है। यहाँ तक कि उसके केश एवं दाढ़ी भी भूरे वर्ण के ही हैं। उसका मुख सुन्दर है। उसकी भुजाएँ भी वज्रवत् पुष्ट एवं कठोर हैं। वह सात रश्मियों (किरणों) से युक्त है।

३.२.२ जन्म एवं देवताओं से सम्बन्ध—

ऋग्वेद के सम्पूर्ण दो सूक्तों में इन्द्र के जन्म के सम्बन्ध में अनेक तथ्यों को बतलाया गया है। निर्ऋति तथा शवसी नामक गाय को उसकी माँ कहा गया है। उनके पिता द्यौः या त्वष्टा हैं। एक स्थल पर इन्द्र को सोम से उत्पन्न कहा गया है। अग्नि और पूषन् इनके भाई हैं। इन्द्राणी पत्नी और मरुद्गण मित्र तथा सहायक हैं। इन्द्र को वरुण, वायु, सोम, बृहस्पति, पूषन् और विष्णु के साथ युग्म रूप में भी स्तुत किया गया है।

३.२.२ कार्य—

इन्द्र ने जन्म लेते ही समस्त देवताओं को अपने पराक्रम से आक्रान्त कर दिया। इसके पौरुष की महिमा से द्युलोक एवं पृथिवी-लोक काँप गये। इन आर्यों को अनार्यों के विरुद्ध युद्ध में सहायता प्रदान करके विजयी बनाता है। इसीलिए वह अपने अपूजकों और विरोधियों का वध करता है। इन्द्र अपने भक्तों की रक्षा एवं सहायता करता है। इन्द्र ने अस्थिर पृथिवी को स्थैर्य प्रदान किया। इधर-उधर उड़ते हुए पर्वतों का पङ्ख-छेदन करके उन्हें तत्तत् स्थानों पर प्रस्थापित किया। उसने द्युलोक को भी स्तब्ध किया है। इस प्रकार उसने अन्तरिक्ष का भी निर्माण किया है। दो मेघों या पत्थरों के मध्य से अग्नि को भी इन्द्र ने ही उत्पन्न किया है। उसने ही सूर्य एवं उषस् को भी उत्पन्न किया है। उसने बल का प्रदर्शन करते हुए अहि को मारकर सात नदियों को प्रवाहित होने के लिए उन्मुक्त किया है। इन्द्र ने भयवशात् पर्वतों में छिपे हुए शम्बर नामक असुर को ४०वें वर्ष में ढूँढ़ निकाला और उसका वध कर दिया। इन्द्र ने बल नामक राक्षस के बाड़े से गायों को बाहर निकाला था। स्वर्ग में चढ़ते हुए रौहिण नामक असुर को भी इन्द्र ने ही अपने शरु नामक वज्र से मार डाला था।

इन्द्र का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य वृत्रवध है। वृत्रवध की गाथाओं से इन्द्र-सूक्त भरे पड़े हैं। इस गाथा के वर्णन से ऋषि अघाते नहीं। इन्द्र ने सोमरस का पान करने का तो मानो व्रत ही ले लिया है। सोम-लता को पीसने, निचोड़ने एवं पकाने वाले की वह रक्षा करता है। सोमरस के पान-कर्त्ता के रूप में इन्द्र वैदिक देवताओं में अपना उपमान नहीं रखता। अचल या अनश्वर पदार्थों को चल या नश्वर बनाना भी इन्द्र के ही वश में है। इसीलिए तो योद्धागण अपनी विजय के लिए इन्द्र का आवाहन करते हैं।

३.२.४ प्राकृतिक आधार—

अनेक वैदिक विद्वान् इन्द्र को प्रकाश का देवता मानकर उसको सूर्य के साथ समीकृत करते हैं। लोकमान्य तिलक वृत्र को हिम का प्रतीक मानते हैं जिसे इन्द्र अर्थात् सूर्य नष्ट करता है। उनके अनुसार आर्यों के आदि देश उत्तर-ध्रुव में शीतऋतु में सभी नदियों की धाराएँ जल के अभाव के कारण रुक जाती है। वसन्त का सूर्य ही बर्फों को पिघलाकर

जलधाराओं को प्रवाहित करता है। भारतीय परम्परा भी बादलों के पारस्परिक टकराव से उत्पन्न प्रकाश (विद्युत्) को ही इन्द्र का वज्र स्वीकार करती है। चमक के कारण बादलों का क्षरण होता है जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि बादल इन्द्र के वज्र से आहत होकर आँसू गिराते हैं। ये बादल ही वृत्र हैं। आवरणार्थक 'वृञ्' धातु से निष्पन्न 'वृत्र' शब्द का अर्थ है आवरक या आच्छादक। 'वृत्र' को मेघ मानने पर भी इन्द्र की सूर्यरूपता स्पष्टता: बनी रहती है।

अनेक स्थलों पर मरुतों की सहायता से इन्द्र द्वारा वृत्र-वध होने का भी उल्लेख प्राप्त होता है। इस कथन से भी यही स्पष्ट होता है कि सूर्य की गर्मी से मरुत् (वायु) गर्म होकर ऊपर उठता है, जिससे वर्षा होती है।

वेदों में 'गौ:' 'गाव:' इत्यादि शब्दों का अर्थ 'किरणें' भी हैं। सभी दिशाओ में इन्द्र अर्थात् सूर्य की ही किरणें व्याप्त हो रही हैं। 'पृथिवी एवं द्युलोक इन्द्र (= सूर्य) के प्रति झुक जाते हैं', इस कथन का भी तात्पर्य यही हो सकता है कि सूर्य के चारों ओर पृथिवी चक्कर लगाती है तथा द्युलोक भी सूर्य के प्रकाश से ही प्रकाशित होता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह नि:सन्देह कहा जा सकता है कि वैदिक देवताओं में इन्द्र का स्थान सर्वोपरि हैं। इसीलिए परवर्ती साहित्य में इन्द्र को देवताओं का राजा माना गया है तथा अनेक पौराणिक ग्रन्थों में इन्द्र वर्षा कराने वाले देवता के रूप में विख्यात हैं।

३.३ विश्वेदेवा

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का ८९वाँ सूक्त 'विश्वदेवा' सूक्त है। इसमें अनेक देवताओं की एक साथ स्तुति की गयी है। यह सूक्त यजुर्वेद-संहिता में भी उपलब्ध होता है। प्रत्येक शुभ कार्य में इस सूक्त के पाठ का विधान पारम्परिक कर्मकाण्ड में है। जब किसी सूक्त में एक ही साथ अनेक देवताओं की स्तुति की जाती है तो उस सूक्त को विश्वेदेवा सूक्त का अभिधान प्राप्त हो जाता है।

३.३.१ प्रार्थित विषय—

सूक्त के प्रथम मन्त्र द्वारा ऋषि सभी ओर से कल्याणकारी शक्तियों को अपने समीप पहुँचने की कामना करता है तथा देवताओं द्वारा सदैव अपनी रक्षा की इच्छा करता है। द्वितीय मन्त्र में देवताओं के साथ मैत्रीभाव एवं देवताओं द्वारा अपनी आयु की वृद्धि की कामना की गयी है। भग, मित्र, अदिति, मरुद्गण, अर्यमन्, वरुण, सोम एवं दोनों अश्विनीकुमारों का आवाहन तृतीय मन्त्र द्वारा किया गया है। चतुर्थ मन्त्र में दोनों अश्विनीकुमारों द्वारा सुखकर भैषज्य-लाभ की इच्छा तथा छठें मन्त्र द्वारा इन्द्र, वृद्धश्रवा, पूषा, तार्क्ष्य एवं बृहस्पति आदि देवों से अपने कल्याणार्थ प्रार्थना की गयी है। आठवें मन्त्र में कानों से कल्याणकारी बातें सुनने तथा आँखों से कल्याणकारी घटनाएँ देखने के लिए प्रार्थना है। इस प्रकार नवम एवं दशम मन्त्रों द्वारा क्रमश: जीवन के सौ वर्षों की अक्षुण्णता के लिए प्रार्थना एवम् एक ही अदिति की अनेकरूपता का प्रतिपादन किया गया है।

३.३.२ विश्वेदेवा में स्तुतदेवता—

अग्नि, वायु, इन्द्र, बृहस्पति, पूषा, मित्र, भग, वरुण, विष्णु, सविता, दक्ष, अर्यमा सोम, त्वष्टा, द्यावापथिवी, चन्द्रमा, इन्द्राग्नी, मित्रावरुणा, इन्द्रावरुणा, इन्द्रविष्णु,

इन्द्रामरुत्, रुद्रगण, आदित्यगण, मरुद्गण, वसुगण, पृथिवी, सिन्धु, सरस्वती, पृश्नि, पर्जन्य, गाएँ, दिशाएँ, क्षेत्रपति, धर्ता, अप्, समुद्र, अहिर्बुध्न्य, अजएकपाद्, बृहद्दिवादेवी, अश्विनीकुमार, वृद्धश्रवा एवं अदिति।

३.३.३ विश्वेदेवा सूक्त का महत्त्व—

वैदिक कर्मकाण्ड से सम्बन्धित प्रत्येक कर्म में इस सूक्त के पाठ की व्यवस्था है। कार्य की निर्विघ्न समाप्ति एवं वाञ्छित सफलता की प्राप्ति के लिए इस सूक्त का पाठ नितान्त स्पृहणीय माना जाता है।

३.४ विष्णु

विष्णु देवता के स्तवन में सम्पूर्ण ऋग्वेद-संहिता में मात्र ५ सूक्त प्राप्त होते हैं। संख्या की दृष्टि से तो ये सूक्त अत्यल्प हैं परन्तु महत्ता की दृष्टि से विष्णु एक महान् देव हैं। विष् धातु से उत्पन्न विष्णु शब्द का अर्थ है— गतिशील या व्यापनशील देव। विष्णु देवता से सम्बन्धित कुछ प्रमुख तथ्य निम्न प्रकार हैं—

३.४.१ स्वरूप—

वेदों में विष्णु देवता के स्वरूप के सम्बन्ध में विशेष तथ्यों की उपलब्धि नहीं हो पाती। कतिपय स्थलों पर विष्णु को युवक एवं विशाल शरीरधारी देव के रूप में वर्णित किया गया है। विष्णु को भयङ्कर, दुर्गम स्थानों में भ्रमण करने वाला, पर्वत पर निवास करने वाला भी कहा गया है। बलशाली, तीव्र गति वाला, कामनाओं की पूर्ति करने वाला इत्यादि विशेषण विष्णु के लिए प्रयुक्त किये गये हैं।

३.४.२ कार्य—

विष्णु ने अपने तीन डगों से पृथिवी-सम्बन्धी लोकों को नाप लिया है। उसके तीन पादन्यास विश्व की सृष्टि, उसके स्थापन एवं धारण करने के साथ ही साथ आश्रित जनों का पालन-पोषण भी करते हैं। जो लोग विष्णु की स्तुति करते हैं इनका वह सर्वविध कल्याण करता है। वह तीन लोकों को अकेले ही धारण करता है। विष्णु को वाणी में निवास करने वाला भी कहा गया है। विष्णु को परोपकारी, प्रचुर धन का दान करने वाला, उदार, सबका रक्षक एवं विश्व का भरण-पोषण करने वाला देवता भी कहा गया है। इन्द्र ने विष्णु के साथ मिलकर वृत्र का वध किया था।

३.४.३ निवास-स्थान—

जिस स्थान पर पुण्यात्मा जन निवास करते हैं तथा जहाँ मधु-मय उत्स (सरोवर) है, वही विष्णु का निवास-स्थल है। देवता लोग इस स्थान पर विहार करते हैं। यह उच्चतम पद तेजोमय होकर नीचे की ओर अत्यधिक प्रकाशित होता रहता है। यहीं पर द्रुतगामी गायें या किरणें रहती हैं। उपासकगण विष्णु के उसी परम लोक में जाने की कामना करते रहते हैं।

३.४.४ प्राकृतिक आधार—

विष्णु का सम्बन्ध किस प्राकृतिक उपादान के साथ है, इस सम्बन्ध में विद्वानों में

पर्याप्त मतभेद है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि मूलत: वे सूर्य से ही समीकृत किये गये हैं। अधिकांश विद्वान् विष्णु को सूर्यवाची मानकर उदयकाल से मध्याह्नकाल तक उनका प्रथम पादप्रक्षेप, मध्याह्नकाल से अस्तकाल तक द्वितीय पादप्रक्षेप एवं अस्तकाल से अग्रिम उदयकाल तक तृतीय मानते हैं। इन्हीं पूर्वोक्त दो पादप्रक्षेपों को दृष्टिगोचर एवं तृतीय को अगोचर कहा गया है। इस तृतीय पादप्रक्षेप तक पक्षियों का भी पहुँच सकना असम्भव है। वैदिक ऋषि उन्मुक्त प्रकृति में सर्वशक्तिमान् एवं सर्वव्यापक रूप में सूर्य को ही देखते थे, अत: शक्तिशाली देवताओं को सूर्य के साथ समीकृत कर दिया करते थे। विष्णु भी इसके अपवाद नहीं कहे जा सकते।

३.५ वाक्

ऋग्वेद के आध्यात्मिक सूक्तों में वाक्-सूक्त का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इस सूक्त का देवता और ऋषि दोनों वाक् ही है। वाक् को ब्रह्म की शब्दात्मका शक्ति के रूप में चित्रित किया गया है।

३.५.१ वाक् का स्वरूप—

वाक् सम्पूर्ण जगत् की स्वामिनी है। ब्रह्म से साक्षात्कार-पूर्वक तादात्म्य स्थापित कर लेने के कारण वह ब्रह्मस्वरूपा है। वाक् ने पृथिवीलोक तथा द्युलोक को आच्छादित कर रखा है।

३.५.२ सर्वदेशरूपकता—

इस सूक्त में वाक् को ही सत्ता के रूप में स्वीकार किया गया है। अन्य देवी-देवता भी वाक् के ही रूप हैं। वाक् ही रुद्रों और वसुओं के रूप में विचरण करती है तथा वही आदित्यों और विश्वदेवों के रूप में भी विचरणशील है। मित्र, वरुण, इन्द्र, अग्नि और अश्विन् देवताओं को वाक् ही धारण करती है। शत्रुसंहारक सोम, त्वष्टा, पूषा और भग भी उसी के स्वरूप हैं। इतना ही नहीं, सभी यज्ञीय देवताओं में वह सर्व-प्रधान है।

३.५.३ वाक् के कार्य—

वाक् को लोकोपकारिणी देवी के रूप में चित्रित किया गया है। वाक् सोमाभिषव करने वाले देवताओं को, हवि प्रदान करने वाले यजमान को धन-सम्पत्ति प्रदान करती है तथा उसकी रक्षा भी करती है। ब्रह्मद्वेषी समाजोत्पीड़कों के विनाश के लिए रुद्र के धनुष को तानने वाली वाक् देवी लोक-हितार्थ अनेक अशुभ शक्तियों से युद्ध करती है। वाक् जिसे चाहती है उसे बलशाली, ब्रह्मनिष्ठ, ऋषि एवं सुन्दर बुद्धियुक्त बना देती है। वाक् वायु के समान स्वच्छन्द रूप में प्रवर्तित होती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वाक् ही पृथ्वी एवं द्युलोक को उत्पन्न करने वाली है। वाक् ही सम्पूर्ण लोकों में व्याप्त भी है। वाक् का स्वरूप तो पृथ्वी एवं द्युलोक से भी परे है। सायणादि वैदिक व्याख्याकार इस वाक् को ब्रह्म-साक्षात्कार कर लेने वाली, अम्भृण की पुत्री वाक् नाम्नी ऋषिका द्वारा की गयी अपनी ही स्तुति स्वीकार करते हैं। इस प्रकार यह निश्चित ही ब्रह्म की शब्दात्मिका शक्ति है।

३.६ पुरुष

ऋग्वेद-संहिता के दशम मण्डल में कतिपय ऐसे सूक्त उपलब्ध होते हैं जो देव-स्तुतियों से भिन्न हैं। पुरुष-सूक्त भी इन्हीं सूक्तों में से एक है। इस सूक्त में सृष्टि-उत्पत्ति से सम्बन्धित वर्णन किया गया है। इस सूक्त में आदिपुरुष के शरीर से देवताओं द्वारा सृष्टि का निर्माण किया जाना वर्णित है। इसमें सृष्टिरचना की प्रक्रिया को एक यज्ञ का रूप दिया गया है। कतिपय परिवर्तनों के साथ यह सूक्त सामवेद, शुक्ल-यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में भी उपलब्ध होता है।

३.६.१ पुरुष का स्वरूप—

पुरुष सहस्र शिरों, सहस्र नेत्रों एवं सहस्र पैरों वाला देव है। यहाँ पर 'सहस्र' शब्द उपलक्षण-मात्र है। सहस्र का अर्थ असङ्ख्य है। वह सम्पूर्ण भूमण्डल को व्याप्त करने के पश्चात् भी कुछ अवशिष्ट रहता है। इस कथन का तात्पर्य यह है कि पुरुष ही सर्वव्यापी ईश्वर है जो संसार में सर्वत्र व्याप्त है तथा जीवों के सभी क्रिया-कलापों का निरीक्षण करते हुए उसे कर्मफल भी प्रदान करता है।

३.६.२ पुरुष का विभाजन—

विराट् पुरुष का एक-चौथाई भाग मायोपहित होकर जन्म-मरण के बन्धन में पड़ता रहता है। उसका तीन-चौथाई भाग अपेक्षाकृत अत्यधिक उत्कृष्ट है तथा विनाश-रहित है एवं द्युलोक में स्थित है। उसका एक-चौथाई भाग ही जड़ और चेतन के रूप में व्यवस्थित होता है।

३.६.३ पुरुष के द्वारा यज्ञ—

सृष्टि की उत्पत्ति के लिए देवताओं, ऋषियों एवं साध्यों ने जो यज्ञ किया, उसमें पुरुष को ही हवि के रूप में कल्पित किया। उस यज्ञ में घृत, ईधन एवं हविष् के रूप में क्रमशः वसन्त, ग्रीष्म और शरद् ऋतुओं का प्रयोग हुआ।

इस यज्ञ को मानस-यज्ञ के प्रतीक के रूप में भी मानने की अवधारणा विद्वानों में व्याप्त है। इस मानस-यज्ञ में सत्त्व, रजस् एवं तमस् गुण ही प्रधान हैं। इन्हें ही आज्य, ईंधन और हवि के रूप में परिकल्पित किया गया है।

३.६.४ पुरुष द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति—

उसी पुरुष से विराट् की उत्पत्ति हुई। पशु-पक्षी भी उसी से उत्पन्न हुए। पुरुष के मुख से ब्राह्मण, बाहुओं से क्षत्रिय, उरुओं से वैश्य एवं दोनों पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए। सूर्य, चन्द्र, इन्द्राग्नी और वायु आदि देवताओं की उत्पत्ति क्रमशः पुरुष के नेत्र, मन, मुख और प्राण से हुई है। उपर्युक्त देवों के निवास के लिए द्युलोक, अन्तरिक्ष एवं पृथिवी लोक की उत्पत्ति क्रमशः शिर, नाभि एवं पादों से हुई। ऋक्, यजुष्, सामन् एवं छन्दस् की भी उत्पत्ति उसी से हुई।

३.७ शिवसङ्कल्प

शुक्ल-यजुर्वेद के ३८वें अध्याय में यह सूक्त प्राप्त होता है। इसमें ऋषि अपने मन को कल्याणकारी सङ्कल्पों से युक्त होने की कामना करता है। मनोविज्ञान में मन को जीवन का एक अनिवार्य तत्त्व स्वीकार किया गया है। मन के द्वारा ही सभी कर्मेन्द्रियाँ एवं ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने में समर्थ होती हैं। इसीलिए भारतीय दर्शनों में मन को उभयेन्द्रिय माना गया है। मन के द्वारा ही अप्रमेय एवं ध्रुव सत्य का दर्शन होता है—

'मनसैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुवम्।'

३.७.१ मन के कार्य—

प्रस्तुत सूक्त में वर्णित मन के कार्यों को इस प्रकार प्रतिपादित किया जा सकता है।

मन जाग्रदवस्था में क्षणमात्र में अति दूर गमन कर सकता है तथा दूसरे ही क्षण त्यागमन भी कर सकता है। दूरगामी शक्तियों में सर्वशक्तिमान् मन ही है। मन के द्वारा ी भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् सब कुछ सम्यक्रूपेण जाना जाता है तथा मन के द्वारा ी सभी प्रकार के यज्ञ आदि सम्पन्न किये जाते हैं। जिस प्रकार रथ की नाभि में 'आरे' तीलियाँ) प्रतिष्ठित होती हैं उसी प्रकार ऋक्, यजुष् एवं साम मन के अन्तर्गत ही तिष्ठित होते हैं। मन ही सात होता से युक्त यज्ञ का विस्तार भी करता है। जिस प्रकार तुर सारथि लगाम के द्वारा घोड़ों को नियन्त्रित करता है उसी प्रकार मन मनुष्यों को च्चालित करता है।

३.७.२ शिवसङ्कल्प का महत्त्व—

प्रस्तुत सूक्त ऋग्वेद के खिल भाग (४।११) में भी प्राप्त होता है। वहाँ पर इस सूक्त ं १३ ऋचाएँ हैं। खिलानुक्रमणी में इस सूक्त को शिवसङ्कल्प नाम दिया गया है। ग्निपुराण में इस सूक्त के जप से मन के शान्त होने का विधान किया गया है—

शिवसङ्कल्पजापेन समाधिं मनसो लभेत्।
येनेदमिति जप्त्वा समाधिं विन्दते परम्।।

— अग्निपुराण (२५९/९३)

ऋग्विधान (४।१०४,१०५) में भी अग्निपुराण के कथन का समर्थन किया या है—

येनेदमिति वै नित्यं जपेत नियतव्रतः।
समाधिं मनसस्तेन विन्दते नैव मुह्यति।।

मनुस्मृति १२।२५१ में शिवसङ्कल्पसूक्त को पापहारी बतलाया गया है, तथा िकाकार मेधातिथि ने भी श्राद्ध के समय इस सूक्त के पाठ का विधान किया है— **व्रलानि श्रीसूक्तशिवसङ्कल्पादीनि श्राद्धे ब्राह्मणान् श्रावयेत्** (मनु० ३।२३२ पर मेधातिथि।)

प्रस्तुत सूक्त में मन के शुभ सङ्कल्पों से युक्त होने की कामना की गयी है। यदि क्ति का मन शुभसङ्कल्पों से युक्त होगा तो उसे इस जीवन में किसी प्रकार के

दु:ख का सामना नहीं करना पड़ेगा; क्योंकि सभी दु:खों का मूलकारण मन की असन्तुष्टि ही है।

अभ्यास -

(१) निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिए-

(क) शिवसङ्कल्प का किस वेद में प्रतिपादन किया गया है?

(ख) ऋग्वेद का प्रथम सूक्त किस देवता को समर्पित है ?

(ग) क्षत्रियों की उत्पत्ति की कल्पना, विराट् पुरुष के किस अङ्ग से की गयी है?

(२) इन्द्र के कार्यों का विवेचन कीजिए।

(३) निम्नलिखित देवताओं के स्वरूप पर प्रकाश डालिए-

(क) अग्नि

(ख) विष्णु

(ग) इन्द्र

(४) विश्वेदेवासूक्त का महत्त्व प्रतिपादित कीजिए।

इकाई–४ वैदिक भाषा की विशेषताएं और ऋग्वेद के छन्द

४.० उद्देश्य

४.१ वैदिक भाषा की विशेषताएँ

४.२ ध्वन्यात्मक विशेषताएं

४.२.१ स्वरगत धवन्यात्मक विशेषताएँ

४.२.२ व्यञ्जनगत विशेषताएँ

४.३ सन्धिगत विशेषताएँ

४.४ स्वराघात

४.५ धातुरूप

४.६ शब्दरूप

४.७ वाक्यविन्यास

४.८ वैदिक स्वरप्रक्रिया

४.८.१ स्वरों के सामान्य नियम

४.८.२ सन्धियाँ होने पर स्वर की स्थिति

४.८.३ स्वरों में परिवर्तन के सामान्य नियम

४.८.४ स्वराङ्कनविधि

४.९ ऋग्वेद के छन्द

४.९.१ गायत्री

४.९.२ उष्णिक्

४.९.३ अनुष्टुप्

४.९.४ त्रिष्टुप्

४.९.५ बृहती

४.९.६ जगती

४.९.७ पंक्ति

४.९.८ छन्दों के विषय में विशेष

४.० उद्देश्य

इस इकाई में आप-

- वैदिक भाषा की विशेषताओं को जान सकेंगे।
- वैदिक भाषा की ध्वन्यात्मक विशेषताओं को समझ सकेंगे।
- वैदिक भाषा की सन्धिगत विशेषताओं को जानेंगे।
- स्वराघात को समझ सकेंगे।
- धातुरूप और शब्दरूप से सम्बन्धित विशेषताओं को समझ लेगें।
- वैदिक वाक्य विन्यास का ज्ञान प्राप्त करेंगे।
- वैदिक स्वर प्रक्रिया को समझ सकेंगे।

- ऋग्वेदीय छन्दों की जानकारी कर लेंगे।

४.१ वैदिक भाषा विशेषताएँ

ऋग्वेद की भाषा आर्यों की सबसे प्राचीन साहित्यिक भाषा के रूप को प्रस्तुत करती है। यह लौकिक संस्कृत से अनेक रूपों में भिन्न हैं। चतुर्थ शताब्दी ई० पू० पाणिनि ने लौकिक संस्कृत के जिस रूप को निर्धारित किया था, वह रूप हजारों वर्षों के व्यतीत हो जाने पर भी आज विद्यमान है। परन्तु वैदिक भाषा पर पाणिनीय व्याकरण के वे नियम समग्र रूप से लागू नहीं होते। यद्यपि पाणिनि ने वैदिक भाषा के सम्बन्ध में भी व्याकरण के नियमों को बनाने का प्रयास किया था, परन्तु वे उसको पूर्णतया नियमों में बाँध नहीं सके। वैदिक भाषा के सम्बन्ध में अपवादरहित नियमों को नहीं बनाया जा सका तथा "बहुलं छन्दसि" कहकर रूपों की विविधता को स्वीकार करना पड़ा।

वेदों की भाषा में संस्कृत भाषा की अपेक्षा व्याकरण की कुछ भिन्नता तो है ही, शब्दावली एवं संज्ञारूपों की और भी अधिक भिन्नता है। संस्कृत जानने वाले व्यक्ति को वैदिक शब्दों के अर्थों को समझने में कठिनाई होती है और उन अर्थों को जानने के लिए विशेष प्रयत्न करना पड़ता है। शब्दों और धातुओं की संख्या, रूप स्वर आदि की दृष्टि से वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत में बहुत से अन्तर दिखायी देता है। कुछ मुख्य अन्तर यहाँ प्रदर्शित किये जा रहे हैं।

४.२ ध्वन्यात्मक विशेषतायें

वेदों की भाषा में स्वर और व्यञ्जनों की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं, जो लौकिक संस्कृत में नहीं रहीं।

४.२.१ स्वरगत ध्वन्यात्मक विशेषताएँ—

वैदिक शब्दों में स्वरों का उच्चारण संगीतात्मक है अर्थात् स्वरों का उच्चारण करते समय उनमें स्वराघात पर ध्यान रखना होता है। स्वराघात से शब्दों के अर्थों का निर्धारण होता है।

लौकिक संस्कृत में ह्रस्व और दीर्घ दो प्रकार के स्वर के व्यवहृत होते हैं। इसमें क्रमशः एक और दो मात्राएँ होती हैं। वैदिक संस्कृत में स्वरों के तीन प्रकार हैं— ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत। प्लुत में तीन मात्राएँ होती हैं और स्वर को अधिक लम्बा करके उच्चारण किया जाता है। प्लुत को इस प्रकार लिखा जाता है— आसी३त् विदन्ती३।

वेदों में 'ऌ' स्वर का प्रचुर प्रयोग है। परन्तु लौकिक संस्कृत में इसका प्रयोग प्रायः बन्द सा हो गया था।

अ, आ, इ, उ, ऋ ये स्वर यदि किसी शब्द के अन्त में हों और इसके बाद किसी स्वर के होने पर सन्धि होने की सम्भावना हो तो अनुनासिक हो जाते हैं। जैसे १०.१४६.१ में विन्दतीं ३। संहिता पाठ से उ को पदपाठ में ऊँ इति उच्चारण किया जाता है।

अनुस्वार और विसर्ग, जो कि स्वर और व्यञ्जन की स्थिति रखते हैं, इनका उच्चारण वैदिक भाषा की अपेक्षा लौकिक संस्कृत में भिन्न हो गया है। लौकिक संस्कृत के सिंह को वैदिक में सिवँ्ह उच्चारण किया जाना चाहिये।

४.२.२ व्यञ्जनगत विशेषताएँ—

वैदिक भाषा में दो अतिरिक्त व्यञ्जन ळ और ळह् है जिनका ड् प्रयोग और ढ् के स्थान पर किया गया है, जैस इळा और साह्ळा। वेद में अनेक बार व्यञ्जनों से पूर्व उसी व्यञ्जन को अनुनासिक बनाकर युगल रूप में उच्चारण किया जाता है। तब उस व्यञ्जन को यम कहते हैं। यथा— असिक्नी चख्नतु:; जग्मिवान् और जघ्नतु: के क्, ख्, ग् और घ् से पहले अनुनासिक कँ, खँ, गँ, और घँ, का उच्चारण होता है। संयुक्त व्यञ्जनों का उच्चारण प्राय: द्वित्व रूप में होता है, जिसको क्रम कहते हैं, यद्यपि इसके अनेक अपवाद भी हैं तथा स्तौंत् को अस्तौत्, ह्वयामि को हह्वयामि और स्यन्दन्ताम् को स्स्यन्दन्ताम् उच्चारण करना चाहिये।

अनेक बार स्वरभक्ति का प्रयोग करते हैं। यथा— इन्द्र को इन्दर उच्चारण होता है। अनेक बार य् और व् से पहले उच्चारण में इ और उ आ जाता है। यथा— वीर्यम् को वीरियम्, स्व: को सुव: उच्चारण किया जा सकता है।

४.३ सन्धिगत विशेषताएँ

वैदिक संस्कृत में सन्धियों के प्राय: वे ही नियम हैं, जो लौकिक संस्कृत में हैं परन्तु वैदिक संस्कृत में उन नियमों का पालन उतना कठोर नहीं है तथा उनमें अनेक अपवाद हैं। ऋक्प्रातिशाख्य में सन्धियों के नियमों को बताया गया हैं। ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर लौकिक संस्कृत की अपेक्षा सन्धि-नियमों के अपवाद दिखायी देते हैं। उदाहरण के लिए ए और ओ के बाद अ का पूर्वरूप होना चाहिये। वेदों में कहीं होता है और कहीं नहीं भी होता है। उदाहरण के लिए "सोऽयमागात्" (ऋ० १०.५३.१) और "तेऽवदन्" (ऋ० १०.१०९.१) में अ का पूर्वरूप हुआ है, परन्तु "शिक्षन्तो अव्रतम्" (ऋ० ६.१४.३) में नहीं हुआ। कहीं पर एक ही शब्द में पूर्वरूप होने और न होने दोनों प्रकार के प्रयोग मिलते हैं यथा— "गावोऽनवन्त" (ऋ० ५.३०.१०) में गावों के बाद अ का पूर्वरूप हुआ और "भावो अ" (ऋ० ६.२८.१) में नहीं हुआ।

अनेक बार सन्धियाँ नहीं होती और एक ही शब्द में दो शब्द निरन्तरता से मिलते है। यथा— तितउ, प्रउग, गोओपशा, गोऋजीक आदि शब्दों में सन्धि नहीं हुई।

विसर्ग सन्धि में अनेक अपवाद देखे जाते है अनेक बार सन्धि करने के लिए विसर्ग का लोप हो जाता है। यथा— भूमि: + आददे = भूम्याददे (ऋ० १०.६१.१०)।

दीर्घ स्वर के बाद न् हो और उसके परे स्वर हो तो न् का लोप और पूर्ववर्ती स्वर अनुनासिक हो जाता है। यथा— महान् + इन्द्र: = महाँइन्द्र।

४.४ स्वराघात

वैदिक व्याकरण में स्वराघात का बहुत महत्व है। वेद-मन्त्रों के उच्चारण करने में और उनका अर्थ करने में स्वराघात को ध्यान में रखना पड़ता है। किसी भी शब्द पर विशेष बल डालकर उच्चारण करना स्वराघात या स्वर है। वैदिक मन्त्रों में तीन प्रकार के स्वर होते हैं— उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। इनके नियमों को आगे विस्तार से बताया जाएगा। स्वराघात वैदिक भाषा की अपनी विशेषता है और इससे यह भाषा संगीतात्मक हो गयी हैं। शब्दों में स्वराघात के परिवर्तित होने से अर्थों में भी परिवर्तन हो जाता है।

ऋग्वेद के दो प्रकार के पाठों— संहितापाठ एवं पदपाठ में शब्दों के स्वर परिवर्तित हो सकते हैं। लौकिक संस्कृत में स्वराघातों का महत्त्व समाप्त हो गया था। तुलनात्मक भाषाविज्ञान में वैदिक भाषा के इस स्वराघात का बहुत अधिक महत्त्व हैं।

४.५ धातुरूप

लौकिक संस्कृत की अपेक्षा वैदिक संस्कृत धातुरूपों की दृष्टि से बहुत अधिक सम्पन्न हैं। प्रतीत होता है कि ऋग्वेद के युग में आर्यों में बोली जाने वाली सभी विभाषाओं और बोलियों को वैदिक भाषा में सम्मिलित कर लिया गया था, क्योंकि एक प्रकार की ही धातुओं के अनेक अर्थ और रूप ऋग्वेद में दृष्टिगोचर होते हैं तथा उनके काल और विभक्तियों के अर्थ भी निश्चित नहीं है। धातुओं, से लगाये जाने वाले प्रत्ययों में भी बहुत विविधता दृष्टिगोचर होती है। ब्राह्मणों के युग तक वैदिक भाषा का रूप बहुत कुछ नियमित हो गया था, क्योंकि उसमें यह विविधता कम हो गयी थी तथा रूपों, कालों और विभक्तियों का स्वरूप बहुत कुछ निर्धारित हो गया था। वैदिक भाषा में रूपों की विविधता "कृ" धातु के उदाहरण से, जिसका प्रयोग बहुत अधिक हुआ और है, देखी जा सकती हैं।

मूल धातु "कृ" है। इसके करु, कुरु रूप बनते हैं— करोति, कुरुते, अकरोत्, अकुरुत: आदि। "कृ" का कर् रूप भी बनता है— अकरवम्, अक्रि, अकार्षम्, करिष्यति, अकरिष्यत कृधि, कर, करम् करसि' करसे, करिष्य: आदि। "कृ" को चकृ में भी परिणत किया गया है— चकार, चक्रे, चकरम्, अचक्रत्, चक्रिया, चकृवम्, चक्राण आदि। "कृ" को कृणु के रूप में लिया गया है— कृणोति, कृणुते, अकृणोत्, कृणु, कृणुष्व, कृण्वीत, कुणवत्, कृण्वत्, कृण्वान:। "कृ" के अन्य रूप भी बने हैं— क्रियते, कारयति, चकीर्षति, चरिकृत्, करिकृत् आदि।

धातु के इतने रूप लौकिक संस्कृत में नहीं मिलते। इसके अतिरिक्त धातुरूपों की दृष्टि से वैदिक संस्कृत में कुछ नीचे लिखी विशेषताएँ उदाहरण के रूप में दी जाती हैं

(क) वैदिक संस्कृत में धातुओं के परस्मैपद और आत्मनेपद पद होने के सम्बन्ध में विशेष नियम नहीं है। कोई भी धातु दोनों में प्रयुक्त हो सकती है। जैसे "गम्" धातु लौकिक संस्कृत में परस्मैपदी है, परन्तु वेद में गच्छति, गच्छते और जगाम्, जागे दोनों पदों के रूप हो सकते हैं।

(ख) वैदिक भाषा में लङ् लुङ् औ लिट् लकार का प्रयोग किसी भी काल में हो सकता है, जबकि लौकिक संस्कृत में उनका प्रयोग भूतकाल में होता है। पाणिनि ने "छन्दसि लुङ् लङ् लिट:" (अष्टाध्यायी ३.४.३) सूत्र द्वारा इस नियम को बनाया है। जैसे— "अग्निमद्य होतारमवृणीतायं यजमान:" का अर्थ है कि आज यजमान होता अग्नि का वरण करता है। यहाँ वर्तमान काल में "अवृणीत" इस लङ् लकार का प्रयोग हुआ है।

(ग) लौकिक संस्कृत में १० लकारों का प्रयोग होता है, परन्तु वैदिक संस्कृत में लेट् लकार अधिक है। लेट् लकार का प्रयोग प्राय: भूतकाल में हुआ है। यथा— संविता धर्म साविषत्। तारिषत्, जोषिषत्, पतति, जीवाति, भवाति, ईशै आदि क्रियाओं का प्रयोग वेदों में ही मिलता है। परन्तु अन्य अर्थों में भी लेट् लकार हो सकता है। पाणिनि ने लिङ् के अर्थ में लेट का विधान किया है। (लिङर्थे लेट्— अष्टा० ३.४.७)।

(घ) वेद में लिट् लकार के अनेक रूप दिखायी देते हैं। सामान्यत: इसका प्रयोग सामान्य भूतकाल में किया जाता है। परन्तु वर्तमान काल में भी इसका प्रयोग मिलता है। लिट् के स्थान पर कानच् अग्नि चिक्यान: और क्वासु-पषिवान्' जग्मिवान प्रयुक्त हैं।

(ड़) वैदिक भाषा में शप् के आगम और लोप के सम्बन्ध में विशेष नियम नहीं हैं। जैसे— हान्ते और हनति एवं शेते और शयते दोनों प्रकार के रूप वेद में बनते हैं।

(च) लकारों के रूपों के सम्बन्ध में भी बहुत विविधता दृष्टिगोचर होती है। यथा— कृ धातु लट् लकार के प्रथम पुरुष के एक वचन में— कृणोति, कृणुते, करोति, कुरुते, करति रूप बनते हैं। करति— करत (एकवचन), करत: (द्विवचन), करन्ति— करन् (बहुवचन) रूप भी चलते हैं। लोट् लकार के उत्तम पुरुष के बहुवचन में मसि और मध्यम पुरुष बहुवचन में तात, त, और थन प्रत्ययों का प्रयोग होता है। यथा— कृणुतात्, शृणोत्, सुनोतन, यतिष्ठन !

(छ) वैदिक भाषा में प्रत्ययों की विविधता भी दृष्टिगोचर होती है। तुमुन् प्रत्यय के अर्थ में इस प्रत्यय के अतिरिक्त से, सेन् असे, असेन् कसे, कसेन्, अध्यै, अध्यैन्, कध्यै, कध्यैन्, शध्यैन्, तवै, तवैङ्, तवेन्— ये १५ प्रत्यय प्रयोग किये जाते हैं। से, सेन्— एजे (आने के लिये)। असे, असेन् जीवसे (जीने के लिये) कसे, कसेन्, श्रियसे (आश्रय पाने के लिये)। अध्यै, अध्यैन् उपाचरध्यै (आचरण करने के लिये)। कध्यै, कध्यैन्— आहुवध्ये (आह्वान् करने के लिए)। शध्यै, शध्यैन्— पिबध्यै (पीने के लिए)। तवै— पातवै (पिलाने के लिए)। 'तवेङ्— सूतवे (उत्पन्न करने के लिए)। गवेन्— गन्तवे (जाने के लिए)।

(ज) नाम धातु बनाने के लिए य लगाया जा सकता है। यथा— श्रवस्य, गव्य, नमस्य, मुजाय, समर्य, वृषाय, सुम्नाय आदि।

(झ) त्वा प्रत्यय अनेक स्थानों पर त्वी, त्वाय या त्वीन के रूप में मिलता हैं। यथा— हित्वी— छोड़कर (२.३८.६) युद्ध्वी— युद्ध करके (१०.१०८.५)।

४.६ शब्दरूप

वैदिक भाषा में शब्दों के रूप लौकिक संस्कृत की अपेक्षा यद्यपि अधिक भिन्न नहीं हैं, तथापि वैदिक शब्दों के रूपो में लौकिक संस्कृत की अपेक्षा विविधता है। वैदिक शब्दों की कुछ विशेषताएँ निम्न हैं—

(क) अकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दों के प्रथमा विभक्ति के द्विवचन में आ और ओ को आ उच्चारण करने का उदाहरण "द्वा सुपर्णा संयुजा सखाया" में स्पष्ट हैं।

(देवा, देवौ) दोनों रूप मिलते हैं। बहुवचन में आ: और आस: (देवा:, देवास: जना: जनास:; मर्त्या: मर्त्यास:) दो प्रकार के रूप बनते हैं। तृतीया विभक्ति के एकवचन में एन और एना (देवेन, देवेना) एवं बहुवचन में ऐ: और एभि: (देवै:, देवेभि:) रूप बनते हैं।

(ख) अकारान्त नपुंसकलिंग में प्रथमा और द्वितीया के बहुवचन में आ और आन (वना, वनानि) ये दो रूप बनते हैं।

(ग) अकारान्त स्त्रीलिंग में प्रथमा के बहुवचन में आः और आसः रूप बनते हैं।

(घ) इकारान्त पुंल्लिङ्ग शब्दों के सप्तमी के एकवचन में आ और औ (अग्ना, अग्नौ) दो रूप प्रचलित हैं।

(ङ) ईकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों के तृतीया के एकवचन में शुच्या शुची जैसे दो रूप बनते हैं। चतुर्थी के एकवचन भृत्यैः भृत्याः इस प्रकार से दो रूप बनते हैं।

(च) ईकारान्त और ऊकारान्त शब्दों के प्रथमा और द्वितीया के एकवचन में नद्यौ, वध्वौ इस प्रकार के रूपों के साथ नदी और वधू रूप भी बनते हैं। प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में नद्यः वध्वः के साथ ही नदी और वधूः रूपों का प्रयोग होता है।

(छ) उकारान्त शब्दों के षष्ठी के एकवचन में मधोः, मध्वः इस प्रकार से दो रूप एवं सप्तमी के एक वचन में मधो मधूनि रूपों का प्रचलन हैं।

(ज) बिना रूप परिवर्तन के भी विभक्तियाँ बन जाती हैं। किसी भी विभक्ति के किसी भी वचन के लिए प्रथमा विभक्ति के एकवचन का प्रयोग कर दिया जाता है; अथवा मूल शब्द का प्रयोग कर दिया जाता है। शब्द के अन्तिम स्वर को दीर्घ करने से अथवा उसमें आ जोड़ने से कुछ विभक्तियों के रूप निष्पन्न हो जाते हैं।

(झ) वैदिक भाषा में सर्वनाम शब्दों के रूप लौकिक संस्कृत की अपेक्षा अधिक हैं; जैसे— युष्मद् प्रथमा त्वम्' यूयम्, यूवम्। तृतीया एकवचन— त्वा, त्वया; द्विवचन— युववाभ्याम्। पञ्चमी— त्वद्, युवद्, युष्मद्। षष्ठी— द्विवचन युवोः। सप्तमी— एकवचन त्वे, त्वयि; बहुवचन— युष्मे।

अस्मद्-प्रथमा— अहम्, वाम्, वयम्। द्वितीया— माम्, आवाम्, अस्मान्। चतुर्थी एकवचन— मह्यम्, मह्य। सप्तमी बहुवचन— अस्मासु, अस्मे।

तद्— प्रथमा द्वितीया विभक्ति द्विवचन ता, तौ। तृतीया बहुवचन— तैः तेभिः। सप्तमी एकवचन— तस्मिन् सस्मिन्।

इदम्— तृतीया एकवचन अया, अनया।

अदस्— तृतीया एकवचन अयुया।

एनत्— षष्ठी द्विवचन— एनोः,एनयो।

किम्— प्रथमा एकवचन नपुसंकलिंग— किम्, कद्। तृतीया बहुवचन— केभिः।

स्व—सप्तमी एकवचन— स्वे, स्वस्मिन्।

क्रिया विशेषण

ऋग्वेद में अनेक संज्ञाओं और सर्वनामों को क्रिया विशेषण के रूप में प्रयुक्त किया गया है। यथा— अना (४.३०.३), ईमां (५.७३.३), शश्वधा (३.३३.७), अप्रायु (५.८०.३), उपपृक (१.३२.५), वामंवामं (४.३०.२४), द्यविद्यवि (१.२५.१) आदि।

४.७ वाक्य-विन्यास

वाक्य-विन्यास की दृष्टि से भी वैदिक संस्कृत लौकिक संस्कृत में कुछ भेद है। ऋग्वेद में संज्ञाओं के साथ श्रेष्ठता वाचक प्रत्ययों का प्रयोग मिलता है, यथा— कण्वतमः (१.४८.४), मातृतमा, (३.३३.३), कवितरः (१.८६.७)। लौकिक संस्कृत

में इन प्रत्ययों का प्रयोग विशेषणों के साथ ही किया जाता है। अनेक वाक्यों में एक अर्थ के द्योतक दो क्रिया विशेषणों का प्रयोग है। अनेक वाक्यों में क्रिया का प्रयोग नहीं है या उनमें व्याकरण के अनुक्रम की कमी है। कुछ वाक्यों में पूरक सर्वनाम नहीं है। यथा— १.२५.७ मन्त्र में 'यः' के बाद 'सः' सर्वनाम आना चाहिये था, वह नहीं है। अनेक स्थानों पर एक संज्ञा में संलग्न दूसरी संज्ञा दी गई है, जिससे रूपक ध्वनित होता है। जैसे १.११.३८ में अग्निम् अत्रिम् संज्ञाओं में अग्निरूपी अत्रि अर्थ व्यक्त होता है।

वैदिक संस्कृत में संज्ञा के अधिकारक उपसर्गों का स्वतन्त्र पृथक् प्रयोग बहुधा मिलता है। जैसे— रोचनात् अधि (१.४९.१), मानुषान् अभि (१.४८.७) अध्वरान् उप (१.४८.११), गिरिभ्यः आ (७.९५.१) उत्तानपदः परि (१०.७२.३) आदि में है।

वैदिक संस्कृत में अनेक शब्द ऐसे हैं, जिनका प्रयोग लौकिक संस्कृत में यथा— ईम्, विचर्षणी, उक्थ, ऊति, उर्विया, सीम्, रिग्वन् आदि प्रयुक्त नहीं होते।

वैदिक संस्कृत में अनेक शब्दों के अर्थ लौकिक संस्कृत में परिणत हो गये हैं। वेद में 'अराति' का अर्थ कृपणता और शत्रुता दोनों हैं, लौकिक संस्कृत में इसका अर्थ शत्रु है। 'अरि' ईश्वर का वाचक शब्द लौकिक संस्कृत में शत्रु अर्थवाची हो गया। वेद में 'वध' का अर्थ भयानक हथियार है, लोक में मरना। 'मृडीक' का अर्थ कृपा करनने वाला था पर लौकिक संस्कृत में इसका अर्थ शिव है। वेद में 'इव' के अर्थ के लिऐ 'न' का प्रचुर प्रयोग हुआ है, पर लौकिक संस्कृत में इसका प्रयोग नहीं के अर्थ में होता है।

ऊपर वैदिक भाषा और लौकिक संस्कृत की भिन्नता को यत्किञ्चित् दिखलाया गया है। यह केवल संकेत मात्र है। इन भाषाओं में भिन्नता के और भी अनेक उदाहरण और संकेत है। पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' के वैदिक व्याकरण से सम्बन्धित अंशों से तथा 'सिद्धान्तकौमुदी' की वैदिक प्रक्रिया से इस सम्बन्ध में बहुत कुछ ज्ञात हो सकता है। पहले वैदिक भाषा सामान्य की बोलचाल की भाषा रही होगी, जिससे उस युग में ऋषियों ने वैदिक ऋचाओं का संकल्प किया। हजारों वर्षों की अवधि में भाषागत परिवर्तन होते रहे। पाणिनि के समय में जो भाषा शिष्टजनों में व्यवहृत होती थी, उसको उन्होंने नियमो में बाँधकर एक परिष्कृत रूप दिया। उसके बाद संस्कृत भाषा का रूप अविच्छिन्न रूप से उसी प्रकार चल रहा है।

१.८ वैदिक स्वर-प्रक्रिया

वेदों की भाषा को संगीतात्मक कहा जाता है। वेद-मन्त्रों का पाठ विशेष स्वरों द्वारा या विशेष अक्षरों पर बल देकर किया जाता है। किसी शब्द के किसी अक्षर को स्वर से पढ़ा जाता है, इससे उस शब्द के अर्थ का निर्णय होता है। यदि किसी शब्द के अक्षर का स्वर को बदल दिया जाये, तो उस शब्द का अर्थ परिवर्तित हो जायेगा। उदाहरण के लिए 'इन्द्रशत्रुः' शब्द है। इसमें दो पद हैं, इन्द्र और शत्रु। यदि आदि पद को उदात्त समझा जावे, तो इसका विग्रह बहुव्रीहि समास में 'इन्द्रः शत्रु यस्य सः' अर्थात् 'इन्द्र को मारने वाला' होगा। यदि अन्तिम पद को उदात्त माना जाये तो इसका विग्रह पुरुष समास में 'इन्द्रस्य शत्रु' होगा। अर्थात् इन्द्र को मारने वाला होगा। इस प्रकार के स्वर के परिवर्तन के अर्थ विपरीत हो जाता है।

वैदिक भाषा की स्वरगत यह विशेषता प्राचीन ग्रीक, लैटिन आदि भाषाओं में भी रही थी। जर्मन आदि भाषाओं में अब भी यह विशेषता मिलती है। ग्रीक शब्द (Lithoblos) में यदि अन्तिम स्वर पर बल दिया जावे तो इसका अर्थ 'पत्थर फेंकने वाला' होगा तथा आदि के स्वर पर बल दिया जाने पर 'पत्थरों से आहत' अर्थ होगा। जर्मन भाषा के 'Urirg hen' शब्द के अन्तिम स्वर पर स्वराघात होने पर इसका अर्थ 'उपेक्षा करना' होगा, एवं पहले स्वर पर स्वराघात होने पर इसका अर्थ 'पार करना या ऊपर से जाना' होगा। अंग्रजी भाषा के 'Conduct' शब्द को लें। यह संज्ञावाची और क्रियावाची दोनों में है। यदि 'Con' पर बल देगे तो संज्ञावाची होगा एवं 'Duct' पर बल देने पर क्रियावाची शब्द होगा। स्वर की यह प्रक्रिया प्राय: सभी भाषाओं में कुछ न कुछ अवश्य मिलती हैं।

वेदों के अर्थों को समझने के लिए स्वरों का ज्ञान आवश्यक है। इसलिए 'तैत्तिरीय उपनिषद्' के दूसरे अनुवाक में लिखा है— "वर्ण: स्वरो मात्रा बलम् इत्येतज्जिज्ञासितव्यम्" अर्थात् वेदों के अर्थों को समझने के लिये वर्ण, स्वर, मात्रा, बल इन सबको जानना चाहिए। पाणिनि ने अपनी 'पाणिनीय शिक्षा' में एवं 'अष्टाध्यायी' में स्वरों के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन किया है तथा स्वरों से सम्बन्धित नियमों को बताया है।

स्वर तीन होते हैं— उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। इनके उच्चारण के सम्बन्ध में पाणिनि ने बताया है— उच्चैनुदात्त:, नीचैनुदात्त: समाहार, स्वरित:। अर्थात् जिस स्वर पर बल देकर ऊँचा उच्चारण किया जाता है, वह उदात्त होता है। हल्के से उच्चारण किया जाने वाला स्वर अनुदात्त हैं और दोनों से मिश्रित स्वर स्वरित हैं। वेदों में प्रत्येक स्वर निश्चित ही उदात्त, अनुदात्त या स्वरित होगा एवं यह उच्चारण उसके अर्थ का निश्चय करेगा। इसके कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

"मा" शब्द के दो अर्थ हैं— मुझको और निषेध करना। "मा" यदि अनुदात्त है तो इसका अर्थ सर्वनाम वाची 'मुझको' होगा। यदि उदात्त है तो इसका अर्थ निषेधात्मक होगा।

'क्षयं गत: देवदत्त:' वाक्य में 'क्षय' शब्द के दो अर्थ हैं— घर और मृत। यदि क्षय शब्द को आद्युदात्त मानें तो इसका अर्थ घर होगा तथा अन्तोदात्त मानने पर मृत होगा।

'अर्थ' शब्द के स्वामी और वैश्य दो अर्थ हैं। इसको आद्युदात्त मानने पर वैश्य तथा अन्तोदात्त मानने पर स्वामी अर्थ होगा। 'सुपुरुष' को अन्तोदात्त मानने पर इसका दुष्टपुरुष एवं आद्युदात्त मानने पर सज्जन होगा।'

४.८.१ स्वरों के सामान्य नियम

व्याकरण-ग्रन्थों में स्वरों के सम्बन्ध में विस्तृत नियम दिए गये हैं। कुछ विशेष नियम इस प्रकार हैं—

(१) वैदिक भाषा में एक पद में प्राय: एक ही पद उदात्त होता है और शेष अनुदात्त होते हैं। प्रतिपदिकों और धातुओं का प्राय: अन्तिम पद उदात्त होता है।

(२) निपातों, आदि को छोड़कर अन्य उपसर्गों और प्रत्ययों का आदि स्वर उदात्त होता है।

(३) लुङ् लङ् लकारों में धातु से पहले आने वाले 'अ' और 'आ' उदात्त होते हैं।

(४) चित् (जिसमें च् का लोप हुआ हो), तित् तद्धित (वे तद्धित) प्रत्यय जिनमें त् का लोप हुआ हो, समस्त पद, अन्तोदात्त होते हैं।

(५) देवता वाचक शब्दों में एक स्वर उदात्त होता है। पर द्वन्द्व समास होने पर यथा 'मित्रावरुणा' में दो उदात्त होते हैं। द्वन्द्व समास को छोड़कर देवता वाचक शब्द के समास में एक पद में एक ही स्वर उदात्त या स्वरित होगा। शेष अनुदात्त होंगे।

(६) च आदि अव्ययों के सभी स्वर अनुदात्त होते हैं।

(७) सम्बोधन के पदों में प्राय: उदात्त नहीं होता। सर्वनाम शब्दों के वैकल्पिक रूपों में आदि में उदात्त नहीं होता।

(८) तित् (जिसके त् का लोप हुआ हो) स्वरित होता है।

(९) यदि क्रियापद आदि में न हो तो उनके सभी स्वर अनुदात्त होते हैं।

(१०) पुन: आवृत किये जाने पर दूसरा पद अनुदात्त होगा।

४.८.२ सन्धियाँ होने पर स्वर की स्थिति—

(१) उदात्त और अनुदात्त की सन्धि होने पर उदात्त होगा।

(२) अनुदात्त और उदात्त की सन्धि होने पर उदात्त होगा।

(३) स्वरित और उदात्त की सन्धि होने पर उदात्त होगा।

(४) उदात्त और अनुदात्त की सन्धि होने पर स्वरित होगा।

(५) उदात्त और स्वरित की सन्धि नहीं होती।

(६) अनुदात्त और अनुदात्त की सन्धि होने पर अनुदात्त होता है, परन्तु दीर्घ सन्धि होने पर स्वरित होता है।

(७) स्वरित और अनुदात्त की सन्धि से स्वरित होता है।

४.८.३ स्वरों में परिवर्तन के सामान्य नियम—

(१) उदात्त से परवर्ती अनुदात्त को स्वरित होता है, किन्तु उस अनुदात्त के बाद कोई स्वरित या उदात्त नहीं होना चाहिए। ऐसा होने पर वह अनुदात्त ही रहता है।

(२) उदात्त से व्यवहित पूर्ववर्ती अनुदात्त ही रहता है।

(३) सामान्यत: एक पद में एक ही स्वर उदात्त रहता है।

४.८.४ स्वराङ्कन की विधि—

स्वराङ्कन भारतीय पद्धति से निम्न प्रकार से किया जाता है—

(१) उदात्त—कोई चिह्न नहीं।

(२) अनुदात्त—अक्षर के नीचे पड़ी रेखा (—)।

(३) स्वरित—अक्षर के ऊपर खड़ी रेखा (।)

कुछ विदेशी विद्वान् स्वराङ्कन इस प्रकार से करते हैं—

(१) उदात्त—(ऊपर) (।) चिह्न।

(२) अनुदात्त को चिह्न नहीं।

(३) स्वरित—नीचे (—) रेखा।

४.९ ऋग्वेद के छन्द

ऋग्वेद छन्दोबद्ध रचना है। यास्क ने छन्द शब्द की निष्पत्ति 'छद्' धातु से बतायी है, जिसका अर्थ है— आवृत करना। अर्थात् छन्द वेदों के आवरण हैं। शब्दों को विशिष्ट आवरण में बाँधे रखने वाले छन्द होते हैं। मन्त्रों का पाठ और अर्थों का ज्ञान छन्दों के बिना नहीं होता। वेद-मन्त्रों को पढ़ते हुए ऋषि, देवता और छन्दों को जानना आवश्यक है। बृहद्देवता में लिखा है—

अविदित्वा ऋषिच्छन्दो दैवतं योगमेव च।
योऽध्यापयेज्जपेद्वापि पापीयान् जायते तु सः ।।

अर्थात् जो ऋषि, छन्द और देवता को एवं इनके विनियोग को जाने विना वेद-मन्त्रों का अध्ययन करता है, या जाप करता है, वह पापी होता है।

कात्यायन ने भी सर्वानुक्रमणी में यही बात कही है—

यो ह अविदितार्षेयच्छन्दो-दैवत-ब्राह्मणेन मन्त्रेव याजयति वा अध्यायति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्ते वा पात्यते प्रमीयते वा पापीयान् भवति।

अर्थात् छन्द, ऋषि द्वारा देवता को जाने बिना मन्त्रों का अध्ययन करना यज्ञ करना, अध्यापन करना— इनसे प्रत्येक कार्य निष्फल होता है और व्यक्ति पापी होता है।

छन्दों के प्रथम आचार्य पिङ्गल माने जाते हैं। ये पाणिनि के छोटे भाई थे। इन्होंने 'छन्द-सूत्र' की रचना की थी। इसमें इन्होंने लौकिक और वैदिक सभी छन्दों का विवेचन किया था। 'छन्दसूत्र' में आठ अध्याय हैं। इनमें प्रारम्भ से लेकर चौथे अध्याय के सातवें सूत्र तक वैदिक छन्दों के लक्षण दिये गये हैं। पिङ्गल से पहले भी छन्दशास्त्र के आचार्य हुए थे, परन्तु इनकी रचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं। लेकिन कहीं-कहीं सङ्केतमात्र अवश्य उपलब्ध होते हैं।

ऋग्वेद में मुख्य रूप से सात छन्दों का प्रयोग किया गया है। इनको तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—

१. तीन पादों वाले छन्द— गायत्री और उष्णिक्।

२. चार पादों वाले छन्द— अनुष्टुप्, बृहती, त्रिष्टुप् और जगती।

३. पाँच पादों वाले छन्छ— पंक्ति।

छन्द दो प्रकार के हैं— मात्रिक और वार्णिक। मात्रिक छन्दों में मात्राओं के अनुसार और वर्णिक छन्दों में वर्णों के अनुसार गणना की जाती है। वेदों में वार्णिक छन्दों का ही अधिक प्रयोग हुआ है।

ऊपर कहे सात छन्दों के प्रमुख लक्षण इस प्रकार है—

४.९.१. गायत्री— इसमें तीन पाद होते हैं और प्रत्येक पाद के आठ वर्ण होते हैं।

४.९.२. उष्णिक्— इसमें भी तीन पाद होते हैं। पहले और दूसरे पाद में ८-८ तथा तीसरे पाद में १२ वर्ण होते हैं।

४.९.३. अनुष्टुप्— यह चार पादों का छन्द है। प्रत्येक पाद में ८-८ वर्ण होते हैं। इस छन्द का प्रयोग वैदिक साहित्य के अतिरिक्त लोक में भी प्रचुर हुआ है।

४.९.४. त्रिष्टुप्— यह भी चार पादों का छन्द है। इसके प्रत्येक पाद में ११ वर्ण होते हैं। ऋग्वेद में इस छन्द का प्रयोग सबसे अधिक हुआ है।

४.९.५. बृहती— इस छन्द में भी चार पाद होते हैं। **इसके पहले**, दूसरे और तीसरे पाद में ८-८ वर्ण और चौथे पाद में १२ वर्ण होते हैं।

४.९.६. जगती— जगती छन्द भी चार पादों वाला हैं। इसके प्रत्येक पाद में १२ वर्ण होते हैं।

४.९.७. पंक्ति— यह पाँच पादों का छन्द है। इसके प्रत्येक पाद में आठ वर्ण होते हैं। इन छन्दों को निम्न प्रकार से तालिका में दिखलाया जा सकता है—

छन्द का नाम	**वर्णों की संख्या**					
संख्या	प्रथम पाद	द्वितीय पाद	तृतीय पाद	चतुर्थ पाद	पञ्चम पाद	योग
१. गायत्री	८	८	८			= २४
२. उष्णिक्	८	८	१२			= २८
३. अनुष्टुप्	८	८	८	८		= ३२
४. त्रिष्टुप्	११	११	११	११		= ४४
५. बृहती	८	८	८	१२		= ३६
६. जगती	१२	१२	१२	१२		= ४८
७. पंक्ति	८	८	८	८	८	= ४०

४.९.८ छन्दों के विषय में विशेष

सामान्यत: इन सात छन्दों में उपर्युक्त तालिका के अनुसार वर्णों की संख्या निश्चित रहती है। परन्तु ये वर्ण कम या अधिक भी हो सकते हैं। इससे उस छन्द के अवान्तर भेद हो जाते हैं। यदि छन्द में एक वर्ण कम हो तो उसे 'निचृत्' कहते हैं और दो वर्ण कम होने पर 'विराट्' कहते हैं। इसी प्रकार एक वर्ण अधिक होने पर उस छन्द को 'भूरिक्' तथा दो वर्ण अधिक होते हैं तो 'स्वराट्' कहते हैं। उदाहरण के लिए गायत्री छन्द में २४ वर्ण होते हैं। यदि इसमें एक वर्ण कम हो अर्थात् २३ वर्ण हो तो यह 'निचृत् गायत्री' होगा। दो वर्ण कम होने अर्थात् २२ वर्ण होने पर यह 'विराट् गायत्री' होगा। गायत्री छन्द में एक वर्ण अधिक होने पर अर्थात् २५ वर्ण होने पर यह छन्द 'भूरिग्गायत्री 'कहलायेगा तथा दो वर्ण अधिक होने पर अर्थात् २६ वर्ण होने पर 'स्वराट्गायत्री' कहलायेगा।

कई बार किसी मन्त्र में निर्धारित संख्या से एक वर्ण कम होता है। तब उसको नियम में बाँधने के लिए एक वर्ण को दो वर्णों में विभाजित कर दिया जाता है। वह प्रधानत: निम्न प्रकार से किया जाता है—

(क) सन्धि युक्त पदों को पृथक् करके उच्चारण करना। यथा 'नोऽव' को 'नो अव' अथवा 'ब्रह्मावदतो' को 'ब्रह्म' अवदतो' या 'आद्याद्या' को 'अद्य अद्या' उच्चारण करना।

(ख) ए, ओ, ऐ और औ को दो स्वरों में पृथक् करना। यथा 'ज्येष्ठ' को 'ज्यियिष्ठ' पढ़ना।

(ग) संयुक्त य और व से पहले इ और उ लगा देना। जैसे 'सोम्यं' को सोमियं 'वरेण्यं' को वरेणियं तथा 'स्व:' को सुव: पाठ करना।

(घ) संयुक्त रेफ से पहले स्वर लगाना। यथा 'इन्द्र' को इन्दर पढ़ना।

कात्यायन की सर्वानुक्रमणी के अनुसार ऋग्वेद में इन छन्दों का प्रयोग निम्न संख्या में किया गया है—

क्र० संख्या	छन्द नाम	मन्त्रों की संख्या
१	गायत्री	२४७७
२	उष्णिक्	३४१
३	अनुष्टुप्	८५५
४	त्रिष्टुप्	४२५३
५	बृहती	१८१
६	जगती	१३५८
७	पंक्ति	३१२

अभ्यास

(१) निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिए-

(क) कृणोति का लकार, पुरुष और वचन बताइए।

(ख) तुमुन् प्रत्यय के अर्थ में वैदिक भाषा में अन्य कौन-कौन प्रत्यय प्रयुक्त होते हैं?

(ग) स्वरपरिवर्तन से मन्त्रों पर क्या प्रभाव पड़ता है?

(घ) उदात्त और अनुदात्त का एकीभाव सन्धि होने पर क्या होता है?

(ङ) अनुदात्त स्वर को ऋग्वेद में कैसे प्रदर्शित किया जाता है?

(२) वैदिक भाषा की सन्धिगत विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

(३) वैदिक भाषा में शब्द रूप की विशेषताओं को स्पष्ट कीजिए।

Notes

Notes

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

खण्ड-एक (भाग दो)

वैदिकमन्त्रचयनम्

काई-५ से ८	
।.१ अग्निसूक्त	५
।.२ विश्वेदेवाः सूक्त	१२
.१ विष्णुसूक्त	२२
.२ इन्द्रसूक्त	२८
.१ पुरुषसूक्त	४१
.१ वाक् सूक्त	५१
.२ शिवसङ्कल्प सूक्त	५८

पाठ्यक्रम-परिचय

यह UGST-04 के प्रथम खण्ड का द्वितीय भाग है। इसमें ऋग्वेद के छः सूक्त संकलित हैं। इनके अतिरिक्त शुक्ल यजुर्वेद के शिवसंकल्प सूक्त के मात्र छः मन्त्र भी समाविष्ट हैं। इन सभी सूक्तों के पदपाठ, सामणभाष्य, अन्वय, पदार्थ, अनुवाद तथा सम्बन्धित व्याकरण सरल भाषा तथा सुगम शैली में दिये गये हैं जिनसे दुष्कर वैदिक मन्त्र सुबोध हो गये हैं।

इकाई ५ से ८

इकाई की रूपरेखा-

इन इकाइयों में निम्नलिखित वैदिक सूक्तों के मन्त्रों का पदपाठ, सायणभाष्य, अन्वय, दार्थ, अनुवाद तथा व्याकरणात्मक टिप्पणियाँ दी गयी हैं :-

..१	अग्निसूक्त	ऋ० १.१
..२	विश्वेदेवा:सूक्त	ऋ० १.८९
..१	विष्णुसूक्त	ऋ० १.१५४
..२	इन्द्रसूक्त	ऋ० २.१२
०.१	पुरुषसूक्त	ऋ० १०.९०
..१	वाक् सूक्त	ऋ० १०.१२५
.२	शिवसङ्कल्प	शु०य० ३४.१.६

५.१ अग्निसूक्तम्

द-ऋग्वेद **मण्डल संख्या-१** **सूक्त संख्या-१**

ऋषि-मधुच्छन्दा **देवता-अग्नि** **छन्द-गायत्री**

अ॒ग्निमी॑ळे पु॒रोहि॑तं य॒ज्ञस्य॑ दे॒वमृ॒त्विज॑म् ।

हो॒तार॑ं रत्न॒धात॑मम् ॥१॥

पदपाठ— अ॒ग्निम् । ई॒ळे॒ । पु॒रःऽहि॑तम् । यज्ञस्य॑ । दे॒वम् । ऋ॒त्विज॑म् । हो॒तार॑म् । न॒ऽधात॑मम् ॥

सा०भा०— अग्निनामकं देवम् ईळे स्तौमि । 'ईड् स्तुतौ'इति धातुः । डकारस्य ळकारो ह्वचाध्येतृसम्प्रदायप्राप्तः । तथा च पठ्यते– 'अज्मध्यस्थडकारस्य ळकारं बह्वृचा जगुः । अज्मध्यस्थढकारस्य ह्कारं वै यथाक्रमम्' इति । मन्त्रस्य होत्रा प्रयोज्यत्वादहं होता स्तौमीति लभ्यते । कीदृशमग्निम्? यज्ञस्य ोहितम् । यथा राज्ञः पुरोहितस्तदभीष्टं सम्पादयति, तथाग्निरपि यज्ञस्यापेक्षितं होमं सम्पादयति । यद्वा, ज्ञस्य सम्बन्धिनि पूर्वभागे आवहनीयरूपेणावस्थितम् । पुनः कीदृशम्? होतारम् ऋत्विजम् । देवानां यज्ञेषु तृनामक ऋत्विगग्निरेव । तथा च श्रूयते– 'अग्निर्वै देवानां होता' (ऐ०ब्रा० ३.१४) इति । पुनरपि ादृशम्? रत्नधातमम् यागफलरूपाणां रत्नाना-मतिशयेन धारयितारं पोषयितारं वा ।

अन्वय— यज्ञस्य पुरोहितम् देवम् होतारम् ऋत्विजम् रत्नधातमम् अग्निम् ईळे ।

पदार्थ— यज्ञस्य पुरोहितम् = यज्ञ के पुरोहित । देवम् = प्रकाशयुक्त या दान आदि गुणों से युक्त । तारम् ऋत्विजम् = देवताओं को यज्ञ में बुलाने वाले ऋत्विक्; होतृ (होता) नामक ऋत्विक् । नधातमम् = रत्नों का सर्वाधिक दाता या धारणकर्ता रत्नदाताओं या रत्न धारण करने वालो में श्रेष्ठ । ग्निम् = अग्नि (देवता) को । ईळे = पूजा करता हूँ, स्तुति करता हूँ, वन्दना करता हूँ ।

अनुवाद— यज्ञ के पुरोहित प्रकाशयुक्त (या दान आदि गुणों से युक्त), देवताओं को यज्ञ में बुलाने ले ऋत्विक् तथा रत्नों के सर्वाधिक दाता (या धारणकर्त्ता) अग्नि (देवता) को मैं पूजता हूँ (अग्नि की ुति करता हूँ) ।

१. यज्ञस्य – √यज् + नङ्, षष्ठी एकवचन।

२. देवम् – √दिव् + अच्, द्वितीया एकवचन।

३. होतारम् – √हू + तृन् + द्वितीया एकवचन।

४. रत्नाधातमम् – रत्नानि दधाति इति रत्नधाः, रत्नधा + क्विप्, रत्नधा +तमप् = रत्नधातमः (अतिशायी रत्नधा इति रत्नधातमः), द्वितीया एकवचन।

५. इळे – ईडे (लौकिक संस्कृत में)। ऋग्वेद में दो स्वरों के मध्य में स्थित डकार का ळकार हो जाता है— 'अजमध्यस्थडकारस्य ळकारं बह्वृचा जगुः'। ईडे (= ई ड् ए) दो स्वरों के मध्य में स्थित होने से 'ड्' को 'ळ्' हो गया है। ईड् (स्तुति करना) + लट् लकार उत्तम पुरुष, एकवचन।

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत ।
स देवाँ एह वक्षति ॥२॥

पदपाठ— अग्निः । पूर्वेभिः । ऋषिऽभिः । ईड्यः । नूतनैः । उत । सः । देवान् । आ । इह । वक्षति ॥

सा० भा०— अयम् अग्निः पूर्वेभिः पुरातनैर्भृग्वङ्गिरःप्रभृतिभिः ऋषिभिः ईड्यः स्तुत्यः; नूतनैः उत इदानींतनैरस्माभिरपि स्तुत्यः। सः अग्निः सन् इह यज्ञे देवान् हविर्भुजः आ वक्ष्यति। वह् प्रापणे' इति धातुः। आवहतु इत्यर्थः।

अन्वय— अग्निः पूर्वेभिः उत नूतनैः ऋषिभिः ईड्यः सः देवान् इह आ वक्षति।

पदार्थ— अग्निः = अग्नि (देवता)। पूर्वेभिः = (भृगु अङ्गिरा इत्यादि) प्राचीन। उत = और। नूतनैः = नवीन, अर्वाचीन (हम)। ऋषिभिः = ऋषियों के द्वारा। ईड्यः = **स्तुत्य, स्तुति** करने योग्य, पूजनीय। सः = वह (अग्नि देवता)। देवान् = देवताओं को। इह = यहाँ **(= इस यज्ञ में)** ले आवे।

अनुवाद— अग्नि (देवता) (भृगु, अङ्गिरा इत्यादि) प्राचीन और नवीन (हम) **ऋषियों के द्वारा** स्तुत्य (पूजनीय) है, वह (अग्नि देवता) देवताओं को यहाँ (इस यज्ञ में) ले आवें।

व्याकरण—

१. पूर्वेभिः – यह पूर्वैः का वैदिक रूप है। वेद में कभी-कभी 'बहुलं छन्दसि' सूत्र से भिस् (भिः) को ऐस् (ऐः) आदेश का अभाव हो जाता है।

२. ईड्यः – √ईड् (स्तुति करना) + ण्यत् प्रथमा एकवचन।

३. देवाँ – पद के अन्त में स्थित न् के पूर्व में आ और बाद में कोई भी स्वर हो तो न् का लोप हो जाता है तथा पूर्ववर्ती का अनुनासिक (आँ) हो जाता है। द्वितीया बहुवचन का रूप 'देवान्' है (देवान् आ)।

४. वक्षति – √वह् (ले जाना) + (लोट् के अर्थ में) लृट्; स्य प्रत्यय के यकार (य) का छान्दस् लोप हुआ जिससे वक्ष्यति का वक्षति हो गया। यह लेट् लकार का भी रूप हो सकता है।

अग्निना रयिमश्नवत्पोषमेव दिवेदिवे ।
यशसं वीरवत्तमम् ॥३॥

पदपाठ— अग्निना । रयिम् । अश्नवत् । पोषम् । एव । दिवेऽदिवे । यशसम् । वीरवत्ऽतमम् ॥

सा० भा०— योऽयं होत्रा स्तुत्योऽग्निस्तेन अग्निना निमित्तभूतेन यजमानः रयिं धनम् अश्नवत् प्राप्नोति। कीदृशं रयिम्। दिवेदिवे पोषम् एव प्रतिदिनं पुष्यमाणतया वर्धमानमेव, न तु कदाचिदपि

यमाणम्। यशसं दानादिना यशोयुक्तं वीरवत्तमम् अतिशयेन पुत्रभृत्यादिवीरपुरुषोपेतम्। सति हि धने षाः सम्पद्यन्ते।

अन्वय— अग्निना दिवेदिवे पोषम् एव यशसं वीरवत्तमं रयिम् अश्नवत्।

पदार्थ— अग्निना = अग्नि के द्वारा, अग्नि के माध्यम से। दिवेदिवे = प्रतिदिन। पोषम् = बढ़ने ले, वृद्धि (पुष्टि) को प्राप्त होने वाले। एव = ही। यशसम् = यश से युक्त, कीर्त्तिदायक। वीरवत्तमम् श्रेष्ठ वीर पुरुषों से युक्त, पुत्रादि से अतिशय रूप से युक्त। रयिम् = धन को। अश्नवत् = प्राप्त ।

अनुवाद— (अग्नि की पूजा करने वाला मनुष्य) अग्नि के माध्यम से प्रति- न वृद्धि (पुष्टि) को ही प्राप्त होने वाले यश से युक्त (कीर्त्तिदायक) और श्रेष्ठ वीर पुरुषों (पुत्रादिकों) युक्त धन को प्राप्त करे (अर्थात् अग्नि के द्वारा यजमान ऐसा धन प्राप्त करे, जो प्रतिदिन बढ़ने ही ला हो और जो यश तथा श्रेष्ठ वीर पुरुषों से समन्वित हो)।

ाकरण—

दिवेदिवे – दिव शब्द का सप्तमी का एकवचन।

पोषम् – √पुष् + घञ् द्वितीया एकवचन।

यशसम् – यशः यस्य अस्ति इति, यशस् + अच् द्वितीया एकवचन।

वीरवत्तमम् – वीर + मतुप् + तमप् द्वितीया एकवचन।

अश्नवत् – √अश् (प्राप्त करना या व्याप्त करना) + लोट्, प्रथम पुरुष एकवचन।

अग्ने॒ यं य॒ज्ञमध्व॒रं वि॒श्वतः॑ परि॒भूरसि॑ ।
स इद्दे॒वेषु॑ गच्छति ॥४॥

पदपाठ— अग्ने॑ । यम् । य॒ज्ञम् । अ॒ध्व॒रम् । वि॒श्वतः॑ । प॒रि॒ऽभूः । असि॑ । : । इत् । दे॒वेषु॑ । ग॒च्छ॒ति॒ ॥

सा० भा०— हे अग्ने त्वं यं यज्ञं विश्वतः सर्वासु दिक्षु परिभूः परितः प्राप्त- न् असि सः इत् स एव यज्ञो तृप्तिं प्रणेतुं स्वर्गे गच्छति। प्राच्यादिचतुर्दिगन्तेषु हवनीयमार्जालीयगार्हपत्याग्नीध्रीयस्थानेषु अग्निरस्ति। परिशब्देन होत्रीयादिधिष्ण्य-व्याप्तिर्विवक्षिता। ीदृशं यज्ञम्? अध्वरं हिंसारहितम्। न ह्याग्निना सर्वतः पालितं ं राक्षसादयो हिंसितुं प्रभवन्ति।

अन्वय— अग्ने ! यम् अध्वरं यज्ञं विश्वतः परिभूः असि सः इत् देवेषु गच्छति।

पदार्थ— अग्ने = हे अग्नि ! यम् = जिस। अध्वरम् = हिंसारहित। यज्ञम् = यज्ञ को। विश्वतः चारो ओर से। परिभूः असि = व्याप्त करके स्थित होते हो, व्याप्त करने वाले हो। सः = वह। इत् ही। देवेषु = देवताओं में। गच्छति = जाता है, पहुँचता है।

अनुवाद— हे अग्नि ! (तुम) जिस हिंसारहित यज्ञ को चारों ओर से व्याप्त करके स्थित होते हो ह (यज्ञ) ही देवताओं में जाता है (देवताओं को प्राप्त होता है)।

ाकरण—

. विश्वतः – विश्व +तसिल्।

. परिभूः – परि + √भू + क्विप्।

. असि – √अस् + लट्, मध्यमपुरुष, एकवचन।

४. गच्छति – √गम् + लट्, प्रथमपुरुष, एकवचन।

अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः।
देवो देवेभिरागमत् ॥५॥

पदपाठ— अग्नि। होता। कविऽक्रतुः। सत्यः। चित्रश्रवःऽतमः। देवः। देवेभिः। आ। गमत्॥

सा० भा०— अयम् अग्निः देवः अन्यैर्देवैर्हविर्भोजिभिः सह आ गमत् अस्मिन् यज्ञे समागच्छतु। कीदृशोऽग्निः। होता होमनिष्पादकः। कविक्रतुः। कवि शब्दोऽत्र क्रान्तवचनो न तु मेधाविनाम। क्रतुः प्रज्ञानस्य कर्मणो वा नाम। ततः क्रान्तप्रज्ञः क्रान्तकर्मा वा। सत्यः अनृतरहितः फलमवश्यं प्रयच्छतीत्यर्थः। चित्रश्रवस्तमः। श्रूयते इति श्रवः कीर्तिः। अतिशयेन विविधकीर्तियुक्तः॥

अन्वय— होता कविक्रतुः सत्यः चित्रश्रवस्तम अग्निः देवः देवेभिः आ गमत्।

पदार्थ— होता = (देवताओं को) बुलाने वाला, (देवताओं का) आह्वान करने वाला 'ऋग्वेद का ऋत्विक्'। कविक्रतुः = कवि की प्रज्ञा (क्रतु) वाला, उत्कृष्ट (या प्रशंसनीय) बुद्धि (या कर्म) वाला, क्रान्तप्रज्ञ (अर्थात् भूत, भविष्य एवं वर्तमान को जानने वाला)। सत्यः = सत्यशील, निश्चित रूप से याग के फल को देने वाला। चित्रश्रवस्तमः = अतिशय रूप में (अर्थात् अत्यधिक मात्रा में) विविध कीर्तियों वाला। अग्निः = अग्नि। देवः = देवता। देवेभिः = देवताओं के साथ। आ गमत् = आवे।

अनुवाद— (यज्ञ में देवताओं को) बुलाने वाला, उत्कृष्ट बुद्धि (या कर्म) वाला, सत्यशील (अर्थात् निश्चय ही याग के फलों को देने वाला) तथा अतिशय रूप में विविध कीर्तियों (यश) वाला अग्नि देवता (अन्य) देवताओं के साथ (इस यज्ञ में) आवे।

व्याकरण—

१. कविक्रतुः – कविः क्रतुः यस्य सः, बहुव्रीहि, प्रथमा एकवचन।

२. चित्रश्रवस्तमः – चित्रं श्रवः (यशः) यस्य सः चित्रश्रवाः अतिशायी चित्रश्रवाः इति चित्रश्रवस्तमः (बहुव्रीहि), चित्रश्रवस् + तमप् प्रथमा एकवचन।

३. देवेभिः – देवैः (लौकिक संस्कृत), तृतीया बहुवचन का यह वैदिक रूप है।

४. गमत् – गम् + लेट्, प्रथमपुरुष एकवचन। सायण ने इसे लोट् मानकर कहा है कि छत्व का अभाव तथा उकार का लोप छान्दस् है। सायण के अनुसार गमत् – गच्छतु। √गम् + लोट्, प्रथम पुरुष, एकवचन। (वैदिकरूप)

यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि।
तवेत्तत्सत्यमङ्गिरः ॥६॥

पदपाठ— यत्। अङ्ग। दाशुषे। त्वम्। अग्ने। भद्रम्। करिष्यसि। तव। इत्। तत्। सत्यम्। अङ्गिरः॥

सा० भा०— अङ्ग इत्यभिमुखीकरणार्थो निपातः। अङ्ग अग्ने! हे अग्ने त्वं दाशुषे हविर्दत्तवते यजमानाय तत्प्रीत्यर्थं यत् भद्रं वित्तगृहप्रजापशुरूपं कल्याणं करिष्यसि तत् भद्रं तव इत् तवैव। सुखहेतुरिति शेषः। हे अङ्गिरः! अग्ने एतच्च सत्यं, न त्वत्र विसंवादोऽस्ति। यजमानस्य वित्तादिसंपत्तौ

अन्वय— अङ्ग अग्ने ! त्वं दाशुषे यत् भद्रं करिष्यसि, अङ्गिरः ! तत् तव इत् सत्यम् ।

पदार्थ— अङ्ग अग्ने = हे अग्नि । त्वम् = तुम । दाशुषे = हवि प्रदान करने वाले (यजमान) के लिए, दान करने वाले (यजमान) के लिए । यज् = जो । भद्रम् = कल्याणकारी कर्म । करिष्यसि = करोगे । अङ्गिरः = हे अङ्गारमय (अग्नि) हे अङ्गिरा मुनि को जन्म देने वाले (अग्नि) । तत् = वह । तव = तुम्हारा, इत् = ही । सत्यम् = सत्य है ।

अनुवाद— हे अग्नि ! तुम हवि प्रदान वाले (अथवा दान करने वाले) (यजमान) के लिए जो कल्याण (कल्याणकारी कर्म) करोगे, हे अङ्गिरा (अङ्गारमय अग्नि) ! वह तुम्हारा ही (अर्थात् तुम्हारे ही फल का साधन) है– यह बात सत्य है ।

व्याकरण—

अङ्ग – किसी को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए प्रयुक्त सम्बोधनात्मक निपात ।

दाशुषे – दाशृ (देना) + क्वसु प्रत्यय, चतुर्थी, एकवचन ।

उप॑ त्वाग्ने दि॒वेदि॑वे॒ दोषा॑वस्तर्धि॒या व॒यम् ।
नमो॒ भर॑न्त॒ एम॑सि ॥७॥

पदपाठ— उप॑ । त्वा॒ । अ॒ग्ने॒ । दि॒वेऽदि॑वे । दोषा॑ऽवस्तः । धि॒या । व॒यम् । नमः॑ । भर॑न्तः । आ । इ॒म॒सि॒ ॥

सा० भा०— हे अग्ने वयम् अनुदातारः दिवेदिवे प्रतिदिनं दोषावस्तः रात्रा-वहनि च धिया बुद्ध्या स्तुत्या भरन्तः नमस्कारं सम्पादयन्तः उप समीपे त्वा एमसि त्वामागच्छामः ।

पदार्थ— दोषावस्तः = रात्रि (दोषा) को प्रकाशित करने वाले । अग्ने = हे अग्नि ! वयम् = हम लोग । दिवेदिवे = प्रतिदिने । धिया = बुद्धि से, स्तुति से, श्रद्धा से । नमः = नमस्कार । भरन्तः = करते हुए । त्वा = तुम्हारे । उप = समीप । आ इमसि = आते हैं ।

अनुवाद— हे रात्रि को प्रकाशित करने वाले अग्नि ! हम लोग प्रतिदिन श्रद्धापूर्वक नमस्कार करते हुए तुम्हारे समीप आते हैं ।

व्याकरण—

भरन्तः – √भृ (धारण करना) + शतृ, प्रथमा बहुवचन ।

इमसि – इमः (लौकिक संस्कृत); √इ (जाना) + लट् उत्तम पुरुष, बहुवचन । 'इदन्तो मसि' सूत्र से वेद में कभी-कभी 'मः' का 'मसि' हो जाता है ।

राज॑न्तमध्व॒राणां॑ गो॒पामृ॒तस्य॒ दीदि॑विम् ।
वर्ध॑मानं॒ स्वे दमे॑॥८॥

पदपाठ— राज॑न्तम् । अ॒ध्व॒राणा॑म् । गो॒पाम् । ऋ॒तस्य॑ । दीदि॑विम् । वर्ध॑मानम् । स्वे । दमे॑ ॥

सा० भा०— पूर्वमन्त्रे 'त्वामुपैम इत्यग्निमुद्दिश्योक्तम् । कीदृशं त्वाम् । राजन्तं दीप्यमानम् । अध्वराणां राक्षसकृतहिंसारहितानां यज्ञानां गोपां रक्षकम् ऋतस्य सत्य-स्यावश्यंभाविनः कर्मफलस्य दीदिविं पौनःपुन्येन भृशं वा द्योतकम् । आहुत्याधार-मग्निं दृष्ट्वा शास्त्रप्रसिद्धं कर्मफलं स्मर्यते । स्वे दमे यगृहे यज्ञशालायां इविर्भिः वर्धमानम् ॥

अन्वय— राजन्तम् अध्वराणां गोपाम ऋतस्य दीदिविं स्वे दमे वर्धमानम् (उप त्वा आ इमसि) ।

पदार्थ— राजन्तम् = देदीप्यमान, प्रकाशित होते हुए। अध्वराणाम् = हिंसा रहित यज्ञों के। गोपाम् = रक्षक। ऋतस्य = सत्य के (अथवा कर्मफल के)। दीदिविम् = प्रकाशक (अथवा द्योतक)। स्वे दमे = अपने घर (यज्ञ-शाला) में। वर्धमानम् = बढ़ते हुए।

अनुवाद— देदीप्यमान (प्रकाशित होते हुए), हिंसारहित यज्ञों के रक्षक, सत्य के प्रकाशक (अथवा यज्ञ-फल के द्योतक) और अपने घर (= यज्ञशाला) में बढ़ते हुए (तुम्हारे समीप हे अग्नि ! हम आते हैं)।

व्यकरण—

१. राजन्तम् – √राज् (प्रकाशित होना) + शतृ, द्वितीया, एकवचन।

२. दीदिविम् – √दिव् (प्रकाशित होना) + क्विन्, धातु का द्वित्व, द्वितीया एकवचन।

३. वर्धमानम् – √वृध् (बढ़ना) + शानच् + द्वितीया, एकवचन।

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव।
सचस्वा नः स्वस्तये ॥९॥

पदपाठ— सः। नः। पिताऽइव। सूनवे। अग्ने। सुऽउपायनः। भव। सचस्व। नः। स्वस्तये ॥

सा० भा०— हे अग्ने सः त्वं नः अस्मदर्थं सूपयानः शोभनप्राप्तियुक्तः भव। तथा नः अस्माकं स्वस्तये विनाशराहित्यार्थं सचस्व समवेतो भव। तत्रोभयत्र दृष्टान्तः। यथा सूनवे पुत्रार्थं पिता सुप्रापः प्रायेण समवेतो भवति, तद्वत्।

अन्वय— अग्नेः ! सः (त्वं) सूनवे पिताइव नः सूपायनः भव। स्वस्तये नः सचस्व।

पदार्थ— अग्ने = हे अग्ने ! सः = वह (तुम)। सूनवे = पुत्र के लिए। पिता इव = पिता के समान। नः = हमारे लिए। सूपायनः = आसानी से पहुँचने योग्य, सरलता से पहुँचने योग्य, सुगम। भव = होवो, बन जाओ। स्वस्तये = कल्याण के लए। नः = हमारे। सचस्व = साथ रहो।

अनुवाद— हे अग्नि ! वह (तुम) पुत्र के लिए पिता के समान हमारे लिए सरलता से पहुँचने योग्य बन जाओ (सुगम बनो) (अर्थात् जिस प्रकार पिता अपने पुत्र के लिए आसानी से पहुँचने योग्य होता है, उसी प्रकार तुम हमारे लिए पहुँचने योग्य हावो)। (हमारे) कल्याण के लिए हमारे साथ रहो।

व्याकरण—

१. सूपायनः – सु + उप + √इ + युच्, सुखेन उपायनं यस्य सः सूपायनः।

२. भव – √भू + लोट्, मध्य पुरुष, एकवचन।

३. स्वस्तये – सु + √अस् + क्तिन्, चतुर्थी, एकवचन। लौकिक संस्कृत में स्वस्ति के रूप नहीं चलते, यह अव्यय है।

४. सचस्व – √सच् + आत्मनेपद, लोट्, मध्यम पुरुष, एकवचन, छान्दस् दीर्घता।

अभ्यास

(१) निम्नलिखित शब्दों पर व्याकरणात्मक टिप्पणियाँ लिखिए-

(क) ईके

(ख) पूर्वेभिः

(ग) देवेभिः

(घ) इमसिः

(२) निम्नलिखित मन्त्रों का हिन्दी में अनुवाद कीजिए-

(क) अग्निः पुर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो....(२)

(ख) अग्ने यं यज्ञमध्वरं ....(४)

(ग) अग्निर्होता कविक्रतुः.....(५)

(३) निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिए-

(क) यज्ञ का पुरोहित कौन सा देवता है?

(ख) देवताओं को यज्ञ में कौन देवता ले आता है?

(ग) 'कविक्रतुः' किस देवता के लिए प्रयुक्त हुआ है?

(४) अग्निसूक्त का सारांश लिखिए।

५.२ विश्वेदेवाः सूक्तम्

वेद–ऋग्वेद | मण्डल संख्या–१ | सूक्त संख्या–८९
ऋषि–गोतम | देवता–विश्वेदेव | छन्द–१ से ५ जगती, ६ विराट्, ७ जगती, ८ से १० त्रिष्टुप् ।

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतो-
ऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः ।
देवा नो यथा सदमिद्वृधे असन्-
नप्रायुवो रक्षितारो दिवेदिवे ॥१॥

पदपाठ— आ । नः । भद्राः । क्रतवः । यन्तु । विश्वतः । अदब्धासः । अपरिऽइतासः । उत्ऽभिदः ॥ देवाः । नः । यथा । सदम् । इत् । वृधे । असन् । अप्रऽआयुवः । रक्षितारः दिवेदिवे ॥

सा० भा०— नः अस्मान् ऋतवः अग्निष्टोमादयो महायज्ञाः विश्वतः सर्वस्मादपि दिग्भागात् आयन्तु आगच्छन्तु । कीदृशाः ऋतवः । भद्राः समीचीनफलसाधनत्वेन कल्याणाः भजनीया वा अदब्धासः असुरैरहिंसिताः अपरीतासः शत्रुभिरपरिगताः अप्रतिरुद्धा इत्यर्थः । उद्भिदः शत्रूणामुद्भेत्तारः । ईदृशाः क्रतवः अस्मांस्तथा आगच्छन्तु । अप्रायुवः अप्रगच्छन्तः स्वकीयं रक्षितव्यमपरित्यजन्तः अत एव दिवेदिवे प्रतिदिवसं रक्षितारः रक्षां कुर्वन्तः एवंगुणविशिष्टाः सर्वे देवाः नः अस्माकं सदमित् सदैव वृधे वर्धनाय यथा असन् भवेयुस्तथा आगच्छन्तु इति सम्बन्धः ।

अन्वय— भद्राः अदब्धासः अपरीतासः उद्भिदः क्रतवः विश्वतः नः आ यन्तु । यथा दिवेदिवे रक्षितारः अप्रायुवः देवाः सदमित् नः वृधे असन् ।

पदार्थ— भद्राः = कल्याणकारी, समीचीनफलप्रदायक । अदब्धासः = अप्रति-हत, शत्रुओं द्वारा विनष्ट न होने योग्य । अपरीतासः = अप्रतिरुद्ध, शत्रुओं द्वारा न घिरी हुई । उद्भिदः = शत्रुओं का विनाश करने वाली, शत्रुनाशक । क्रतवः = शक्तियाँ, यज्ञ, संकल्प । विश्वतः = सभी ओर से, चारों ओर से । नः = हमारे समीप । आ यन्तु = आ जायँ, आवें । यथा = जिससे, जिस प्रकार । दिवेदिवे = प्रतिदिन । रक्षितारः = रक्षा करने वाले, रक्षक । अप्रायुवः = अपने रक्षितव्य का त्याग न करने वाले । देवाः = देवतागण । सदमित् = सर्वदा, सदैव । नः = हमारी । वृधे = वृद्धि के लिए, संवर्धन के लिए । असन् = हो जायँ, हों ।

अनुवाद— कल्याकारी, शत्रुओं द्वारा विनष्ट न होने योग्य, शत्रुओं द्वारा न घिरी हुई, शत्रुओं का विनाश करने वाली शक्तियाँ सभी ओर से हमारे पास आवें, जिससे प्रतिदिन रक्षा करने वाले (तथा) अपने रक्षितव्य का त्याग न करने वाले देवतागण सर्वदा हमारी वृद्धि के लिए हो जायँ ।

व्याकरण—

१. भद्राः – √भदि (कल्याणे) + रक् प्रथमा बहुवचन । ***अथवा*** √भद् + रक् = भद्रः प्रथमा बहुवचन का रूप ।
२. 'आ' – उपसर्ग है जिसका सम्बन्ध 'यन्तु' क्रिया के साथ है ।
३. क्रतवः – क्रत, प्रथमा बहुवचन । इसकी व्युत्पत्ति √कृ + कतु से की जाती है ।

. यन्तु = √इण् (गतौ) + लोट्, प्रथमपुरुष बहुवचन ।
. अदब्धासः = √दम्भु दम्भे + क्त, प्रथमा बहुवचन 'आज्जसे रसुक' (पा० ७.१.५०) से असुक् का आगम होकर नञ् समास का रूप ।
. अपरीतासः – परि + √इ + क्त । 'आज्जसेरसुक्' से असुक् आगम होकर नञ् समास में प्रथमा बहुवचन का रूप ।
. उद्भिदः – उत् + √भिद् + क्विप्, प्रथमा बहुवचन ।
. वृधे – √वृध् + क्विप्, चतुर्थी एकवचन ।
. असन् – अस् +लेट्, प्रथमपुरुष बहुवचन ।
०. अप्रायुवः – प्र + √इण् (गतौ) + उण्, प्रथमा बहुवचन । नञ् समास में अप्रायुवः रूप बनता है ।
१. रक्षितारः – √रक्ष् + तृच्, प्रथमा बहुवचन ।

देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां
देवानां रातिरभि नो नि वर्तताम् ।
देवानां सख्यमुप सेदिमा वयं
देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे ॥२॥

पदपाठ— देवानाम् । भद्रा । सुऽमतिः । ऋजुऽयताम् । देवानाम् । रातिः । अभि । नः । । वर्तताम् ॥ देवानाम् । सख्यम् । उप । सेदिम । वयम् । देवाः । नः । आयुः । प्र । रन्तु । जीवसे ॥

सा० भा०— भद्रा सुखयित्री भजनीया वा देवानां सुमतिः शोभना मतिरनुग्रहात्मका बुद्धिरस्माकमस्तु इति शेषः । कीदृशानाम् । ऋजूयतामृजुमार्जवयुक्तं सम्यगनुष्ठातारं यजमानमात्मन इच्छताम् । तथा देवता रातिर्दानं नोऽस्मानाभिमुख्येन नितरां वर्तताम् । दभिमतफलप्रदानमप्यस्माकं भवत्वित्यर्थः । वयं च तेषां देवानां सख्यं सखित्वं सख्युः कर्म वोपसेदिम प्नुयाम । तादृशा देवा नोऽस्माकमायुर्जीवसे जीवितुं प्रतिरन्तु वर्धयन्तु ।

अन्वय— ऋजूयतां देवानां भद्रा सुमतिः, देवानां रातिः नः अभि नि वर्तताम् । वयं देवानां सख्यम् पसेदिम; देवाः नः आयुः जीवसे प्रतिरन्तु ।

पदार्थ— ऋजूयताम् = सरल हृदय को चाहते हुए की, सरल हृदय से युक्त यजमानों (को अपना नाने) की इच्छा वाले की, सरलभाव से गमन करते वाले । देवानाम् = देवताओं की । भद्रा = कल्याणकारिणी । सुमतिः = बुद्धि । रातिः = न, उपहार । नः अभि = हमारी ओर । नि वर्तताम् = लौट आवे । वयम् = हम लोग । सख्यम् = त्रता को, मैत्री भाव को । उपसेदिम = प्राप्त करें । देवाः = देवगण । नः हमारी । आयुः = आयु को । वसे = जीने के लिए, जीवित रहने के लिए । प्र तिरन्तु = बढ़ा दें ।

अनुवाद— सरल हृदय (यजमान) को चाहते हुए देवताओं की कल्याणरिणी बुद्धि (एवं) देवताओं का दान (उपहार) हमारी ओर लौट आवे । हम लोग देवताओं के मैत्रीभाव मित्रता) को प्राप्त करें । देवता हमारी आयु को जीने के ए बढ़ा दें ।

ाकरण—

ऋजयताम – √ऋज् + क्यच् + शतृ, षष्ठी बहुवचन ।

२. रातिः – √रा (दाने) + क्तिन्।

३. निवर्तताम् – नि + √वृत्, लोट्, प्रथमपुरुष एकवचन।

४. सख्यम् – सखि + य।

५. उपसेदिमा – उप + √षद्ल्ऌ (विशरणगतित्यावसादनेषु) + लिट्, उत्तमपुरुष बहु-वचन। छान्दस् दीर्घता।

६. जीवसे – √जीव् + तुमर्थक वैदिक असे प्रत्यय।

७. प्रतिरन्तु – प्र + √तॄ (तरणे) + लोट्, प्रथमपुरुष बहुवचन।

तान् पूर्वया निविदा हूमहे वयं
भगं मित्रमदितिं दक्षमस्रिधम्।
अर्यमणं वरुणं सोममश्विना
सरस्वती नः सुभगा मयस्करत् ॥३॥

पदपाठ— तान्। पूर्वया। निऽविदा। हूमहे। वयम्। भगम्। मित्रम्। अदितिम्। दक्षम्। अस्रिधम्॥ अर्यमणम्। वरुणम्। सोमम्। अश्विना। सरस्वती। नः। सुऽभगा। मयः। मयः। करत्॥

सा० भा०— तान् विश्वान् देवान् पूर्वया पूर्वकालीनया नित्यया निविदा वेदात्मिकया वाचा वयं हूमहे। निविदिति वाङ्नाम। यद्वा निविदा 'विश्वेदेवाः सोमस्य मत्सन्' इत्यादिकया वैश्वदेव्या निविदा वयं हूमहे। आह्वयामः। देवानिति यत् सामान्येनोक्तं तदेव विव्रियते। भगं भजनीयं द्वादशानामादित्यानामन्यतमम्। मित्रं प्रमीतेस्त्रायकमहरभि-मानिनं देवम्। "मैत्रं वा अहः" (तै०ब्रा० १.७.१०.१) इति श्रुतेः। अदितिम् अखण्ड-नीयामदीनां वा देवमातरम्। दक्षं सर्वस्य जगतो निर्माणे समर्थं प्रजापतिम्। यद्वा प्राण-रूपेण सर्वेषु प्राणिषु व्याप्य वर्तमानं हिरण्यगर्भम्। "प्राणो वै दक्षः" (तै०सं० २.५.२.४) इति श्रुतेः। अस्रिधं शोषणरहितं सर्वदैकरूपेण वर्तमानं मरुद्गणम्। अर्यमणम्। अरीन् मन्देहादीनसुरान् यच्छति नियच्छतीत्यर्यमा सूर्यः। "असौ वा आदित्योऽर्यमा सूर्यः" (तै०सं० २.३.४.१) इति श्रुतेः। तम्। वरुणम्। वृणोति पापकृतः स्वकीयैः पाशैरा-वृणोतीति रात्र्यभिमानी देवो वरुणः। श्रूयते च– "वारुणी रात्रिः" (तै० सं० १.७.१०.१) इति। सोमं द्वेधात्मानं विभज्य पृथिव्यां लतारूपेण दिवि च चन्द्रात्मना देवतारूपेण वर्तमानम्। अश्विना अश्ववन्तौ। यद्वा– सर्वं व्याप्नुवन्तौ। तथा च यास्कः "अश्विनौ यद् व्यश्नुवाते सर्वं रसेनान्यो ज्योतिषान्योऽश्वैरश्विनावित्यौर्णवाभस्तत्। काव-श्विनौ? द्यावापृथिव्यावित्येकेऽहोरात्रावित्येके, सूर्याचन्द्रमसावित्येके, "राजानौ पुण्य-कृतावित्यैतिहासिकाः" (निरु० १२.१) इति। एवम्भूतान् सर्वान् देवानस्मद्रक्षणार्थं-माह्वयाम इति पूर्वत्र सम्बन्धः। अस्माभिराहूता सुभगा शोभनधनोपेता सरस्वती नोऽ-स्मभ्यं मयः करत् करोतु।

अन्वय— वयं पूर्वया निविदा तान् भगं मित्रम् अदितिं दक्षम् अस्रिधम् अर्यमणं वरुणं सोमम् अश्विना हूमहे। सुभगा सरस्वती नः मयस्करत्।

पदार्थ— वयम् = हम (स्तोता) लोग। पूर्वया = पूर्वकालिक, प्राचीन। निविदा = स्तुति-विशेष के द्वारा, देवात्मक वाणी के द्वारा। तान् = उन। भगम् = भगसंज्ञक देव को। मित्रम् = मित्रसंज्ञक देव को। अदितिम् = अदितिसंज्ञक देव को। दक्षम् = दक्ष-संज्ञक देव को। अस्रिधम् = सर्वदा एक रूप रहने वाले, शोषण रहित, अविनाशी। अर्यमणम् = अर्यमन्संज्ञक देव को। वरुणम् = वरुणसंज्ञक देव को। सोमसंज्ञक देव को। अश्विना = अश्विन्संज्ञक देवों को। हूमहे = पुकारते हैं, बुलाते हैं। सुभगा =

न धनवाली । सरस्वती = सरस्वती संज्ञक देवी । नः = हमारे लिए । मयः = सुख को । करत् = न करें ।

अनुवाद— हम (स्तोता) लोग प्राचीन (वेदात्मक) स्तुति-विशेष के द्वारा उन भग, मित्र, अदिति, , शोषण-रहित अर्यमन् वरुण, सोम (तथा दोनों) अश्विन् (संज्ञक देवों) को पुकारते हैं । शोभन धनों ी (देवी) सरस्वती हमारे लिए सुख प्रदान करें ।

करण—

निविदा – नि + √विद् + क्विप् तृतीया एकवचन ।

हूमहे – √हू + आत्मनेपद लट्, उत्तमपुरुष बहुवचन ।

अस्त्रिधम् – शोषणार्थक √स्त्रिध् + क्विप्, द्वितीया एकवचन का नञ् समास से युक्त रूप ।

अदितिम् – √दो (अवखण्डने) + क्तिन् + द्वितीया एकवचन ।

दक्षम् – √दक्ष + घञ्, द्वितीया एकवचन ।

वरुणम् – √वृ + उनन्, द्वितीया एकवचन ।

करत् – √कृ + लेट्, अट् का आगम; प्रथमपुरुष एकवचन ।

अर्यमन् – √ऋ (गतौ) + यत् + √मा + कनिन् ।

तन्नो वातो मयोभु वातु भेषजं
तन्माता पृथिवी तत्पिता द्यौः ।
तद्ग्रावाणः सोमसुतो मयोभुव-
स्तदश्विना शृणुतं धिष्ण्या युवम् ॥४॥

पदपाठ— तत् । नः । वातः । मयःऽभु । वातु । भेषजम् । तत् । माता पृथिवी । तत् । ा । द्यौः ॥ तत् । ग्रावाणः । सोमऽसुतः । मयःऽभुवः । तत् । अश्विना । शृणुतम् । ण्या । युवम् ॥

सा० भा०— वातो वायुस्तद् भेषजमौषधं नोऽस्मान् वातु प्रापयतु । यद् भेषजं मयोभु मयसः स्य भावयितृ माता सर्वेषां जननी पृथिवी भूमिरपि तद् भेषजम् अस्मान् प्रापयतु पिता वृष्टिप्रदानेन सर्वेषां ा द्यौः द्युलोकोऽपि तद् भेषजम् अस्मान् प्रापयतु । सोमसुतः सोमाभिषवं कृतवन्तो मयोभुवो मयसो फल-भूतस्य भावयितारो ग्रावाणोऽभिषवसाधनाः पाषाणाश्च तद् भेषजमस्मान् प्रापयन्तु । हे धिष्ण्या स्तदर्हावश्विनौ । युवं युवां तद् भेषजं शृणुतमाकर्णयतम् । यद् भेषज-मस्माभिर्वाय्यादिषु प्रार्थ्यते, यद् ां देवानां भिषजौ युवामस्माकमनुकूलं यथा भवति तथा जानीतमित्यर्थः ।

अन्वय— वातः तत् मयोभु भेषजं नः वातु, माता पृथिवी तत्, (नः वातु), पिता द्यौः तत् (नः) । मयोभुवः सोमसुतः ग्रावाणः तत् (नः वातु) । (हे) धिष्ण्या अश्विना ! युवं तत् शृणुतम् ।

पदार्थ— वातः = वायु (देव) । तत् = उस । भयोभु = सुखकर, सुख उत्पन्न करने वाले । भेषजम् ौषधि को । नः = हमारे लिए । वातु = प्राप्त करावें । माता पृथिवी = सभी को उत्पन्न करने वाली ी । पिता द्यौः = वृष्टि प्रदान करके सबके रक्षक द्यौः । मयोभुवः = सुख प्रदान करने वाले । सोमसुतः ोमरस को निचोड़ने वाले । ग्रावाणः = पत्थर । धिष्ण्या = हे प्रतिभा सम्पन्न, हे बुद्धिमन् । अश्विना ाश्विनीकुमारो, अश्विन्संज्ञक देवो । युवम् = तुम दोनों । तत् = उसको । शृणु तम् = सुन लो ।

अनुवाद— वायु (देव) उस सुखकारी ओषधि को हमारे लिए पहुंचायें ।

माता पृथिवी उसे (सुखकारी ओषधि को) हमारे लिये पहुंचायें। पिता द्युलोक उस (सुखकारी ओषधि को) हमारे लिए पहुंचायें। सुखकारी (एवं) सोम रस को निचोड़ने वाले पत्थर (भी) उसे हमारे लिए पहुंचायें। हे प्रतिभा-सम्पन्न अश्विनीकुमारो! तुम दोनों उसको सुन लो।

व्याकरण—

१. मयोभु – 'मयः भू' = मयोभू का 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' (पा० सू० १.२.४७) से नपुंसक में ह्रस्व होकर मयोभु रूप निष्पन्न हुआ है।

२. वातु – √वा गतिगन्धनयोः + लोट्, प्रथमपुरुष एकवचन।

३. सोमसुतः – सोमं सुन्वति इति सोमसुतः। सोम + √सुञ्, (अभिषवे) + क्विप्। सोम सुञः (पा०सू० ३.२.९०) से भूत अर्थ मे प्रथमा बहुवचन।

४. धिष्ण्या – धिषणा शब्द से 'अर्ह' (योग्य) अर्थ में 'य' प्रत्यय 'छन्दसि च' (पा०सू० ५.३.६७) से हुआ। पुनः 'सुपां सुलुक पूर्व०, ...(पा०सू० ७.१.३९) से आकार हुआ। तथा छान्दस् वर्णलोप होकर द्विवचन अथवा सम्बोधन का रूप। छन्दः पूर्ति के लिए धिष्णिया पाठ करना चाहिए। इसी प्रकार माता को 'म आता' तथा द्यौः को 'दि औः' पढ़ना चाहिए।

५. युवम् – युष्मद् का प्रथमा द्विवचन। युवाम् का वैदिक रूप।

६. शृणुतम् – √श्रु + लोट्, मध्यमपुरुष द्विवचन।

तमीशानं॒ जग॑तस्त॒स्थुष॒स्पतिं॑
धिय॑ञ्जि॒न्वमव॑से हूमहे व॒यम् ।
पू॒षा नो॒ यथा॒ वेद॑सा॒मस॑द्वृ॒धे
र॑क्षि॒ता पा॒युर॑द॒ब्धः स्व॒स्तये॑ ॥५॥

पदपाठ— तम् । ईशानम् । जगतः । तस्थुषः । पतिम् । धियंऽजिन्वम् । अवसे । हूमहे । वयम् ॥ पूषा । नः । यथा । वेदसाम् । असत् । वृधे । रक्षिता । पायुः । अदब्धः । स्वस्तये ॥

सा० भा०—पूर्वार्द्धेनेन्द्रः स्तूयते अपरार्धेन पूषा। ईशानमैश्वर्यवन्तम्, अत एव जगतो जङ्गमस्य तस्थुषः स्थावरस्य च पतिं स्वामिनं धियञ्जिन्वं धीर्भिः कर्मभिः प्रीणयि-तव्यम्। एवम्भूतं तमिन्द्रमवसे रक्षणाय वयं हूमहे आह्वयामः। पूषा नो अस्माकं वेदसां धनानां वृधे वर्धनाय रक्षिता यथा सत्येन प्रकारेण भवति तेनैवं प्रकारेणादब्धः केनाप्य-हिंसितः पूषा नोऽस्माकं वेदसां धनानां वृधे वर्धनाय रक्षिता यथासत् येन प्रकारेणा-दब्धः केनाप्यहिंसितः पूषा स्वस्तयेऽस्माकमविनाशाय रक्षिता भवतु।

अन्वय— वयम् ईशानं जगतः तस्थुषः पतिं धियञ्जिन्वं तम् (इन्द्रम्) अवसे हूमहे। यथा पूषा नः वेदसां वृधे रक्षिता असत् (तथा) अदब्धः स्वस्तये पायुः।

पदार्थ— वयम् = हम (स्तोता) लोग। ईशानम् = ऐश्वर्यवान्। जगतः = जङ्गम के। तस्थुषः = अचर के, स्थावर के। पतिम् = स्वामी। धियञ्जिन्वम् = बुद्धि से प्रसन्न होने वाला, कर्मों से प्रसन्न करने योग्य। तम् = उसको। अवसे = रक्षा के लिए। हूमहे = पुकारते हैं, बुलाते हैं। पूषा = देवता। नः = हमारे। वेदसाम् = धनों की। वृधे = वृद्धि के लिए। रक्षिता = रक्षा करने वाले। असत् = हों। अदब्धः = अहिंसितः। स्वस्तये = कल्याण के लिए। पायुः = पालक बनें, रक्षक हो जायँ।

अनुवाद— हम (स्तोता) लोग ऐश्वर्यवान्, जङ्गम् एवं स्थावर के स्वामी तथा (यज्ञादि) कर्मों से प्रसन्न होने वाले उस (इन्द्र) को रक्षा के लिए पुकारते हैं (बुलाते हैं)। पूषा देवता हमारे धनों की वृद्धि के लिए हों (तथा) (धनों के) रक्षक भी हो जायँ। अहिंसित (पूषा देवता) (हमारे) कल्याण के लिए पालक बनें।

व्याकरण—

१. ईशानम् – √ईश् (ऐश्वर्ये) + शानच्, द्वितीया एकवचन।
२. जगतः – √गम् +यङ् + क्विप्, षष्ठी बहुवचन।
३. तस्थुषः – √स्था + क्वसु, षष्ठी एकवचन।
४. धियञ्जिन्वम् – धियं जिन्वति–धी + √जिवि प्रीणनार्थः + खच्, द्वितीया बहुवचन।
५. अवसे – √अव् (रक्षणे) + तुमर्थक असेन् प्रत्यय।
६. वेदसाम् – √विद्ल् (लाभे) + असुन् षष्ठी बहुवचन।
७. असत् – √अस् + लेट्, प्रथमपुरुष एकवचन।
८. वृधे –√वृध् + क्विप्, चतुर्थी एकवचन।
९. पायुः –√पा रक्षणे + उण्, प्रथमा एकवचन।
१०. स्वस्तये – सु + √अस्, + क्तिन् (भाव अर्थ में), चतुर्थी एकवचन।

स्व॒स्ति न॒ इन्द्रो॑ वृ॒द्धश्र॑वाः
स्व॒स्ति नः॑ पू॒षा वि॒श्ववे॑दाः ।
स्व॒स्ति न॒स्तार्क्ष्यो॒ अरि॑ष्टनेमिः
स्व॑स्ति नो॒ बृह॒स्पति॑र्दधातु ॥६॥

पदपाठ— स्व॒स्ति । न॒ । इन्द्रः॑ । वृ॒द्धश्र॑वाः । स्व॒स्ति । नः॒ । पू॒षा । वि॒श्व॒ऽवे॑दाः । स्व॒स्ति । नः॒ । तार्क्ष्यः॑ । अरि॑ष्टऽनेमिः । स्व॒स्ति । नः॒ । बृह॒स्पतिः॑ । दधातु ॥

सा० भा०—वृद्धं प्रभूतं श्रवः श्रवणं स्तोत्रं हविर्लक्षणमन्नं वा यस्य तादृशः इन्द्रो नोऽस्माकम्। 'स्वस्तीत्यविनाशनाम' (निरु०३.२१) स्वस्त्यविनाशं दधातु विदधातु करोतु। विश्ववेदाः। विश्वानि वेत्ति इति विश्ववेदाः। यद्वा, विश्वानि सर्वाणिं वेदांसि ज्ञानानि धनानि वा यस्य। तादृशः पूषा पोषको देवो नोऽस्माकं स्वस्ति विदधातु। अरिष्टनेमिः। नेमिरित्यायुधनाम। अरिष्टोऽहिंसितो नेमिर्यस्य। यद्वा रथचक्रस्य धारा नेमिः। यत्सम्बन्धिनो रथस्य नेमिः न हिंस्यते सोऽरिष्टनेमिः। एवम्भूतस्तार्क्ष्यस्तृक्षस्य पुत्रो गरुत्मान् नोऽस्माकं स्वस्त्यविनाशं विदधातु। तथा वृहस्पतिर्वृहतां देवानां पाल-यिता नोऽस्माकं स्वस्त्यविनाशं विदधातु।

अन्वय— वृद्धश्रवाः इन्द्रः नः स्वस्ति दधातु, विश्ववेदाः पूषा न स्वस्ति (दधातु), अरिष्टनेमिः तार्क्ष्यः न स्वस्ति (दधातु), वृहस्पतिः नः स्वस्ति (दधातु)।

पदार्थ— वृद्धश्रवाः = प्रभूत यशस्वी, अत्यधिक अन्न वाले। इन्द्रः = इन्द्र (देवता)। नः = हमारा। स्वस्ति = कल्याण। दधातु = करें, प्रदान करें। विश्ववेदाः = सर्वज्ञ, समस्त धनों से युक्त। पूषा = पूषा (देवता, देव)। अरिष्टनेमिः = अहिंसित रथचक्र वाला, अहिंसित चक्रपरिधि वाला, अहिंसित आयुध से युक्त। तार्क्ष्यः = गरुड देव। नः = हमारा। स्वस्ति = कल्याण। बृहस्पतिः = बृहद्देवों के पालनकर्त्ता, बृहस्पति देव। नः = हमारा। स्वस्ति = कल्याण।

अनुवाद— प्रभूत यशस्वी (अथवा अत्यधिक अन्नवाले) इन्द्र हमारा कल्याण करें। सर्वज्ञ (अथवा समस्त धनों से युक्त) पूषा (देव) हमारा कल्याण करें। अहिंसित आयुध वाले तार्क्ष्य (गरुड) हमारा कल्याण करें। वृहस्पति (देव) हमारा कल्याण करें।

व्याकरण—

१. वृद्धश्रवाः – वृद्धं श्रवः यस्य सः बहुव्रीहिसमास।
२. विश्ववेदाः – विश्वानि वेत्ति इति [illegible]

३. अरिष्टनेमिः – अरिष्टः नेमिः यस्य सः (बहुव्रीहि समास)।

४. विदधातु – वि + √धा + लोट् प्रथमपुरुष एकवचन।

पृषदश्वा मरुतः पृश्निमातरः
शुभंयावानो विदथेषु जग्मयः।
अग्निजिह्वा मनवः सूरचक्षसो
विश्वे नो देवा अवसा गमन्निह ॥७॥

पदपाठ— पृषत्ऽअश्वाः। मरुतः। पृश्निऽमातरः। शुभंऽयावानः। विदथेषु। जग्मयः॥ अग्निऽजिह्वाः। मनवः। सूरऽचक्षसः। विश्वे। नः। देवाः। अवसा। आ। गमन्। इह॥

सा० भा०— पृषदश्वाः। पृषद्भिः श्वेतबिन्दुभिर्युक्ता अश्वा येषां ते तथोक्ताः। पृश्निर्नानावर्णा गौर्माता येषाम्। शुभंयावानः। शुभं शोभनं यान्ति गच्छन्तीति शुभया-वानः शोभनगतय इत्यर्थः। विदथेषु यज्ञेषु जग्मयो गन्तारः। अग्निजिह्वा अग्नेर्जिह्वायां वर्तमानाः। सर्वे हि देवा हविः स्वीकरणायाग्नेर्जिह्वायां वर्तन्ते। तात्स्यात् ताच्छब्द्यम्। मनवः सर्वस्य मन्तारः। सूरचक्षसः सूर्य प्रकाश इव चक्षः प्रकाशो येषां त एवम्भूता मरुतो मरुत्सञ्ज्ञका विश्वेदेवा सर्वे देवाः नोऽस्मानिहास्मिन् कालेऽवसा रक्षणेन सह आगमन् आ गच्छन्तु।

अन्वय— पृषदश्वाः पृश्निमातरः शुभंयावानः विदथेषु जग्मयः अग्निजिह्वाः मनवः सूरचक्षसः मरुतः, विश्वेदेवा नः अवसा इह आ गमन्।

पदार्थ— पृषदश्वाः = चितकबरी घोड़ियों वाले, श्वेतविन्दुयुक्त अश्वों वाले। पृश्निमातरः = पृश्निसंज्ञिका माता वाले, विविध वर्णों वाली गौ है माता जिनकी, वे। शुभंयावानः = शुभ गति वाले। विदथेषु = यज्ञों में, यज्ञस्थलों में। जग्मयः = जाने वाले, पहुंचने वाले। अग्निजिह्वा = अग्नि रूपी जिह्वा वाले, अग्नि की जिह्वा पर स्थित। मनवः = मननशील, सर्वज्ञ। सूरचक्षसः = सूर्यरूपी नेत्रों वाले, सूर्य के समान नेत्रों वाले। मरुतः = मरुत्-संज्ञक। विश्वेदेवाः = सभी देवता। नः = हमारे। अवसा = रक्षा के लिए, सहायता के साथ। इह = यहाँ पर। आ गमन् = आ जायँ, आवें।

अनुवाद—चितकबरी घोड़ियों वाले, पृश्नि-संज्ञिका माता वाले, शुभ गति वाले, यज्ञ-स्थलों मे पहुंचने वाले, अग्नि रूपी जिह्वा वाले, सर्वज्ञ, सूर्य रूपी नेत्रों वाले मरुत् संज्ञक सभी देव हमारी सहायता के साथ यहाँ पर आ जायँ।

व्याकरण—

१. पृषदश्वाः – पृषद्भिः श्वेतबिन्दुभिः युक्ता अश्वा येषां ते (सायण), पृषत्यः अश्वाः येषां ते (महीधर)। यद्यपि सायण के अर्थ को भी मधीधर स्वीकार करते हैं। निघण्टु में 'षृषत्यो मरुताम्'– मरुतों की घोड़ियाँ चितकबरी कही गयी हैं।

२. पृश्निमातरः– पृश्निः नानावर्णा गौः माता येषाम् ते (सायणं)। पृश्निद्यौर्माता येषां ते (उव्वट)। पृश्निर्द्यौर्गौर्दितिर्वा माता जननी येषां ते पृश्निमातरः (महीधर)।

३. शुभंयावानः– शुभं कल्याणं यन्ति प्राप्नुवन्ति प्रापयन्ति वा (महीधर), शुभं शोभनं यान्ति गच्छन्तीति शुभंयावानः (सायण)– शुभम् + √या + वनिप्, प्रथमा बहुवचन।

४. जग्मयः – √गम् + किः, प्रथमा बहुवचन।

५. अग्निजिह्वाः – अग्नेर्जिह्वायां वर्तमानाः (सायण)। अग्निर्जिह्वा भोजनसाधनं येषां ते (महीधर)।

६. मनवः – √मन् + उ, प्रथमा बहुवचन।

सूरचक्षसः – सूरः सूर्यप्रकाश इव चक्षः प्रकाशो येषां ते–(सायण)। सूरः सूर्यश्चक्षः चक्षुर्येषां ते, सूर्यं चक्षते पश्यन्ति वा (महीधर)।

अवसा– √अव् (रक्षणे) + असुन्, तृतीया एकवचन।

गमन् – √गम् + लेट् + प्रथमपुरुष बहुवचन।

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभि-
र्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥८॥

पदपाठ— भद्रम्। कर्णेभिः। शृणुयाम। देवाः। भद्रम्। पश्येम। अक्षऽभिः। यजत्राः। स्थिरैः। अङ्गैः। तुष्टुऽवांसः। तनूभिः। वि। अशेम। देवऽहितम्। यत्। आयुः॥

सा० भा०— हे देवाः दानादिगुणयुक्ताः सर्वे देवाः कर्णेभिः अस्मदीयैः श्रोत्रैर्भद्रं भजनीयं कल्याणं नं शृणुयाम युष्मत्प्रसादाच्छ्रोतुं समर्थाः स्याम। अस्माकं बाधीर्यं कदाचिदपि मा भूत्। हे यजत्राः पुरोडाशादिभिर्यष्टव्या देवा अक्षभिरक्षिभिरात्मीयैश्च क्षभिर्भद्रं शोभनं पश्येम द्रष्टुं समर्थाः स्याम। अस्माकं प्रतिघातो मा भूत्। स्थिरैः-दृढैरङ्गैर्हस्तपादादिभिरवयवैस्तनूभिः शरीरैश्च युक्ता वयं तुष्टुवांसो युष्मान् वन्तो यदायुः षोडशाधिकशतप्रमाणविंशत्यधिकशतप्रमाणं वा देवहितं देवेन प्रजापतिना स्थापितं तद् ोम प्राप्नुयाम।

अन्वय— (हे) यजत्राः देवाः कर्णेभिः भद्रं शृणुयाम, अक्षभिः भद्रं पश्येम, स्थिरैः अङ्गैः तनूभिः वांसः देवहितं यत् आयुः (तद्) व्यशेम।

पदार्थ— यजत्राः = यजनीय, यजमानों के रक्षक। देवाः = देवतागण। कर्णेभिः = कानों से। म् = कल्याणकारी, अनुकूल। शृणुयाम = सुनें। अक्षभिः = आँखों से। पश्येम = देखें। स्थिरैः = , मजबूत। अङ्गैः = अङ्गों से। तनूभिः = शरीर से। तुष्टुवांसः = स्तुति करते हुए। देवहितम् = देवों ा स्थापित, देवों द्वारा निश्चित की गयी। यत् = जो। आयुः = आयु को। व्यशेम = प्राप्त करें।

अनुवाद— (हे) यजमानों के रक्षक देवता गण ! हम (स्तोता) कानों से कल्याणकारी (बातें) सुनें, ों से कल्याणकारी (वस्तुओं एवं घटनाओं को) देखें। दृढ़ अङ्गों से युक्त शरीरों द्वारा (आप सबकी) ते करते हुए देवताओं द्वारा निश्चित की गयी जो आयु को प्राप्त करें।

करण—

कर्णेभिः – यह कर्ण शब्द का तृतीया बहुवचन का वैदिक रूप है लौकिक संस्कृत में कर्णैः रूप बनता है।

शृणुयाम – √श्रु + लोट् + उत्तमपुरुष बहुवचन।

पश्येम – दृश् (पश्य) लोट् + उत्तमपुरुष बहुवचन।

अक्षभिः – अक्ष, तृतीया बहुवचन।

यजत्रा – √यज् + त्रै + क्विप्, प्रथमा बहुवचन।

तुष्टुवांसः – √ष्टुञ् (स्तुतौ) + लिट् + क्वसु, प्रथमा बहुवचन।

देवहितम् – देवैः हितम्। √धा + क्त = हितम्। 'दधातेर्हि' (पा०सू० ७.४.४२) से 'धा' को 'हि' आदेश।

शतमिन्नु शरदो अन्ति देवा
यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्।

पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति
मा नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोः ॥९॥

पदपाठ— शतम् । इत् । नु । शरदः । अन्ति । देवाः । यत्र । नः । चक्र । जरसम् । तनूनाम् ॥ पुत्रासः । यत्र । पितरः । भवन्ति । मा । नः । मध्या । रीरिषत । आयुः । गन्तोः ॥

सा० भा०— हे देवा अन्त्यन्तिके मनुष्याणां समीपे आयुष्ट्वेन भवद्भिः कल्पिताः शरदः संवत्सराः शतमित्नु शतं खलु। यस्मात् सृष्टिकाले मनुष्याणां शतं संवत्सरा आयुरिति युष्माभिः परिकल्पितं तस्मान्नोऽस्माकमायुर्गन्तोः क्लृप्तस्यायुषो गमनात् पूर्वं मध्या मध्ये मा रीरिषत मा हिंसीष्ट। कीदृशान्। नोऽस्माकं तनूनां शरीराणां जरसं जरां यत्र यस्यामवस्थायां चक्र कृतवन्तो यूयम्। यत्र च पुत्रासः पुत्राः पितरोऽस्माकं रक्षितारो भवन्ति। ईदृग्दशोपपन्नानित्यर्थः।

अन्वय— (हे) देवाः (नः) अन्ति शरदः शतम् इत नु, यत्र नः तनूनां जरसं चक्र। यत्र पुत्रासः पितरः भवन्ति, नः आयुः गन्तोः मध्या मा रीरिषत।

पदार्थ— (हे) देवा = हे देवतागण! (नः = हमारे)। अन्ति = पास। शरदः = वर्ष। शतम् = सौ। इत = ही। यत्र = जिसमें। नः = हमारे। तनूनाम् = शरीरों की। जरसम् = वृद्धावस्था। चक्र = कर देते हो। यत्र = जिसमें। पुत्रासः = पुत्रगण। पितरः = पिता, रक्षक। भवन्ति = होते हैं, हो जाते हैं। नः = हमारी। आयुः = आयु को। गन्तोः = (जीवन) गति के। मध्या = मध्य में। मा = मत। रीरिषत = हिंसित करो।

अनुवाद— हे देवतागण! (हमारे) पास वर्षों के सौ ही हैं, जिसमें (तुम लोग) हमारे शरीरों की वृद्धावस्था कर देते हो; जिसमें (हमारे) पुत्र (हमारे) रक्षक हो जातें हैं। (आप लोग) हमारी आयु को (जीवन) गति के मध्य में हिंसित न करें।

व्याकरण—

१. अन्ति— 'अन्तिक अव्यय पद का 'कादिलोपो बहुलमिति वक्तव्यम्' से ककार का लोप हो गया है।

२. यत्रा—यत्र शब्द को 'ऋचि तुनुघमक्षुतङ्कुत्रौ०' (पा०सू० ६.३.१३३) से संहितापाठ में दीर्घ हो गया है।

३. चक्रा— √कृ + लिट्, मध्यम पुरुष बहुवचन। 'द्व्यचोऽतस्तिङ्' (पा०सू० ६.३.१३५) से संहितापाठ में दीर्घ हो गया है।

४. जरसम्—'जरा' शब्द को 'जराया जरसन्यतरस्याम्' (पा०सू० ७.२.१०१) से जरस आदेश होकर 'सुपां' सुलुक्० .....(पा०सू० ७.१.३९) से 'ड' आदेश, द्वितीया एकवचन।

५. रीरिषत— √रिष्, हिंसायाम् + लुङ् मध्यम पुरुष बहुवचन।

६. गन्तोः—√गम् + से।

७. मध्या— मध्य के सप्तमी एकवचन मे मध्ये के स्थान पर वेद में मध्या रूप हो गया है।

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्ष-
मदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वे देवा अदितिः पञ्चजना
अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥१०॥

पदपाठ— अदितिः । द्यौः । अदितिः । अन्तरिक्षम् । अदितिः । माता । सः । पिता । स

पुत्रः ॥ विश्वे । देवाः । अदितिः । पञ्च । जनाः । अदितिः । जातम् । अदितिः । जनित्वम् ॥

सा० भा०— अदितिः अदीना अखण्डनीया वा पृथिवी देवमाता वा सैव द्यौर्द्योतनशीलो नाकः । सैव अन्तरिक्षमन्तरा द्यावापृथिव्योर्मध्य ईक्ष्यमाणं व्योम । सैव माता निर्मात्री जगतो जननी । सैव पितोत्पादकः । तश्च स पुत्रो मातापित्रोर्जातः पुत्रोऽपि सैव । विश्वेदेवाः सर्वेऽपि देवाः अदितिरेव । पञ्चजना निषादपञ्चमाश्चत्वारो वर्णाः । यद्वा—गन्धर्वाः पितरो देवाः असुरा रक्षांसि । तदुक्तं यास्केन—"गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा रक्षांसीत्येके । चत्वारो वर्णा निषादः पञ्चम इत्यौपमन्यवः" (निरु० ३.८) इति । ब्राह्मणे त्वेवमाम्नातम्—"सर्वेषां वा एतत् पञ्चजनानामुक्थं देवमनुष्याणां गन्धर्वाप्सरसां सर्पाणां पितृणां च" (ऐ० ब्रा० ३.३१) इति । तत्र गन्धर्वाप्सरसामैक्यात् पञ्चजनत्वम् । एवंविधाः पञ्चजना अप्यदितिरेव । जातं जननं प्रजानामुत्पत्तिः साप्यदितिरेव । जनित्वं जन्माधिकरणं तदप्यदि-तिरेव । एवं सकलजगदात्मनादितिः स्तूयते । उक्तं च यास्केन—'इत्यदि-तेर्विभूतिमाचष्टे' (निरु० ४.२३) इति ।

अन्वय— अदितिः द्यौः, अदितिः अन्तरिक्षम्, अदितिः माता, सः पिता,सः पुत्रः । अदितिः पञ्चजनाः, अदितिः विश्वेदेवाः, अदितिः जातं जनित्वम् ।

पदार्थ— अदितिः = अदिति । द्यौः = द्युलोक । अन्तरिक्षम् = अन्तरिक्षलोक । पञ्चजनाः = आर्यों की पाँच जातियाँ । विश्वेदेवाः = सभी देवता । जातम् = जो उत्पन्न हुआ है । जनित्वम् = जो उत्पन्न होने वाला है ।

अनुवाद— अदिति द्युलोक (है), अदिति अन्तरिक्ष (है) अदिति माता (उत्पन्न करने वाली) है; वह पिता (पालन करने वाला) (हैं), वह पुत्र (नरक से बचाने वाला) (है) अदिति पञ्चजन (हैं) अदिति सभी देव है । (वही) उत्पन्न हुआ है (एवम्) उत्पन्न होने वाला भी है ।

व्याकरण—

1. अन्तरिक्षम् – अन्तरा द्यावापृथिव्योर्मध्य ईक्ष्यमाणं व्योम । द्युलोक एवं पृथ्वी के मध्य दृष्टिगोचर होने वाले व्योम को अन्तरिक्ष कहा गया है ।
2. पञ्चजनाः – इस शब्द के अर्थ मे मतभेद है । यास्क गन्धर्व, पितर, देव, असुर एवं राक्षस । औपमन्यव– ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र एवं निषाद । ब्राह्मण ग्रन्थ देव, मनुष्य, गन्धर्व-अप्सरा, सर्प तथा पितर । ऋग्वेद– यदु, तुर्वश, द्रुहयु, अनु और पुरु, ये जातियाँ ही पञ्चजन हैं ।
3. जनित्वम् – √जन् + त्वन् ।

अभ्यास

१) निम्नलिखित मन्त्रों का अनुवाद कीजिए-

(क) आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु .....(१)

(ख) तन्नो वातो मयोभू वातु .....(४)

(ग) भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम..... (८)

२) निम्नलिखित शब्दों पर व्याकरणात्मक टिप्पणियाँ लिखिए-

(क) कर्णेभिः (ख) उपसेदिमा (ग) अदब्धासः

३) विश्वेदेवासूक्त का सारांश लिखिए।

६.१ विष्णुसूक्तम्

वेद-ऋग्वेद मण्डल संख्या-१ सूक्त संख्या-१५४

ऋषि-दीर्घतमा देवता-विष्णु छन्द-त्रिष्टुप्

विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचं
यः पार्थिवानि विममे रजांसि ।
यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं
विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः ॥१॥

पदपाठ— विष्णोः । नु । कम् । वीर्याणि । प्र । वोचम् । यः । पार्थिवानि । विऽममे । रजांसि ॥ यः । अस्कभायत् । उत्ऽतरम् । सधऽस्थम् । विऽचक्रमाणः । त्रेधा । उरुऽगायः ॥

सा० भा० — हे नराः विष्णोः व्यापनशीलस्य देवस्य वीर्याणि वीरकर्माणि नु कम् अतिशीघ्रं प्र वोचम् प्रब्रवीमि । अत्र अद्यपि नु कम् इति पदद्वयम् तथापि यास्केन 'नवोत्तराणि पदानि' (निरु० ३.१२) इत्युक्तत्वात् शाखान्तरे एकत्वेन पाठाच्च नु इत्येतस्मिन्नेवार्थे नु कम् इति पदद्वयम्, कानि तानीति तत्राह । यः विष्णुः पार्थि-वानि पृथिवीसम्बन्धीनि रजांसि रञ्जनात्मकानि क्षित्यादिलोकत्रयाभिमानीनि अग्निवा-य्वादित्यरूपाणि रजांसि विममे विशेषेण निर्ममे ।

अन्वय— नु कम् विष्णोः वीर्याणि प्रवोचम्, यः पार्थिवानि रजांसि विममे । उरुगायः यः त्रेधा विचक्रमाणः उत्तरं सधस्थम् अस्कभायत् ।

पदार्थ— नु = अब । कम् = पादपूर्ति के लिए प्रयुक्त निपात । विष्णोः = विष्णु (देवता) के । वीर्याणि = वीरतायुक्त (वीरतापूर्ण) कार्यों को । प्रवोचम् = कहता हूँ, वर्णन करता हूँ । यः = जिसने । पृथिवी-सम्बन्धी, पृथिवी से सम्बन्धित । रजांसि = प्रदेशों को, स्थानों को, लोकों को । विममे = बनाया है, निर्मित किया है, अथवा नापा है । उरुगायः = विशाल गति वाले । यः = जिसने । त्रेधाः = तीन प्रकार से । विचक्रमाणः = चलते हुए, गति करते हुए, पादन्यास (पादप्रक्षेप) करते हुए । उत्तरम् = उत्तरवर्ती, ऊपर स्थित, सर्वोच्च । सधस्थम् = (देवताओं के) सहनिवासस्थान को, वह स्थान जहाँ पर देवता एक साथ निवास करते हैं, स्वर्गलोक को । अस्कभायत् = आधार प्रदान किया, स्थिर किया, स्थापित किया ।

अनुवाद— अब मैं (उस) विष्णु (देवता) के वीरतापूर्ण कार्यों को कहता हूँ, जिसने पृथिवी से सम्बन्धित स्थानों (प्रदेशों) को निर्मित किया है (या नापा है) । विशाल गति वाले (= विस्तीर्ण पादप्रक्षेप वाले) जिस (विष्णु) ने तीन प्रकार से पादन्यास (पादप्रक्षेप) करते हुए उत्तरवर्ती (ऊपर स्थित) (देवताओं के) सहनिवास-स्थान (स्वर्ग-लोक) को स्थिर किया है ।

व्याकरण—

१. वीर्याणि – वीर + यत् = वीर्य, द्वितीया बहुवचन ।

२. वोचम् – √वच् (बोलना, कहना) + लुङ्, उत्तमपुरुष एकवचन । अट् (अ) का अभाव छान्दस् है; लुङ् का प्रयोग वर्तमान अर्थ में हुआ है ।

३. विममे – वि + √मा (मापना, निर्माण करना) + लिट्, प्रथमपुरुष एकवचन ।

४. उरुगायः – उरु + √गै + अच्, प्रथमा एकवचन ।

५. विचक्रमाणः – वि + √क्रम् (क्रमण करना, पग रखना) + कानच्, प्रथमा एकवचन ।

६. सधस्थम् – सह देवा तिष्ठन्ति यस्मिन् तत् – सह + स्था; 'सह' के स्थान पर 'सध' हो गया है।

७. अस्कभायत् – √स्कभ् (आधार प्रदान करना, स्थापित करना) + लङ्, प्रथम- पुरुष एकवचन।

प्र तद्विष्णुः स्तवते वीर्येण
मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः ।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणे-
ष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ॥२॥

पदपाठ— प्र । तत् । विष्णुः । स्तवते । वीर्येण । मृगः । न । भीमः । कुचरः । गिरिस्थाः ॥ यस्य । उरुषु । त्रिषु । विऽक्रमणेषु । अधिऽक्षियन्ति । भुवनानि । विश्वा ॥

सा० भा०— यस्येति वक्ष्यमाणत्वात् स इति अवगम्यते। स महानुभावः वीर्येण स्वकीयेन वीरकर्मणा पूर्वोक्तरूपेण स्तवते स्तूयते सर्वैः। कर्मणि व्यत्ययेन शप्। वीर्येण स्तूयमानत्वे दृष्टान्तः। मृगो न सिंहादिरिव। यथा स्वविरोधिनी मृगयिता सिंहः भीमः भीतिजनकः कुचरः कुत्सितहिंसादिकर्ता दुर्गमप्रदेशगन्ता वा गिरिष्ठाः पर्वताद्युन्नतप्रदेश-स्थायी सर्वैः स्तूयते।

अन्वय— मृगः न भीमः कुचरः गिरिष्ठाः तत् विष्णुः वीर्येण प्र स्तवते। यस्य त्रिषु उरुषु विक्रमणेषु विश्वा भुवनानि अधिक्षियन्ति।

पदार्थ— मृगः न = (सिंह, व्याघ्र आदि हिंसक) पशु के समान। भीमः = भयङ्कर, भयानक। कुचरः = दुर्गम स्थानों में भ्रमण करने वाला, कुत्सित हिंसा आदि कार्य करने वाला (पशु), सर्वत्र विचरण करने वाला। गिरिष्ठाः = पर्वत पर रहने वाला (पशु), पर्वत के समान उन्नत लोक में रहने वाला। तत् विष्णुः = वह विष्णु (देवता)। प्र स्तवते = प्रकृष्ट रूप से स्तुति किया जाता है, (स्तुति प्राप्त करता है)। यस्य = जिसके। त्रिषु उरुषु विक्रमणेषु = तीन विस्तीर्ण पादन्यासों (पादप्रक्षेपों, डगों) में। विश्वा भुवनानि = समस्त लोक या समस्त लोकों में स्थित प्राणी। अधिक्षियन्ति = निवास करते हैं।

अनुवाद— भयङ्कर, दुर्गम स्थलों में भ्रमण करने वाले (या कुत्सित हिंसा आदि करने वाले) तथा पर्वत पर रहने वाले (सिंह, व्याघ्र आदि हिंसक) पशु (जन्तु, मृग) के समान (भयंकर), सर्वत्र (सभी लोकों में) विचरण करने वाला तथा पर्वत के समान उन्नत लोक में निवास करने वाला वह विष्णु (देव) (अपने वीरतापूर्ण कार्यों के कारण) प्रकृष्टरूप से स्तुति किया जाता है (स्तुति प्राप्त करता है); जिस (विष्णु) के तीन विस्तीर्ण (विस्तृत) पाद-प्रक्षेपों (पगों, डगों) में सम्पूर्ण लोक (अथवा सम्पूर्ण लोकों में स्थित प्राणी) निवास करते हैं।

व्याकरण—

१. न-वेद में 'न' निषेध तथा उपमा दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है। यहाँ यह उपमा अर्थ में है।

२. कुचरः – कु (या क्व) √चर् (विचरण करना) + ट; कुत्सित प्रदेशों में जाने वाला (या कुत्सित कार्य करने वाला) तथा कहाँ (क्व) न जाने वाला (अर्थात् सर्वत्र जाने वाला)। तत्-व्यत्यय से यहाँ पुल्लिङ्ग (सः) के स्थान पर नपुंसकलिङ्ग (तत्) का प्रयोग हुआ है।

३. प्रस्तवते – प्र + √स्तु (स्तुति करना) + लट्, प्रथम पुरुष एकवचन कर्मवाच्य; स्तूयते के स्थान पर स्तवते प्रयुक्त हुआ है। दूर (=व्यवहित) होने पर भी 'प्र' उपसर्ग 'स्तवते' क्रिया से सम्बद्ध है। वेद में उपसर्ग क्रिया से दूर भी प्रयुक्त होते हैं।

४. विक्रमणेषु – वि + √क्रम + ल्युट् (अन्), सप्तमी, बहुवचन।

५. विश्वा – नपुंसकलिङ्ग सप्तमी एकवचन का वैदिक रूप है। लौकिक संस्कृत में विश्वानि रूप बनता है।

६. अधिक्षियन्ति = अधि + √क्षि (निवास करना) + लट्, प्रथम पुरुष एकवचन।

प्र विष्णवे शूषमेतु मन्म
गिरिक्षितें उरुगायाय वृष्णें ।
य इदं दीर्घं प्रयतं सधस्थ-
मेको विममे त्रिभिरित्पदेभिः ॥३॥

पदपाठ— प्र । विष्णवे । शूषम् । एतु । मन्म । गिरिऽक्षितें । उरुगायाय । वृष्णें ॥ यः । इदम् । दीर्घम् । प्रऽयतम् । सधऽस्थम् । एकः । विऽममे । त्रिऽभिः । इत् । पदेभिः ॥

सा० भा— विष्णवे सर्वव्यापकाय शूषम् अस्मत्कृत्यादिजन्यं बलं महत्त्वं मन्म मननं स्तोत्रं मननीयं शूषं बलं वा विष्णुम् एतु प्राप्नोतु । कर्मणः सम्प्रदानत्वात् चतुर्थी । कीदृशाय । गिरिक्षिते वाचि गिरिवदुन्नतप्रदेशे वा तिष्ठते उरुगायाय बहु-भिर्गीयमानाय वृष्णे वर्षित्रे कामानाम् । एवं महानुभावं शूषं प्राप्नोतु । कोऽस्य विशेष इति उच्यते । यः विष्णुः इदं प्रसिद्धं दृश्यमानं दीर्घम् अतिविस्तृतं प्रयतं नियतं सधस्थं लोकत्रयम् एक इत् एक एवाद्वितीयः सन् त्रिभिः पदेभिः पादैः विममे विशेषेण निर्मितवान् ।

अन्वय— गिरिक्षिते उरुगायाय वृष्णे विष्णवे शूषं मन्म प्र एतु, यः एकः इत् इदं दीर्घं प्रयतं सधस्थम् त्रिभिः पदेभिः विममे ।

पदार्थ— गिरिक्षिते = पर्वत पर (अर्थात् पर्वत के समान उन्नत लोक में) निवास करने वाले । उरुगायाय = विशाल गतिवाले, विस्तीर्ण पाद-प्रक्षेप (डग) वाले । वृष्णे = कामनाओं को पूर्ण करने वाले । विष्णवे = विष्णु के लिये । शूषम् = बलशाली, उत्साहवर्धक । मन्म = प्रार्थना, स्तुति, मन्त्र । प्र एतु = प्रकृष्ट रूप से जाय, प्राप्त हो, पहुँचे । यः = जिसने । एकः = अकेले ही । इदम् = इस । दीर्घम् = बड़े, लम्बे । प्रयतम् = फैले हुए, विस्तृत । सधस्थम् = (देवताओं के) सहनिवासस्थान को । त्रिभिः पदेभिः = तीन पाद-प्रक्षेपों से, तीन डगों से । विममे = विशेष रूप से नापा, विशेष रूप से निर्मित किया । इत् = पादपूर्ति के लिए प्रयुक्त निपात ।

अनुवाद— पर्वत पर (अर्थात् पर्वत के समान उन्नत लोक में) निवास करने वाले , विशाल गतिवाले, (अथवा विस्तीर्ण पाद-प्रक्षेपों वाले), कामनाओं को पूर्ण करने वाले विष्णु के पास (हमारा) बलशाली (उत्साहवर्धक) मन्त्र (= प्रार्थना) पहुँचे, जिस (विष्णु) ने अकेले ही इस लम्बे एवं विस्तृत (फैले हुए) (देवताओं के) सह-निवासस्थान को (अर्थात् तीनों लोकों को) तीन पाद-प्रक्षेपों (डगों) से विशेष रूप से नाप लिया (अथवा निर्मित किया) ।

व्याकरण—

१. एतु – √इ + लोट्, प्रथमपुरुष एकवचन ।
२. प्रयतम् – प्र + √यम् + क्त ।
३. पदेभिः – पद का तृतीया बहुवचन में वैदिक रूप है लौकिक संस्कृत में पदैः रूप बनता है ।
४. विममे – वि + √मा + लिट्, प्रथमपुरुष एकवचन ।

यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्य-
क्षीयमाणा स्वधया मदन्ति ।
य उ त्रिधातु पृथिवीमुत द्या-
मेको दाधार भुवनानि विश्वा ॥४॥

पदपाठ— यस्य । त्री । पूर्णा । मधुना । पदानि । अक्षीयमाणा । स्वधया । मदन्ति ॥

यः । ऊँ इति । त्रिऽधातु । पृथिवीम् । उत । द्याम् । एकः । दाधारः । भुवनानि । विश्वा ॥

सा० भा०— यस्य विष्णोः मधुना मधुरेण दिव्येनामृतेन पूर्णा पूर्णानि त्री त्रीणि पदानि अक्षीयमाणा अक्षीयमाणानि स्वधया अन्नेन मदन्ति मादयन्ति तदाश्रित-जनान्। य उ य एव पृथिवीं प्रख्यातां भूमिं द्याम् उत द्योतनात्मकमन्तरिक्षं च विश्वा भुवनानि सर्वाणि भूतजातानि चतुर्दशलोकांश्च। यद्वा। पृथिवीशब्देन। अधोवर्तीनि। अतलवितलादिसप्तभुवनान्युपात्तानि। द्युशब्देन तदवान्तररूपाणि भूरादिसप्तभुवनानि। एवं चतुर्दशलोकान् विश्वा भुवनानि सर्वाण्यपि तत्रत्यानि भूतजातानि। त्रिधातु। त्रयाणां धातूनां समाहारस्त्रिधातु। पृथिव्यप्तेजोरूपधातुत्रयविशिष्टं यथा भवति तथा दाधार धृतवान्।

अन्वय— यस्य मधुना पूर्णा त्री पदानि अक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति, यः उ त्रेधातु एकः पृथिवीम् द्याम् उत् विश्वा भुवनानि दाधार।

पदार्थ— यस्य = जिस (विष्णु) के मधुना = मधु से। पूर्णा = पूर्ण, युक्त, भरे हुए। त्री = तीन। पदानि = पद, पादन्यास। अक्षीयमाणा = क्षीण न होते हुए। स्वधया = अन्न से। मदन्ति = आनन्दित (तृप्त) करते हैं। यः = जिसने। उ = पादपूरणार्थक निपात। त्रिधातु = तीन धातुओं (पृथिवी, जल और तेज) से युक्त होकर, तीन पग चलकर। एकः = अकेले ही। पृथिवीम् = पृथिवी लोक को। द्याम् = द्युलोक को। उत = और। विश्वा = सम्पूर्ण। भुवनानि = लोकों को। दाधार = धारण किया है।

अनुवाद— जिस विष्णु के मधु से भरे हुए तीन पद (पादन्यास) (कभी) क्षीण न होते हुए, अन्न से (आश्रित जनों को) आनन्दित (तृप्त) करते हैं; जिस (विष्णु) ने (पृथिवी, जल और तेज रूप) तीन धातुओं से युक्त होकर, (अथवा तीन पग चलकर) पृथिवी लोक, द्युलोक और सम्पूर्ण लोकों को धारण किया है।

व्याकरण—

१. त्री, पूर्णा, अक्षीयमाणा, विश्वा– ये क्रमशः त्रीणि, पूर्णानि, अक्षीयमाणानि तथा विश्वानि के नपुंसकलिङ्ग, प्रथमा बहुवचन के वैदिक रूप हैं।

२. मदन्ति-मादयन्ति (लौकिक संस्कृत); √मद् (आनन्दित करना) + लट् प्रथमपुरुष बहुवचन।

३. त्रिधातु-त्रयाणां धातूनां समाहारः इति त्रिधातु (समाहारद्वन्द्वः); तीन धातुओं (पृथिवी, जल और तेज) से युक्त होकर अथवा त्रिधातु = त्रेधा;तीन प्रकार से = तीन पग चलकर।

४. दाधार – √धृ (धारण करना) + लिट्, प्रथमपुरुष एकवचन।

तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां
नरो यत्र देवयवो मदन्ति।
उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था
विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः ॥५॥

पदपाठ— तत् । अस्य । प्रियम् । अभि । पाथः । अश्याम् । नरः । यत्र । देवऽयवः । मदन्ति ॥ उरुऽक्रमस्य । सः । हि । बन्धुः । इत्था । विष्णोः । पदे । परमे । मध्वः । उत्सः ॥

सा० भा०— अस्य महतो विष्णोः प्रियं प्रियभूतं तत् सर्वैः सेव्यत्वेन प्रसिद्धः पाथः। अन्तरिक्षनामैतत्, पाथोऽन्तरिक्षं पथा व्याख्यातम्' (निरु० ६.७) इति यास्के-नोक्तत्वात्। अविनश्वरं ब्रह्मलोकमित्यर्थः। अश्याम् व्याप्नुयाम्। तदेव विशिष्यते। यत्र स्थाने देवयवो देवं द्योतनस्वभावं विष्णुमात्मनः इच्छन्तो यज्ञदानादिभिः प्राप्तमिच्छन्तः नरः मदन्ति तृप्तिमनुभवन्ति। तदश्यामित्यन्वयः। पुनरपि तदेव विशिष्यते।

उरुक्रमस्य अत्यधिकं सर्वे जगदाक्रममाणस्य तत्तदात्मना अत एव विष्णोः व्यापकस्य परमेश्वरस्य परमे उत्कृष्टे निरतिशये केवलसुखात्मके पदे स्थाने मध्वः मधुरस्य उत्सः निष्यन्दो वर्तते। तदश्याम्। यत्र क्षुत्तृष्णाजरामरणपुनरावृत्त्यादिभयं नास्ति संकल्प-मात्रेण अमृतकुल्यादिभोगाः प्राप्यन्ते तादृशमित्यर्थः। ततोऽधिकं नास्तीत्याह। इत्थ-मुक्तप्रकारेण स हि बन्धुः स खलु सर्वेषां सुकृतिनां बन्धुभूतो हितकरः वा तस्य पदं प्राप्तवतां न पुनरावृत्तेः। 'न च पुनरावर्तते' इति श्रुतेस्तस्य बन्धुत्वम्। हि शब्दः सर्व श्रुतिपुराणादिप्रसिद्धद्योतनार्थः॥

अन्वय— अस्य तत् प्रियं पाथः अभि अश्याम् यत्र देवयवः नरः मदन्ति। उरुक्रमस्य विष्णोः परमे पदे मध्वः उत्सः, इत्था सः बन्धुः हि।

पदार्थ— अस्य = इस (विष्णु) के। तत् = उस। प्रियम् = प्रिय। पाथः = लोक, स्थान को। अभि अश्याम् = प्राप्त करूँ। यत्र = जहाँ पर। देवयवः = देवताओं को प्राप्त करने की इच्छा वाले, देवताओं की पूजा करने वाले। नरः = लोग। मदन्ति = आनन्दित होते हैं। उरुक्रमस्य = विशाल पादन्यास (डग) वाले, विस्तीर्ण गति वाले। विष्णोः = विष्णु के। परमे पदे = श्रेष्ठ (उत्कृष्ट) लोक में। मध्वः = मधु (अमृत) का। उत्सः = स्रोत, सरोवर। इत्था = इस प्रकार से। सः = वह (विष्णु)। बन्धुः = (सबका) हितैषी। हिः = निश्चयार्थक निपात।

अनुवाद— इस (विष्णु) के उस प्रिय लोक (द्युलोक) को प्राप्त करूँ, जहाँ पर देवताओं को प्राप्त करने की इच्छा वाले (देवताओं की पूजा करने वाले) लोग आनन्द प्राप्त करते हैं। विशाल पादन्यास (डग) वाले विष्णु के परम (श्रेष्ठ, उत्कृष्ट) लोक में मधु (अमृत) का सरोवर है। इस प्रकार वह (विष्णु) सबका हितैषी है।

व्याकरण—

१. अश्याम् – √अश् (व्याप्त होना, प्राप्त करना, पहुँचना) + विधिलिङ्, उत्तम- पुरुष एकवचन।

२. देवयवः – देवं देवान् वा आत्मन इच्छतीति देवयुः; देव + क्यच् (य्) + असुन् (उ) = देवयुः। देवयु का प्रथमा बहुवचन देवयवः। वैदिक पद है। लौकिक संस्कृत में इसका प्रयोग नहीं होता।

३. नरः – नृ शब्द का प्रथमा बहुवचन।

४. मध्वः – 'मधु' शब्द के षष्ठी एकवचन का वैदिक रूप है लौकिक संस्कृत में मधुनः होता है।

ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै
यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः
परमं पदमव भाति भूरि ॥६॥

पदपाठ— ता। वाम्। वास्तूनि। उश्मसि। गमध्यै। यत्र। गावः। भूरिऽशृङ्गाः। अयासः॥ अत्र। अह। तत्। उरुऽगायस्य। वृष्णः। परमम्। पदम्। अव। भाति। भूरि॥

सा० भा०— हे पत्नीयजमानौ वां युष्मदर्थं ता तानि गन्तव्यत्वेन प्रसिद्धानि वास्तूनि सुखनिवासयोग्यानि स्थानानि गमध्यै युवयोः गमनाय उश्मसि कामयामहे। तदर्थं विष्णुं प्रार्थयाम इत्यर्थः। तानीत्युक्तां कानीत्याह। यत्र येषु वास्तुषु गावः रश्मयः भूरिशृङ्गा अत्यन्तोन्नत्युपेता बहुभिर्महात्मभिर्गातव्यस्य स्तुत्यस्य

वृष्णः कामानां वर्षितु-र्विष्णोस्तादृशं सर्वत्र पुराणादिषु गन्तव्यत्वेन प्रसिद्धं परमं निरतिशयं पदं स्थानं भूरि अतिप्रभूतम् अवभाति स्वमहिम्ना स्फुरति ।

अन्वय— वाम् ता वास्तूनि गमध्यै उश्मसि, यत्र भूरिशृङ्गा अयासः गावः, अत्र अह उरुगायस्य वृष्णः तत् परमम् पदम् भूरि अवभाति ।

पदार्थ— वाम् = तुम दोनों (इन्द्र और विष्णु अथवा यजमान और उसकी पत्नी) के । ता = उन । वास्तूनि = स्थानों को, लोकों को । गमध्यै = जाने के लिए । उश्मसि = इच्छा (कामना) करते हैं, चाहते हैं । यत्र = जहाँ । भूरिशृङ्गा = अनेक (बहुत) सींगों वाली; अनेक प्रकार से फैलने वाली । अयासः = गतिशील, विचरणशील; अत्यधिक प्रकाशवाली । गावः = गायें, किरणें । अत्र = यहाँ । अह = निश्चय ही (निश्चित अर्थ का वाचक निपात) । उरुगायस्य = विस्तृत गति वाले, विस्तीर्ण पादप्रक्षेपों (डगों) वाले । वृष्णः = मनोरथों (इच्छाओं) की वर्षा (पूर्ति) करने वाले । तत् = व (प्रसिद्ध) । परमम् = उत्तम, श्रेष्ठ, उत्कृष्ट । पदम् = लोक । भूरि = अत्यन्त, अत्यधिक । अवभाति = प्रकाशित होता है, चमकता है ।

अनुवाद— (हे इन्द्र और विष्णु) (हम यजमानगण) तुम दोनों के उन लोकों को जाना चाहते हैं, (अथवा-हे यजमान और उसकी पत्नी ! हम), तुम दोनों के उन लोकों में जाने के लिए इच्छा करते हैं अर्थात् हम चाहते हैं कि तुम्हें उन लोकों की प्राप्ति हो-सायण) । जहाँ बहुत सींगों वाली तथा गतिशील (विचरणशील) गायें (अथवा-जहाँ अनेक प्रकार से फैलने वाली तथा अत्यधिक प्रकाश वाली किरणें) हैं । निश्चय ही यहाँ पर विस्तृत गति वाले (विस्तीर्ण पादप्रक्षेपों वाले) तथा मनोरथों (इच्छाओं) की पूर्ति (वर्षा) करने वाले (विष्णु) का वह परम पद (परम धाम, उत्कृष्ट लोक) अत्यधिक प्रकाशित हो रहा है ।

व्याकरण—

१. वाम् – युवयोः, षष्ठी द्विवचन का वैदिक रूप ।
२. ता – तत् नपुंसकलिङ्ग बहुवचन का वैदिक रूप है । लौकिक संस्कृत में तानि रूप बनता है ।
३. गमध्यै – गन्तुम् लौकिक संस्कृत; √गम् धातु से 'तुमुन्' प्रत्यय के अर्थ में वैदिक 'अध्यैन्' प्रत्यय (गन्तुम् लौकिक संस्कृत) ।
४. उश्मसि – √वश् (कामना करना, इच्छा करना) + लट्, उत्तम पुरुष बहुवचन, यह वैदिक रूप है; 'इदन्तो मसि' सूत्र से मस् (मः) के स्थान पर 'मसि' आया है ।
५. भूरिशृङ्गा – भूरि शृङ्गाणि यासां ताः (बहुव्रीहि) ।
६. भाति – √भा (प्रकाशित होना), लट् प्रथमपुरुष एकवचन ।
७. अयासः – गत्यर्थक √इण् अथवा √अय् + अच् प्रत्यय (कर्तरि, प्रथमा बहुवचन का वैदिक रूप है) । लौकिक संस्कृत में अयाः रूप होता है ।

अभ्यास -

१) निम्नलिखित मन्त्रों का अनुवाद कीजिए -
(क) विष्णोर्नु कं वीर्याणि - (१)
(ख) यस्य त्री पूर्णा मधुना - (४)
(ग) ता वां वस्तून्युश्मसि - (६)

२) निम्नलिखित पर व्याकरणात्मक टिप्पणियाँ लिखिए-
(क) पूर्णा (ख) मध्वः (ग) गमध्यै

३) विष्णुसूक्त का सारांश लिखिए

६.२ इन्द्रसूक्तम्

वेद-ऋग्वेद मण्डल संख्या-२ सूक्त संख्या-१२
ऋषि-गृत्समद् देवता-इन्द्र छन्द-त्रिष्टुप्

यो जात एव प्रथमो मनस्वा-
न्देवो देवान्क्रतुना पर्यभूषत् ।
यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेतां
नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्रः ॥१॥

पदपाठ— यः । जातः । एव । प्रथमः । मनस्वान् । देवः । देवान् । क्रतुना । परि॰अभूषत् । यस्य । शुष्मात् । रोदसी इति । अभ्यसेताम् । नृम्णस्य । मह्ना । सः । जनासः । इन्द्रः ॥

सा० भा०— गृत्समदो ब्रूते । जनासः जना हे असुराः यो जात एव जायमान एव सन् प्रथमः देवानां प्रधानभूतः मनस्वान् मनस्विनामग्रगण्यः देवः द्योत- मानः सन् क्रतुना वृत्रवधादिलक्षणेन स्वकीयेन कर्मणा देवान् सर्वान् यागदेवान् पर्यभूषत् रक्षकत्वेन पर्यग्रहीत् अत्यक्रामत् । यस्येन्द्रस्य शुष्मात् शारीरात् बलात् रोदसी द्यावा-पृथिव्यौ अभ्यसेतामविभीताम् नृम्णस्य सेनालक्षणस्य बलस्य मह्ना महत्त्वेन युक्त स इन्द्रः नाहमिति ।

अन्वय— यः प्रथमः मनस्वान् देवः जातः एव क्रतुना देवान् पर्यभूषत् यस्य शुष्मात् रोदसी अभ्यसेताम्, जनासः! नृम्णस्य मह्ना सः इन्द्रः ।

पदार्थ— यः = जो, जिसने । प्रथमः = प्रधान, प्रमुख । मनस्वान् = मनस्वी, बुद्धिमान् । देवः = देव ने । जातः एव = उत्पन्न होते ही । क्रतुना = पराक्रम से; शक्ति से, कर्म से । देवान् = देवों को । पर्यभूषत् = अभिभूत कर लिया, अतिक्रमण किया । यस्य = जिसकी । शुष्मात् = बल से, शक्ति से, पराक्रम से । रोदसी = द्युलोक और पृथिवी-लोक । अभ्यसेताम् = डर गये, काँप गये । जनासः = हे मनुष्यो! नृम्णस्य = महान् बल की । मह्ना = महिमा से, महत्त्व से युक्त । सः = वह । इन्द्रः = इन्द्र ।

अनुवाद— जिस प्रमुख (एवं) मनस्वी देव ने उत्पन्न होते ही (अपने) पराक्रम से देवों को अभिभूत कर लिया (अथवा देवताओं का अतिक्रमण किया); जिसकी शक्ति से द्युलोक और पृथिवीलोक काँप गये, हे लोगो! महान् बल की महिमा से युक्त वह इन्द्र है ।

व्याकरण—

१. जातः – √जन् + क्त, प्रथमा एकवचन ।
२. मनस्वान् – मनस् + मतुप् (वतुप्), प्रथमा एकवचन ।
३. पर्यभूषत् – परि + √भूष् + लङ् प्रथम पुरुष एकवचन ।
४. अभ्यसेताम् – √भ्यस् + लङ् प्रथम पुरुष द्विवचन ।
५. मह्ना – महिम्ना का वैदिक रूप ।
६. जनासः – जन शब्द के सम्बोधन बहुवचन का वैदिक रूप है । लौकिक संस्कृत में जनाः रूप बनता है ।

यः पृथिवीं व्यथमानामदृंह-
द्यः पर्वतान्प्रत्कुपिताँ अरम्णात् ।
यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो
यो द्यामस्तभ्नात्स जनास इन्द्रः ॥२॥

पदपाठ— यः । पृथिवीम् । व्यथमानाम् । अदृंहत् । यः । पर्वतान् । प्रऽकुपि-तान् । अरम्णात् ॥ यः । अन्तरिक्षम् । विऽममे । वरीयः । यः । द्याम् । अस्तभ्नात् । सः । जनासः । इन्द्रः ॥

सा० भा०— हे जनाः! यः इन्द्रः व्यथमानां चलतीं पृथिवीम् अदृंहत् शर्करा-दिभिर्दृढामकरोत् । 'दृहं दृहि बृद्धौ' । यः च प्रकुपितान् इतस्ततश्चलितान् पक्षयुक्तान् पर्वतान् अरम्णात् नियमितवान् स्वे स्वे स्थाने स्थापितवान् । यश्च वरीयः उरुतम-मन्तरिक्षं विममे निर्ममे विस्तीर्णं चकारेत्यर्थ । यः च द्यां दिवमस्तभ्नात् अस्तम्भ निरु-द्धामकरोत् । सः एव इन्द्रः नाहमिति ।

अन्वय— यः व्यथमानां पृथिवीम् अदृंहत, यः प्रकुपितान् पर्वतान् अरम्णात्, यः वरीयः अन्तरिक्षम् विममे, यः द्याम् अस्तभ्नात्, जनासः! सः इन्द्रः ।

पदार्थ— यः = जिसने । व्यथमानाम् = काँपती हुई, डगमगाती हुई । पृथिवीम् = पृथ्वी को । अदृंहत् = दृढ़ किया, स्थिर किया । यः = जिसने । प्रकुपितान् = इधर-उधर उड़ने वाले, इधर-उधर चलने वाले । पर्वतान् = पर्वतों को । अरम्णात् = नियमित किया, स्थापित किया । यः = जिसने । वरीयः = विस्तृत । अन्तरिक्षम् = अन्तरिक्ष को । विममे = विशेष रूप से नापा, निर्माण किया । यः = जिसने । द्याम् = द्युलोक को । अस्तभ्नात् = रोका, निरुद्ध किया, थामा । जनासः = हे लोगों, मनुष्यो! सः = वह । इन्द्रः = इन्द्र ।

अनुवाद— जिसने काँपती हुई डगमगाती हुई पृथ्वी को स्थिर किया; जिसने उड़ने वाले पर्वतों को (अपने-अपने स्थान पर) स्थापित किया, जिसने विस्तृत अन्तरिक्ष को मापा (अथवा विस्तृत अन्तरिक्ष का निर्माण किया); जिसने द्युलोक को (गिरने से) रोका (अथवा द्युलोक को थामा) हे लोगो ! वह इन्द्र है ।

व्याकरण—

१. व्यथमानाम् – √व्यथ् + शानच् + टाप्, द्वितीया एकवचन ।
२. अदृंहत् – दृह् + लङ् प्रथमपुरुष एकवचन ।
३. प्रकुपिताँ – प्र + √कुप् + क्त, द्वितीया बहुवचन । ऋग्वेद में आ पूर्व में तथा स्वर बाद में होने पर पदान्त नकार का लोप होकर पूर्ववती स्वर अनुनासिक हो जाता है । इसलिए यहाँ 'प्रकुपिताँ' रूप हुआ है ।
४. अरम्णात् – √रम् + श्ना + लङ् प्रथमपुरुष एकवचन ।
५. विममे – वि + √मा + लिट्, प्रथमपुरुष एकवचन ।
६. अस्तभ्नात् – स्तम्भ् + लङ्, प्रथमपुरुष एकवचन ।

यो हत्वाहिमरिणात्सप्त सिन्धू-
न्यो गा उदाजदपधा बलस्य ।
यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान
संवृक्समत्सु स जनास इन्द्रः ॥३॥

पदपाठ— यः । हत्वा । अहिम् । अरिणात् । सप्त । सिन्धून् । यः । गाः । उत्ऽआजत् । अपऽधा । बलस्य ॥ यः । अश्मनोः । अन्तः । अग्निम् । जजान । सम्ऽवृक् । समत्ऽसु । सः । जनासः । इन्द्रः ॥

सा० भा०— यः अहिं मेघहननं कृत्वा सप्त सर्पणशीलाः सिन्धून् स्यन्दन-शीला अपः अरिणात् प्रेरयत् । यद्वा सप्त गङ्गायमुनाद्या मुख्या नदीरिणात् । 'रीङ् स्रवणे' क्रयादिः । यः च बलस्य बलनामकस्यासुरस्य अपधा तत्कर्तकान्निरुद्धाः गाः उदाजत निरगमयत । यश्चाश्मनोः, अश्नुते व्याप्नोत्यन्तरिक्षमित्यश्मा मेघः ।

अत्यन्त-मृदुरूपयोर्मेघयोः अन्तः मध्ये वैद्युतमग्निं जजान उत्पादयामास। यश्च समत्सु.. संवृक् भवति सः इन्द्रः नाहमिति।

अन्वय— यः अहिं हत्वा सप्तसिन्धून् अरिणात्, यः बलस्य अपधा गाः उदाजत्, यः अश्मनोः अन्तः अग्निं जजान समत्सु संवृक् जनासः! सः इन्द्रः।

पदार्थ— यः = जिसने। अहिम् = वृत्र नामक असुर को, जल को रोकने वाले मेघ को। हत्वा = मार कर। सप्त = सात। सिन्धून् = नदियों को। अरिणात् = प्रवाहित किया, बहाया। यः = जिसने। बलस्य = बल नामक असुर (बलासुर) की। अपधा = गुफा से, बाड़े से! गाः = गायों को। उदाजत् = बाहर निकाला। यः = जिसने। अश्मनोः = बादलों के, पत्थरों के। अन्तः = मध्य में। अग्निम् = अग्नि को। जजान = उत्पन्न किया। समत्सु = युद्धों में। संवृक् = विनाश करने वाला। जनासः = हे लोगों! सः = वह। इन्द्रः = इन्द्र।

अनुवाद— जिसने वृत्र को मारकर सात नदियों को प्रवाहित किया, जिसने बल नामक असुर की गुफा से गायों को बाहर निकाला, जिसने दो बादलों (अथवा पत्थरों) के मध्य में अग्नि को उत्पन्न किया, जो युद्धों में (शत्रु का) विनाश करने वाला है, हे लोगो! वह इन्द्र है।

व्याकरण—

१. हत्वा – √हन् + क्त्वा।
२. अरिणात् – √रीङ् (रि) + लङ् प्रथम पुरुष एकवचन।
३. अपधा – अप् + √धा + अङ्, पञ्चमी एकवचन।
४. समत्सु – सम् + √अद् + क्विप्, सप्तमी बहुवचन।
५. उदाजत् – उत् + √अज् + लङ्, प्रथमपुरुष एकवचन।
६. जजान – √जन् + लिट्, प्रथम पुरुष एकवचन।
७. संवृक् – सम् + √वृज् + क्विप्, प्रथमा एकवचन।

येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि
यो दासं वर्णमधरं गुहाकः।
श्वघ्नीव यो जिगीवाँ लक्षमाद-
दुर्यः पुष्टानि स जनास इन्द्रः ॥४॥

पदपाठ— येन। इमा। विश्वा। च्यवना। कृतानि। यः। दासम्। वर्णम्। अधरम्। गुहा। अकरित्यकः॥ श्वघ्नीऽईव। यः। जिगीवान्। लक्षम्। आदत्। अर्यः। पुष्टानि। सः। जनासः। इन्द्रः॥

सा० भा०— येन इन्द्रेण इमा इमानि विश्वा च्यवना नश्वराणि भुवनानि कृतानि स्थिरीकृतानि। यः च दासं वर्णं शूद्रादिकम्, यद्वा दासपक्षपयितारम्। अधरं निकृष्ट-मसुरं गुहा गुहायां गूढस्थाने नरके वा अकः अकार्षीत्। यः अर्यः अरेः शत्रोः संबन्धीनि पुष्टानि आदत् आदत्ते। तत्र दृष्टान्तः। श्वघ्नीव। श्वभिर्मृगान् हन्तीति श्वघ्नी व्याधः। यथा व्याधो निघृक्षितं मृगं परिगृह्णाति तद्वत्।

अन्वय— येन इमा विश्वा च्यवना कृतानि, यः अधरम् दासम् वर्णम् गुहा अकः, यः श्वघ्नीव लक्षम् जिगीवान्, सः अर्यः पुष्टानि आदत्, जनासः! सः इन्द्रः।

पदार्थ— येन = जिसके द्वारा। इमा = ये। विश्वा = सम्पूर्ण। च्यवना = गतिशील, नश्वर। कृतानि = कर दी गई। यः = जिसने। अधरम् = निकृष्ट, नीच। दासम् वर्णम् = दास (शूद्र) वर्ण को, दास जाति को। गुहा = गुफा में, गूढ स्थान में। अकः = कर दिया। यः = जिसने। श्वघ्नीव = व्याध (शिकारी) की भाँति, जुआरी की भाँति। लक्षम् = लक्ष्ण को, दाँव को। जिगीवान् = जीते हुए, जीत कर। अर्यः = शत्रु के। पुष्टानि = धनों को। आदत् = ग्रहण किया, छीन लिया। जनासः = हे लोगो! सः = वह। इन्द्रः = इन्द्र।

अनुवाद— जिसके द्वारा ये सम्पूर्ण (वस्तुएँ) गतिशील कर दी गई हैं, जिसने निकृष्ट दास वर्ण को गुफा (या नरक) में कर दिया है, अपने शिकार को जीत लेने वाले शिकारी की भाँति (या दाँव को जीत लेने वाले जुआरी की भाँति) जिसने शत्रु के धनों को छीन लिया है, हे लोगों। वह इन्द्र है।

व्याकरण—

१. इमा, विश्वा, च्यवना – नपुंसकलिङ्ग प्रथमा का बहुवचन (वैदिक रूप) = इमानि, विश्वानि, च्यवनानि; लौकिक रूप।
२. गुहा – (वैदिक रूप) सप्तमी के प्रत्यय का लोप हो गया है। लौकिक संस्कृत में गुहायाम् रूप होता है।
३. अकः – √कृ + लुङ्, प्रथमपुरुष एकवचन (वैदिक रूप)।
४. जिगीवाँ – जि + क्वसु, प्रथमा एकवचन। वैदिक संधि के नियमविशेष से नकार अनुनासिक हो गया है अतः संहिता में जिगीवाँ है।
५. अर्यः – अरि के षष्ठी एकवचन अरेः का (वैदिक रूप)।
६. आदत् – आ + √दा + लुङ् प्रथम पुरुष एकवचन (वैदिक रूप)।

यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोर-
मुतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम्।
सो अर्यः पुष्टीर्विज इवा मिनाति
श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः ॥५॥

पदपाठ— यम्। स्म। पृच्छन्ति। कुह। सः। इति। घोरम्। उत। ईम्। आहुः। न। एषः। अस्ति। इति। एनम्॥ सः। अर्यः। पुष्टीः। विजःइव। आ। मिनाति। श्रत्। अस्मै। धत्त। सः। जनासः। इन्द्रः॥

सा० भा०— अपश्यन्तो जनाः घोरं शत्रूणां घातकं यं पृच्छन्ति स्म कुह सेति। स इन्द्रः कुत्र वर्तते। इति। सेति। 'सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम्' इति सोर्लोपे गुणः। न क्वचिदसौ तिष्ठतीति मन्यमानः एनम् इन्द्रम् आहुः एषः इन्द्र न अस्तीति। तथा च मन्त्रः– 'नेन्द्रः अस्तीति नेम उत्व आह' (ऋ०सं० ८.१००.३) इति। ईम् इति पूरणः। सः इन्द्र विज इव। इवशब्द एवार्थे। उद्वेजक एव सन्। अर्यः अरेः सबन्धीनि पुष्टीः पोषकाणि गवाश्वादीनि धनानि आ मिनाति सर्वतो हिनस्ति। मीङ्हिंसायाम्'। 'मीनातेर्निगमे' इति ह्रस्वः। तस्मात् श्रदस्मै इन्द्राय धत्त। स इन्द्रोऽस्तीति विश्वासमत्र कुरुत। यद्यप्यसौ विशेषतोऽस्माभिर्न दृश्यते तथापि अस्तीति। विश्वासं कुरुत। एवं निर्धारणीयमहिमोपेतः सः इन्द्रः नाहमिति।

अन्वय— यं घोरम् सः कुह इति पृच्छन्ति, उत एनम् एषः न अस्ति इति आहुः सः विजः इव अर्यः पुष्टीः आ मिनाति अस्मै श्रत् धत्त, जनासः! सः इन्द्रः।

पदार्थ— यम् घोरम्- जिस भयंकर (देवता) के विषय में। **सः** = वह। कुह = कहाँ। इति = ऐसा, इस प्रकार। पृच्छन्ति = पूछते हैं। उत = और। ईम् = पाद की पूर्ति हेतु निपात। एनम् = जिसके (इसके) विषय में। एषः = यह। न = नहीं। अस्ति = है। इति = ऐसा, इस प्रकार। आहुः = कहते हैं। सः = वह। विजः इव = विजेता की भाँति, जुआरी की तरह। अर्यः = शत्रु के। पुष्टीः = धन को, सम्पत्ति को। आ मिनाति = नष्ट कर देता है, छीन लेता है। अस्मै = इसके लिए, इसमे। श्रत् = श्रद्धा। धत्त = धारण करो। जनासः = हे मनुष्यो! सः = वह। इन्द्रः = इन्द्र है।

अनुवाद— जिस भयङ्कर (देवता) के विषय में 'वह कहाँ है?' ऐसा (लोग) पूछते है; और जिसके विषय में 'यह नहीं है' इस प्रकार (भी) लोग कहते हैं, वह (देवता) विजेता की भाँति शत्रु के धन को पूर्णतः नष्ट कर देता है (बलपूर्वक छीन लेता है); हे लोगो! वह इन्द्र है। इसमे श्रद्धा धारण करो।

व्याकरण—

१. कुह् – किम् + ह, (वैदिक)।

२. सेति – सः + इति, विसर्ग का लोप होकर पादपूरणार्थ गुणसंधि हुई है।

३. पृच्छन्ति – √प्रच्छ् + लट्, प्रथमपुरुष बहुवचन।

४. आहुः – ब्रू (आह) लट् या लिट् प्रथमपुरुष बहुवचन।

५. अर्यः – अरि का षष्ठी एकवचन का वैदिक रूप, लौकिकसंस्कृत में अरेः रूप होता है।

६. पुष्टीः – √पुष् + क्तिन् + द्वितीया बहुवचन।

७. मिनाति – √मी + लट् प्रथमपुरुष एकवचन, (वैदिक रूप)।

८. धत्त = √धा + लोट् मध्यमपुरुष बहुवचन।

यो रध्रस्य चोदिता यः कृशस्य
यो ब्रह्मणो नाधमानस्य कीरेः।
युक्तग्राव्णो योऽविता सुशिप्रः
सुतसोमस्य स जनास इन्द्रः ॥६॥

पदपाठ— यः। रध्रस्य। चोदिता। यः। कृशस्य। यः। ब्रह्मणः। नाधमानस्य। कीरेः। युक्तऽग्राव्णः। यः। अविता। सुऽशिप्रः। सुतऽसोमस्य। सः। जनासः। इन्द्रः॥

सा० भा०— यो रध्रस्य। 'रध् हिंसासंराद्धयोः। समृद्धस्य चोदिता धनानां प्रेरयिता भवति। यः च कृशस्य च दरिद्रस्य च, यः च नाधमानस्य। नाधृणाधृयाच्ञोपता-पैश्वर्याशीःषु'। याचमानस्य कीरेः। करोतेः कीर्तयतेर्वा। स्तोतुः ब्रह्मणः ब्राह्मणस्य च धनानां प्रेरयिता। यः च सुशिप्रः शोभनहनुः सुशीर्षको वा सन् युक्तग्राव्णः सुतसोमस्य अभिषुत-सोमस्य यजमानस्य अविता रक्षिता भवति सः एव इन्द्रः नाहमिति।

अन्वय— यः रध्रस्य चोदिता, यः कृशस्य यः नाधमानस्य कीरेः ब्रह्मणः सुशिप्रः, यः युक्तग्राव्णः सुतसोमस्य अक्ता, जनासः! सः इन्द्रः।

पदार्थ— यः = जो। रध्रस्य = समृद्ध का, धनवान् का। चोदिता = प्रेरक, प्रेरणा देने वाला। यः = जो। कृशस्य = दरिद्र का, निर्धन का। यः = जो। नाध-मानस्य = याचना करने वाले। कीरेः = स्तोता (स्तुति करने वाले का, स्तुतिगायक का। ब्रह्मणः = पुरोहित का। सुशिप्रः = सुन्दर हनु (ठोड़ी) वाला, सुन्दर ओष्ठ वाला, सुन्दर बालों वाला। यः = जो। युक्तग्राव्णः = पत्थरों को तैयार किये हुए का, पत्थरों

को संयोजित करने वाले का। सुतसोमस्य = सोम रस को निचोड़ने वाले का, सोम को पीस लेने वाले का। अविता = रक्षक। जनासः = हे लोगों! सः = वह। इन्द्रः = इन्द्र।

अनुवाद— जो समृद्धिशाली व्यक्ति का प्रेरक है, जो निर्धन का (प्रेरक है); जो याचना करने वाले तथा स्तुति करने वाले पुरोहित का (प्रेरक) है; सुन्दर हनु वाला (अथवा सुन्दर ओष्ठ वाला) जो (सोम पीसने के लिए) पत्थरों को तैयार करने वाले तथा सोम रस को निचोड़ने वाले (यजमान) का रक्षक है, हे लोगों! वह इन्द्र है।

व्याकरण—

१. नाधमानस्य – √नाध् + शानच्, षष्ठी एकवचन।

२. कीरेः – √कृ + इ., वैदिक रूप।

३. अविता – √अव + तृच् + प्रथमा एकवचन।

यस्याश्वासः प्रदिशि यस्य गावो
यस्य ग्रामा यस्य विश्वे रथासः।
यः सूर्यं य उषसं जजान
यो अपां नेता स जनास इन्द्रः ॥७॥

पदपाठ— यस्य। अश्वासः। प्रऽदिशि। यस्य। गावः। यस्य। ग्रामाः। यस्य। विश्वे। रथासः॥ यः। सूर्यम्। यः। उषसम्। जजान। यः। अपाम्। नेता। सः। जनासः। इन्द्रः॥

सा० भा०— यस्य सर्वान्तर्यामितया वर्तमानस्य प्रदिशि प्रदेशनेऽनुशासने अश्वासः अश्वा वर्तन्ते। यस्य अनुशासने गावः। यस्य अनुशासने ग्रामाः। ग्रसन्ते- ऽत्रेति ग्रामा जनपदाः। यस्य आज्ञायां विश्वे सर्वे रथासः रथा वर्तन्ते। यः च वृत्रं हत्वा सूर्यं जजान जनयामास। यः च उषसम्। तथा मन्त्रः 'जजान सूर्यमुषसं सुदंसाः (ऋ०सं० ३.३२.८) इति। यः च मेघभेदनद्वारा अपां नेता प्रेरकः सः इन्द्रः इत्यादि प्रसिद्धम्।

अन्वय— यस्य प्रदिशि अश्वासः, यस्य गावः यस्य ग्रामाः, यस्य विश्वे रथासः, यः सूर्यम् यः उषसम् जजान्, यः अपाम् नेता, जनासः सः इन्द्रः।

पदार्थ— यस्य = जिसके। प्रदिशि = अनुशासन में, आज्ञा में। अश्वासः = घोड़े। यस्य = जिसके। गावः = गायें। यस्य = जिसके। ग्रामः = ग्राम, गाँव। यस्य = जिसके। विश्वे = सम्पूर्ण। रथासः = रथ यः = जो। सूर्यम् = सूर्य को। यः = जो। उषसम् = उषा को। जजान = उत्पन्न किया। यः = जो अपाम् = जलों का। नेता = ले आने वाला, बरसाने वाला। जनासः = हे लोगों! सः = वह। इन्द्रः = इन्द्र।

अनुवाद— जिसके अनुशासन (आज्ञा) में घोड़े हैं; जिसके (अनुशासन में) गायें है; जिसके (अनुशासन में) ग्राम हैं; जिसके (अनुशासन में) सम्पूर्ण रथ हैं; जिसने सूर्य को (उत्पन्न किया है); जिसने उषा को उत्पन्न किया है; जो (बादलों में से) जलों को लाने वाला (बरसाने वाला) है,हे लोगों! वह इन्द्र है।

व्याकरण—

१. विश्वे – विश्व शब्द के प्रथमा बहुवचन का वैदिक रूप लौकिक संस्कृत में विश्वाः बनता है।

२. अश्वासः, रथासः– ये क्रमशः अश्व और रथ के प्रथमा बहुवचन के वैदिक रूप हैं। लौकिक संस्कृत में अश्वाः और रथाः रूप बनता।

२. जजान – √जन् + लिट्, प्रथमपुरुष एकवचन।

३. नेता – √नी + तृच्, प्रथमा एकवचन।

यं क्रन्दसी संयती विह्वयेते
परेऽवर उभयाः अमित्राः।
समानं चिद्रथमातस्थिवांसा
नाना हवेते स जनास इन्द्रः ॥८॥

पदपाठ— यम्। क्रन्दसी इति। संयती इति सम्ऽयती। विह्वयेते इति विऽह्वयेते। परे। अवरे। उभयाः। अमित्राः॥ समानम्। चित्। रथम् आतस्थिऽवांसा। नाना। हवेते इति। सः। जनासः। इन्द्रः॥

सा० भा०— यं क्रन्दसी रोदसी शब्दं कुर्वाणं मानुषी दैवी च द्वे सेने वा संयती परस्परं संगच्छन्त्यौ यमिन्द्रं विह्वयेते स्वरक्षार्थं विविधमाह्वयतः। परे उत्कृष्टाः अवरे अधमाश्च उभयाः उभयविधाः अमित्राः शत्रवः यमाह्वयन्ति। समानम् इन्द्ररथसदृशं रथम् आतस्थिवांसा आस्थितौ द्वौ रथिनौ तमेवेन्द्रं नाना पृथक्-पृथक् हवेते आह्वयेते। यद्वा समानमेकरथमारूढाविन्द्राग्नी हवेते यज्ञार्थं यजमानैः पृथगाहूयेते तयोरन्यतरः सः इन्द्रः नाहमिति।

अन्वय— क्रन्दसी संयती यम् विह्वयेते, परे अवरे उभयाः अमित्राः समानम् रथम् आतस्थिवांसा नाना हवेते, जनासः! सः इन्द्रः।

पदार्थ— क्रन्दसी = शब्द (क्रन्दन) करती हुई सिंहनाद करती हुई, जोर-जोर से चिल्लाती हुई। संयती = परस्पर युद्ध करती हुई, एक साथ गमन करती हुई। यम् = जिसको। विह्वयेते = विविध प्रकार से आह्वान करती हैं, बुलाती हैं, पुकारती हैं। परेः = उत्कृष्ट, शक्तिशाली, बलवान्। अवरे = निम्न श्रेणी के, निर्बल। उभयाः = दोनों, दोनों ओर के। अमित्राः = शत्रु। समानम् = सदृश, एक ही प्रकार के, एक। रथम् = रथ पर। आतस्थिवांसा = बैठे हुए। नाना = अनेक प्रकार से, विभिन्न प्रकार से, पृथक्-पृथक्। हवेते = आह्वान् करते हैं, बुलाते हैं। जनासः = हे मनुष्यों! सः = वह। इन्द्रः = इन्द्र।

अनुवाद— सिंहनाद करती हुई तथा परस्पर युद्ध करती हुई (शत्रुओं की सेनाएँ) जिस देवता को विविध प्रकार से पुकारती हैं, (जिसको) बलवान् एवं निर्बल दोनों प्रकार के शत्रु (अपनी सहायता के लिए) बुलाते हैं; जिसको एक ही प्रकार के रथ पर बैठे हुए (दो योद्धा) (अथवा एक ही रथ पर बैठे हुए सारथि तथा योद्धा) विभिन्न प्रकार से बुलाते हैं, हे लोगों! वह इन्द्र है।

व्याकरण—

१. क्रन्दसी – नपुंसकलिङ्ग 'क्रन्दस्' का प्रथमा द्विवचन।

२. संयती – सम् + √इ + शतृ + ङीप्, प्रथमा द्विवचन।

३. विह्वयेते – वि + √हू + लट्, आत्मनेपद प्रथमपुरुष द्विवचन।

४. आतस्थिवांसा – आ + √स्था + क्वसु, प्रथमा द्विवचन वैदिकरूप, लौकिक संस्कृत में आतास्थिवांसौ रूप बनेगा।

५. हवेते – √हू + लट्, प्रथमपुरुष द्विवचन।

यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो
यं युध्यमाना अवसे हवन्ते।

यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव
यो अच्युतच्युत्स जनास इन्द्रः ॥९॥

पदपाठ— यस्मात् । न । ऋते । विऽजयन्ते । जनासः । यम् । युध्यमानाः । अवसे । हवन्ते ॥ यः । विश्वस्य । प्रतिऽमानम् । बभूव । यः । अच्युतऽच्युत् । सः । जनासः । इन्द्रः ॥९॥

सा० भा०— यस्मात् ऋते जनासः जनाः न विजयन्ते विजयं न प्राप्नुवन्ति । अतः युध्यमाना युद्धं कुर्वाणा जना अवसे स्वरक्षणाय यम् इन्द्रं हवन्ते आह्वयन्ति । यः च विश्वस्य सर्वस्य जगतः प्रतिमानं प्रतिनिधिः बभूव । यः च अच्युतच्युत् अच्युतानां क्षयरहितानां पर्वतादीनां च्यावयिता सः इन्द्रः इत्यादि प्रसिद्धम् ।

अन्वय— यस्मात् ऋते जनासः न विजयन्ते, युध्यमानाः अवसे यं हवन्ते, यः विश्वस्य प्रतिमानम् बभूव, यः अच्युतच्युत्, जनासः! सः इन्द्रः ।

पदार्थ— यस्मात् = जिसके । ऋते = बिना । जनासः = लोग । न = नहीं । विजयन्ते = विजय प्राप्त करते हैं । युध्यमानाः = युद्ध करते हुए । अवसे = रक्षा के लिये । यं = जिसको । हवन्ते = आह्वान करते हैं, बुलाते हैं । यः = जो । विश्वस्य = सबका, सम्पूर्ण जगत् का । प्रतिमानम् = प्रतिनिधि मार्गदर्शक, रक्षक । बभूव = है, हो गया है । यः = जो । अच्युतच्युत् = अचल को चल बना देने वाला, स्थिर को गतिमान् (चलायमान) कर देने वाला; क्षयरहित को विनष्ट करने वाला । जनासः = हे मनुष्यों! सः = वह । इन्द्रः = इन्द्र ।

अनुवाद— जिसके बिना (अर्थात् जिसकी सहायता के बिना) लोग विजय नहीं प्राप्त करते हैं, युद्ध करते हुए (लोग) रक्षा के लिए जिसको बुलाते हैं, जो सम्पूर्ण लोगों का प्रतिनिधि (रक्षक, मार्ग-प्रदर्शक) है; जो अचल (पदार्थों) को चल बना देने वाला (अथवा जो स्थिर को भी अस्थिर कर देने वाला) है, हे लोगों! वह इन्द्र है ।

व्याकरण—

१. यस्मात् ऋते – ऋते के योग में पञ्चमी ।
२. जनासः । जनाः का प्रथम बहुवचन वैदिक रूप ।
३. विजयन्ते – वि + √जि + लट्, आत्मनेपद प्रथमपुरुष बहुवचन ।
४. युध्यमानाः – √युध् (श्यन्) + शानच्, प्रथमा बहुवचन ।
५. अवसे – √अव् + तुमर्थक असेन् वैदिक प्रत्यय ।
६. हवन्ते – √हू या √ह्वे + लट्, आत्मनेपद प्रथमपुरुष बहुवचन ।
७. प्रतिमानम् – प्रति + √मा + ल्युट् (अन्) ।
८. बभूव – √भू + लिट्, प्रथमपुरुष एकवचन ।

यः शश्वतो महो नो दधानान्-
नमन्यमानाञ्छर्वा जघान ।
यः शर्धते नानुददाति शृध्यां
यो दस्योर्हन्ता स जनास इन्द्रः ॥१०॥

पदपाठ— यः । शश्वतः । महः । नः । दधानान् । अमन्यमानान् । शर्वा । जघान ॥ यः । शर्धते । न । अनुऽददाति । शृध्याम् । यः । दस्योः । हन्ता । सः । जनासः । इन्द्रः ॥

सा० भा०— यः महि महत् एनः पापं दधानान् शश्वतः बहून् अमन्यमानान् आत्मानमजानत इन्द्रमपूजयतो वा जनान् शर्वा शृणाति शत्रूननेनेति शरुर्वज्रः । तेनायुधेन जघान । हन्तेर्लिटि रूपम् । यः च शर्धते उत्साहं कुर्वते अनात्मज्ञाय जनाय शृध्याम् उत्साहनीयं कर्म नानुददाति न प्रयच्छति । अनुपर्वात् 'डुदाञ् दाने' जौहोत्या-दिकः । 'अभ्यस्तानामादिः' (पा० ४.१.८९) 'तिङ् चोदात्तवति' इति गतेर्निघातः । यः च दस्योः उपक्षपयितुः शत्रोः हन्ता घातकः सः इन्द्रः इत्यादि पूर्ववत् ।

अन्वय— यः महि एनः दधानान् अमन्यमानान् शश्वतः शर्वा जघान, यः शर्धते शृध्याम् न अनुददाति, यः दस्योः हन्ता, जनासः! सः इन्द्रः ।

पदार्थ— यः = जिसने । महि = महान्, बड़े,भारी । एनः = पाप को । दधानान् = धारण करने वाले । अमन्यमानान् = अपमान करने वाले, (इन्द्र को) न मानने वाले, इन्द्र की सत्ता में विश्वास न करने वाले को । शश्वतः = अनेक, बहुत । शर्वा = वज्र से । जघान = मार डाला । यः = जो । शर्धते = हिंसा करने वाले, दर्पयुक्त । शृध्याम् = हिंसा से युक्त कर्म, दर्प । न = नहीं । अनुददाति = सहन करता है, क्षमा करता है । यः = जो । दस्योः = दस्यु का, असुर का । हन्ता = वध करने वाला, मारने वाला । जनासः = हे मनुष्यों! सः = वह । इन्द्रः = इन्द्र ।

अनुवाद— जिसने महान् पाप को धारण करने वाले तथा अपमान करने वाले बहुत से (व्यक्तियों) को वज्र से मार डाला; जो दर्पयुक्त (व्यक्ति) के दर्प को सहन (क्षमा) नहीं करता है, जो असुर का वध करने वाला है, हे मनुष्यों (लोगों)! वह इन्द्र है ।

व्याकरण—

१. दधानान् – √धा + शानच्, द्वितीया बहुवचन ।
२. अमन्यमानान् – √मन् (श्यन्) + शानच्, न मन्यमानान् = अमन्यमानान्, द्वितीया बहुवचन ।
३. जघान – √हन् + लिट्, प्रथमपुरुष एकवचन ।
४. शर्धते – √शृध् + शतृ, चतुर्थी एकवचन ।
५. अनुददाति – अनु + √दा + लट्, प्रथमपुरुष एकवचन ।
६. हन्ता – √हन् + तृच् + प्रथमा एकवचन ।

यः शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तं
चत्वारिंश्यां शरद्यन्वविन्दत् ।
ओजायमानं यो अहिं जघान
दानुं शयानं स जनास इन्द्रः ॥११॥

पदपाठ— यः । शम्बरम् । पर्वतेषु । क्षियन्तम् । चत्वारिंश्याम् । शरदि । अनु३ऽअविन्दत् । ओजायमानम् । यः । अहिम् । जघान । दानुम् । शयानम् । सः । जनासः । इन्द्रः ॥

सा० भा०— यः पर्वतेषु क्षियन्तम् इन्द्रभिया बहून् संवत्सरान् प्रच्छन्नो भूत्वा पर्वतगुहासु निवसन्तं शम्बरम् एतन्नामकं मायाविनमसुरं चत्वारिंश्यां शरदि चत्वारिंशे संवत्सरे अन्वविन्दत् अन्विष्यालभत् । लब्ध्वा च यः ओजायमानम् । 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च', 'ओजसोऽप्सरसो नित्यम्' (पा०सू० ३.१.११) इति सकारलोपः । बल-माचरन्तम् अहिम् आहन्तारं दानुं दानवं शयानं शम्बरमसुरं जघान हतवान् सः इन्द्रः नाहमिति ।

अन्वय— यः पर्वतेषु क्षियन्तं शम्बरं चत्वारिंश्यां शरदि अन्वविन्दत्, यः ओजाय-मानं शयानं दानुम् अहिं जघान, जनासः! सः इन्द्रः ।

पदार्थ— यः = जिसने । पर्वतेषु = पर्वतों पर । क्षियन्तम् = निवास करते हुए । शम्बरम् = शम्बर

(नामक असुर) को। चत्वारिंश्याम् = चासीसवें। शरदि = शरद् (वर्ष) में। अन्वविन्दत् = प्राप्त किया, खोज निकाला। यः = जिसने। ओजाय-मानम = ओज (बल) को प्रदर्शित करते हुए, पराक्रम का प्रदर्शन करने वाले। शयानम् = लेटे हुए। दानुम् = दनु के पुत्र को। अहिम् = अहि को। जघान = मार डाला। जनासः = हे लोगों! सः = वह। इन्द्रः = इन्द्र।

अनुवाद— जिसने पर्वतों पर निवास करते हुए शम्बर (नामक असुर) को चाली-सवें वर्ष में खोज निकाला, जिसने ओज (बल) का प्रदर्शन करते हुए तथा (जल को घेर कर) लेटे हुए दनु-पुत्र (दानव) अहि को मार डाला, हे लोगो! वह इन्द्र है।

व्याकरण—

१. क्षियन्तम् – √क्षि + शतृ, द्वितीया एकवचन।

२. अन्वविन्दत् – अनु + √विद् + लङ्, प्रथमपुरुष एकवचन।

३. ओजायमानम् – ओजस् + क्यङ् (ओजाय, नामधातु) + शानच्, द्वितीया एकवचन।

४. शयानम् – √शी + शानच् + द्वितीया एकवचन।

५. जघान – √हन् + लिट्, प्रथमपुरुष एकवचन।

यः सप्तरश्मिर्वृषभस्तुविष्मा-
नवासृजत्सर्तवे सप्त सिन्धून्।
यो रौहिणमस्फुरद्वज्रबाहु-
द्यामारोहन्तं स जनास इन्द्रः ॥१२॥

पदपाठ— यः। सप्तरश्मिः। वृषभः। तुविष्मान्। अवऽअसृजत्। सर्तवे। सप्त। सिन्धून्। यः। रौहिणम्। अस्फुरत्। वज्रऽबाहुः। द्याम्। आऽरोहन्तम्। सः। जनासः। इन्द्रः॥

सा० भा०— यः सप्तरश्मिः सप्तसंख्याकाः पर्जन्याः रश्मयो यस्य ते च रश्मयः। 'वराहवः स्वतपसो विद्युन्महसो धूपयः श्वापयो गृहमेधाश्चेत्येते ये चेमेऽशिमिवि-द्विषः पर्जन्याः सप्त पृथिवीमभिवर्षन्ति वृष्टिभिः' (तै०आ० १.९.४.५) इति तैत्ति-रीयारण्यके ह्याम्नाताः। वृषभः वर्षकः तुविष्मान् वृद्धिमान् बलवान् वा सप्त सर्पणस्व-भावान् सिन्धून् अपः सर्तवे सरणाय अवासृजत् अवसृष्टवान्। यद्वा गङ्गाद्याः सप्त मुख्या नदीरसृजत्। यः च वज्रबाहुः। सन् द्यां दिवम् आरोहन्तं रौहिणम् असुरम् अस्फुरत् जघान। 'स्फुर स्फुरणे' तुदादिः।

अन्वय— सप्तरश्मिः वृषभः तुविष्मान् यः सप्त सिन्धून् सर्तवे अवासृजत् यः वज्रबाहुः द्याम् आरोहन्तं रौहिणम् अस्फुरत्, जनासः! सः इन्द्रः।

पदार्थ—सप्तरश्मिः = सात किरणों वाले, सात मेघों (पर्जन्यों) से समन्वित। वृषभः = वर्षा करने वाले, कामना की पूर्ति करने वाले। तुविष्मान् = बलवान्, बलशाली। यः= जिसने। सप्त = सात। सिन्धून् = नदियों को। सर्तवे = बहने के लिए। अवासृजत् = मुक्त किया, विसर्जित किया, छोड़ा। यः = जो। वज्रबाहुः = हाथ में वज्र को धारण करने वाला, वज्र के समान हाथों वाला। द्याम् = द्युलोक में। आरोहन्तम् = आरोहरण करते हए, चढ़ते हुए। रौहिणम् = रौहिण (नामक असुर) को। अस्फुरत् = मार डाला। जनासः = हे लोगों! सः = वह। इन्द्रः = इन्द्र।

अनुवाद— सात किरणों वाले (अथवा सात मेघों से समन्वित),वर्षा करने वाले (अथवा कामना की पूर्ति करने वाले) और बलशाली जिस (देवता) ने सात नदियों को बहने के लिए प्रवाहित किया, हाथ में वज्र को धारण करने वाला (अथवा हाथ में वज्र को उठाकर) जो द्युलोक में चढ़ते हए रौहिण (नामक

असुर) को मार डाला, हे लोगो! वह इन्द्र है।

व्याकरण—

१. सर्तवे – √सृ + तवे (तुमर्थक वैदिक प्रत्यय)।

२. अवासृजत् – अव + √सृज् + लङ्, प्रथमपुरुष एकवचन।

३. आरोहन्तम् – आ + √रुह् + शतृ, द्वितीया एकवचन।

४. अस्फुरत् = √स्फुर् + लङ्, प्रथमपुरुष एकवचन।

द्यावा चिदस्मै पृथिवी नमेते
शुष्माच्चिदस्य पर्वता भयन्ते।
यः सोमपा निचितो वज्रबाहु
र्यो वज्रहस्तः स जनास इन्द्रः ॥१३॥

पदपाठ— द्यावा। चित्। अस्मै। पृथिवी इति। नमेते इति। शुष्मात्। चित्। अस्य। पर्वताः। भयन्ते॥ यः। सोमऽपाः। निऽचितः। वज्रऽबाहुः। यः। वज्रऽहस्तः। सः। जनासः इन्द्रः॥

सा० भा०— अस्मै इन्द्राय द्यावापृथिवी। इतरेतरापेक्षया द्विवचनं 'प्र मित्रयो-र्वरुणयोः' (ऋ०सं० ७.६.६.१) इतिवत्। नमेते स्वयमेव प्रह्वीभवतः। 'णमु प्रह्वत्वे'। कर्मकर्तरि 'न दुहस्नुनमां यक्चिणो' इति यकः प्रतिषेधः। चित् अपि च अस्य इन्द्रस्य शुष्मात् बलात् पर्वताः भयन्ते विभ्यति। यः सोमपाः सोमस्य पाता निचितः सर्वैः। यद्वा अन्येभ्योऽपि दृढाङ्गः। वज्रबाहुः वज्रसदृशबाहुः। यः च वज्रहस्तः वज्रयुक्तः सः इन्द्रः इत्यादि प्रसिद्धम्।

अन्वय— अस्मै द्यावा पृथिवी चित् नमेते, अस्य शुष्मात् पर्वताः चित् भयन्ते, यः वज्रबाहु निचितः सोमपाः, यः वज्रहस्तः, जनासः! सः इन्द्रः।

पदार्थ— अस्मै = इसके लिए, इसके समक्ष। द्यावा = द्युलोक। पृथिवी = पृथिवीलोक। चित् = भी। नमेते = झुक जाते हैं। अस्य = इसके। शुष्मात् = बल से, पराक्रम के सामने। पर्वताः = पर्वत। चित् = भी। भयन्ते = डर जाते हैं। यः = जो। वज्रबाहुः = वज्र के समान (कठोर) भुजाओं वाला। निचितः = प्रसिद्ध, विख्यात। सोमपा = सोम का पान करने वाला, सोमपायी। यः = जो। वज्रहस्तः = हाथ में वज्र को धारण करने वाला। जनासः = हे लोगो! सः = वह। इन्द्रः = इन्द्र।

अनुवाद— इस (जिस) के समक्ष द्युलोक (आकाश तथा पृथिवी) भी झुक जाते हैं, इसके (जिसके) पराक्रम के सामने पर्वत भी डर जाते हैं, जो वज्र के समान (कठोर) भुजाओं वाला, प्रसिद्ध सोम-पान-कर्ता (सोमपायी) है, जो हाथ में वज्र को धारण करने वाला है, हे लोगों! वह इन्द्र है।

व्याकरण—

१. नमेते – √नम् + लिट्; आत्मनेपद प्रथमपुरुष द्विवचन।

२. भयन्ते – √भी लट् प्रथमपुरुष बहुवचन। वैदिक रूप, लौकिक संस्कृत में विभ्यति रूप होता हैं।

३. निचितः – नि + √चि + क्त, प्रथमा एकवचन।

यः सुन्वन्तमवति यः पचन्तं
यः शंसन्तं यः शशमानमूती।

यस्य ब्रह्म वर्धनं यस्य सोमो
यस्येदं राधः स जनास इन्द्रः ॥१४॥

पदपाठ— यः । सुन्वन्तम् । अवति । यः । पचन्तम् । यः । शंसन्तम् । यः । शशमानम् । ऊती ॥ यस्य । ब्रह्म । वर्धनम् । यस्य । सोमः । यस्य । इदम् । राधः । सः । जनासः । इन्द्रः॥

सा० भा०— यः सुन्वन्तं सोमाभिषवं कुर्वन्तं यजमानम् अवति रक्षति । यः पुरोडाशादीनि हवींषि पचन्तं यः च ऊती ऊतये । 'सुपां सुलुक्' (पा. सू. ७।१।३९) इति चतुर्थ्याः पूर्वसवर्णदीर्घः । स्वरक्षायै शस्त्राणि शंसन्तं यः च शशमानम् अवति स्तोत्रं कुर्वाणं रक्षति । ब्रह्मा परिवृढं स्तोत्रं यस्य वर्धनं वृद्धिकरं भवति । तथा यस्य सोमः वृद्धिहेतुर्भवति । यस्य च इदम् अस्मदीयं राधः पुरोडाशादिलक्षणमन्नं वृद्धिकरं भवति । सः इन्द्रः इत्यादि प्रसिद्धम् ।

अन्वय— यः सुन्वन्तम् अवति, यः पचन्तम्, यः ऊती शंसन्तम्, यः शशमानम् अवति, ब्रह्म यस्य वर्धनम्, सोमः यस्य, इदं राधः यस्य, जनासः! सः इन्द्रः ।

पदार्थ— यः = जो । सुन्वन्तम् = सोम रस को निकालते हुए की, सोम रस को निचोड़ते हुए की । यः = जो । ऊती = रक्षा के लिए । शंसन्तम् = स्तुति करते हुए की । यः = जो । शशमानम् = स्तोत्र पाठ करते हुए की । अवति = रक्षा करता है । ब्रह्मा = स्तोत्र । यस्य = जिसकी । वर्धनम् = वृद्धि करने वाला । सोमः = सोम । यस्य = जिसकी । इदम् = यह । राधः = पुरोडाश आदि अन्न, धन । जनासः = हे मनुष्यो, लोगो! सः = वह । इन्द्रः = इन्द्र ।

अनुवाद— जो (देवता) सोम रस को निचोड़त हुए (व्यक्ति) की रक्षा करता है, जो (हवि को) पकाते हुए (व्यक्ति) की, जो (अपनी) रक्षा के लिए (देव) स्तुति करते हुए (व्यक्ति) की, जो स्तोत्र-पाठ करते हुए (व्यक्ति) की (रक्षा करता है), स्तोत्र जिसकी वृद्धि करने वाला है; पुरोडाश आदि अन्न जिसकी (वृद्धि करने वाला) है, हे लोगो! वह इन्द्र है ।

व्याकरण—

१. सुन्वन्तम् – √सु + (श्नु) + शतृ, द्वितीया एकवचन ।
२. अवति – √अव् + लट्, प्रथमपुरुष एकवचन ।
३. पचन्तम् – √पच् +शतृ + द्वितीया एकवचन ।
४. ऊती – वैदिक रूप, ऊतये = √अव् + क्तिन् चतुर्थी (या–ऊत्या तृतीया) एकवचन ।
५. शंसन्तम् – √शंस् + शतृ. द्वितीया एकवचन ।
६. शशमानम् – √शस् + कानच्, द्वितीया एकवचन ।
७. वर्धनम् – √वृध् + ल्युट् (अन्), द्वितीया एकवचन ।

यः सुन्वते पचते दुध्र आ चि-
द्वाजं ददर्षि स किलासि सत्यः ।
वयं ते इन्द्र विश्वहा प्रियासः
सुवीरासो विदथमा वदेम ॥१५॥

पदपाठ— यः । सुन्वते । पचते । दुध्रः । आ । चित् । वाजम् । ददर्षि । सः । किल । असि । सत्यः ॥ वयम् । ते । इन्द्र । विश्वहा । प्रियासः । सुऽवीरासः । विदथम् । आ । वदेम ॥

सा० भा०— इदानीमृषिः साक्षात्कृतमिन्द्रं प्रति ब्रूते। हे इन्द्र यः दुध्रःदुर्धरः सन् सुन्वते सोमाभिषवं कुर्वते पुरोडाशादिहवींषि पचते यजमानाय वाजम् अन्नं बलं वा आ दर्दर्षि भृशं प्रापयसि सः तादृशस्त्वं सत्यः यथार्थभूतः असि न पुनर्ना-स्तीति बुद्धियोग्योऽसि। किल इति प्रसिद्धौ। ते तव प्रियासः सुवीरासः कल्याण-पुत्रपौत्राः सन्तः वयं विश्वह सर्वेष्वहः सु विदथं स्तोत्रम् आ वदेम ब्रूयाम।

अन्वय— दुध्रः यः सुन्वते पचते वाजम् आ दर्दर्षि, सः किल सत्यः असि, इन्द्र ते प्रियासः वयं विश्वह सुवीरासः विदथम् आ वदेम।

पदार्थ— दुध्रः = दुर्धर, भयानक। यः = जो। सुन्वते = निचोड़ने वाले के लिए, सोम रस निकालते हुए (व्यक्ति) के लिए। पचते = (हवि को) पकाने वाले के लिए। वाजम् = अन्न, धन, बल। आ दर्दर्षि = पुनः पुनः प्रदान करते हो। सः = वह। किल = निश्चित रूप से। सत्यः = सत्य, यथार्थ। असि = हो। इन्द्र = हे इन्द्र! ते = तुम्हारे। प्रियासः = प्रिय। वयम् = हम लोग। विश्वह = सभी दिनों में, सर्वदा। सुवीरासः = उत्तम वीर पुत्र-पौत्रों से युक्त होते हुए। विदथम् = स्तोत्र, स्तुति। आ वदेम = बोलें, गायें।

अनुवाद— (हे इन्द्र!) जो भयानक (तुम) (सोम रस को) निचोड़ते हुए (व्यक्ति) के लिए तथा (हवि) पकाने वाले (व्यक्ति) के लिए अन्न (अथवा धन) को बार-बार प्रदान करते हो, वह (तुम) निश्चित रूप से सत्य हो। हे इन्द्र! तुम्हारे प्रिय हम लोग सभी दिनों में (सर्वदा) शोभन पुत्र-पौत्रों से युक्त होकर (तुम्हारे लिए) स्तोत्रगान करें।

व्याकरण—

१. सुन्वते – √सु (श्नु) + शतृ चतुर्थी एकवचन।
२. पचते – √पच् + शतृ + चतुर्थी एकवचन।
३. दर्दर्षि – √दृ + यङ् प्रत्यय + लट्, मध्यमपुरुष एकवचन।
४. प्रियासः तथा सुवीरासः – ये शब्द क्रमशः प्रिय तथा सुवीर शब्दों के प्रथमा बहुवचन के वैदिक रूप हैं। लौकिक संस्कृत में क्रमशः प्रियाः तथा सुवीराः रूप होता है।
५. वदेम – √वद् + विधिलिङ्, उत्तमपुरुष बहुवचन।

अभ्यास -

(१) निम्नलिखित मन्त्रों का अनुवाद कीजिए-
  (क) यो जात एवं प्रथमो .....(१)
  (ख) यो हत्वाहिमरिणात्सप्तसिन्धून्। (३)
  (ग) येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि (४)
  (घ) यस्याश्वासःप्रदिशि यस्य गावो (७)
  (ङ) यः शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तं (११)
(२) निम्नलिखित शब्दों पर व्याकरणात्मक टिप्पणियाँ लिखिए-
  (क) जनासः (ख) अवसे (ग) आतस्थिवांसा (घ) अश्वासः (ङ) अर्यः।
(३) इन्द्रसूक्त का सारांश लिखिए।

७.१ पुरुषसूक्तम्

वेद–ऋग्वेद मण्डल संख्या–१० सूक्त संख्या–९०

ऋषि–नारायण देवता–विराट् पुरुष छन्द–अनुष्टुप्, १६ त्रिष्टुप्

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥१॥

पदपाठ— सहस्रऽशीर्षा । पुरुषः । सहस्रऽअक्षः । सहस्रऽपात् ॥ सः । भूमिम् । विश्वतः । वृत्वा । अति । अतिष्ठत् । दशऽअङ्गुलम् ॥

सा० भा०— सर्वप्राणिसमष्टिरूपो ब्रह्माण्डदेहो विराडाख्यो यः पुरुषः सोऽयं सहस्रशीर्षा । सहस्रशब्दस्योपलक्षणत्वादनन्तैः शिरोभिर्युक्त इत्यर्थः । यानि सर्वप्राणिनां शिरांसि तानि सर्वाणि तद्देहान्तःपातित्वात्तदीयान्येवेति सहस्रशीर्षत्वम् । एवं सहस्रा-क्षित्वं सहस्रपादत्वं च । सः पुरुषः भूमिं ब्रह्माण्डगोलकरूपां विश्वतः सर्वतः वृत्वा परिवेष्ट्य दशाङ्गुलं दशाङ्गुलपरिमितं देशम् अत्यतिष्ठत् अतिक्रम्य व्यवस्थितः । दशा-ङ्गुलमित्युपलक्षणम् । ब्रह्माण्डाद्बहिरपि सर्वतो व्याप्यावस्थित इत्यर्थः ॥

अन्वय— पुरुषः सहस्रशीर्षा सहस्राक्षः सहस्रपात्, सः भूमिं विश्वतः वृत्वा दशाङ्गुलम् अत्यतिष्ठत् ।

पदार्थ— पुरुषः = परमेश्वर, परमात्मा, आदि पुरुष, विराट् पुरुष । सहस्र-शीर्षा = हजार (अनन्त, असङ्ख्य) सिरों वाला । सहस्राक्षः = हजार (अनन्त, असङ्ख्य) आँखों (नेत्रों) वाला । सहस्रपात् = हजार (अनन्त, असङ्ख्य) पैरों वाला । सः = वह । भूमिम् = भूमि को, समग्र ब्रह्माण्ड को । विश्वतः वृत्वा = सभी ओर से (या पूर्णरूप से) व्याप्त करके अथवा घेरकर अथवा आच्छादित करके । दशाङ्गुलम् = दश अङ्गुल । अत्यतिष्ठत् = अधिक होकर स्थित है ।

अनुवाद—परम (विराट्) पुरुष हजार सिरों वाला, हजार आँखों (नेत्रों) वाला और हजार पैरों वाला है । वह पृथिवी (अर्थात् समस्त ब्रह्माण्ड) को सभी ओर से (या पूर्ण रूप से) व्याप्त करके (घेर कर) दस अङ्गुल (परिणाम में) अधिक होकर स्थित है (ब्रह्माण्ड से बाहर स्थित है– ब्रह्माण्ड को भीतर और बाहर से व्याप्त किए हुए है) ।

व्याकरण—

१. सहस्रशीर्षा – सहस्रं शीर्षाणि यस्य सः (बहुव्रीहि) ।
२. सहस्राक्षः– सहस्रम् अक्षीणि यस्य सः (बहुव्रीहि) ।
३. सहस्रपात् – सहस्रम् पादाः यस्य सः (बहुव्रीहि) ।
४. वृत्वा – √वृ + क्त्वा (त्वा) ।
५. दशाङ्गुलम् – दशानाम् अङ्गुलीनां समाहारः (द्विगुसमास) ।
६. अतिष्ठत् – √स्था + लङ्, प्रथमपुरुष एकवचन ।

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥२॥

पदपाठ— पुरुषः । एव । इदम् । सर्वम् । यत् । भूतम् । यत् । च । भव्यम् ॥ उत । अमृतऽत्वस्य । ईशानः । यत् । अन्नेन । अतिऽरोहति ॥

सा० भा०— यत् इदं वर्तमानं जगत् तत् पुरुष एव । यत् च भूतम् अतीतं जगत् यच्च भव्यं भविष्यज्जगत् तदपि पुरुष एव । यथास्मिन् कल्पे वर्तमानः प्राणि-देहाः सर्वेऽपि विराट्पुरुषस्यावयवाः तथैवातीतागामिनोरपि कल्पयोर्द्रष्टव्यमित्यभि-प्रायः । उत अपि च अमृतत्वस्य देवत्वस्य अयम् ईशानः स्वामी । यत् यस्मात्कारणात् अन्नेन प्राणिनां भोग्येनान्नेन निमित्तभूतेन अतिरोहति स्वकीयां कारणावस्था-मतिक्रम्य परिदृश्यमानां जगदवस्थां प्राप्नोति तस्मात्प्राणिनां कर्मफलभोगाय जगदव-स्थास्वीकारान्नेदं तस्य वस्तुत्वमित्यर्थः ।

अन्वय— इदं सर्वम् पुरुष एव, यत् भूतम्, यत् च भव्यम्, उत अमृत्वस्य ईशानः यत् अन्नेन अतिरोहति ।

पदार्थ—इदम् सर्वम् = यह सब कुछ (दृश्यमान जगत्) । पुरुषः एव = पुरुष ही है । यत् = जो कुछ । भूतम् = (भूतकाल में) हो चुका है । यत् च = और जो कुछ । भव्यम् = (भविष्य में) होने वाला है । उत = और, इसके अतिरिक्त । अमृत-त्वस्य = अविनश्वरता का, अमरता का । ईशानः = अधिपति, अधिष्ठाता । यत् = जो । अन्नेन = अन्न से, भोग्य वस्तु से । अतिरोहति = वृद्धि को प्राप्त करता है, बढ़ता है ।

अनुवाद— यह सब कुछ (दृश्यमान जगत्) पुरुष ही है (अर्थात् पुरुष का ही रूप है) । जो कुछ हो चुका है और जो कुछ होने वाला है (वह भी सब पुरुष ही है) । इसके अतिरिक्त (पुरुष) अविनश्वरता (अमरता) का अधिपति है, जो अन्न से (भोग्य वस्तु से) वृद्धि को प्राप्त करता है (बढ़ता है) (उसका भी अधिष्ठाता पुरुष ही है) ।

व्याकरण—

१. भव्यम् – √भू + यत् (य) । ईशानः = √ईश + शानच् प्रथमा एकवचन ।

२. अतिरोहति – अति √रुह् + लट्, प्रथम पुरुष एकवचन ।

एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥३॥

पदपाठ— एतावान् । अस्य । महिमा । अतः । ज्यायान् । च । पुरुषः ॥ पादः । अस्य । विश्वा । भूतानि । त्रिऽपात् । अस्य । अमृतम् । दिवि ॥

सा० भा०— अतीतानागतवर्तमानरूपं जगद्यावदस्ति एतावान् सर्वोऽपि अस्य पुरुषस्य महिमा स्वकीयसामर्थ्यविशेषः । न तु तस्य वास्तवस्वरूपम् । वास्तवस्तु पुरुषः अतः महिम्नोऽपि ज्यायान् अतिशयेनाधिकः । एतच्चोभयं स्पष्टीक्रियते । अस्य पुरुषस्य विश्वा सर्वाणि भूतानि कालत्रयवर्तीनि प्राणिजातानि पादः चतुर्थोऽशः । अस्य पुरुषस्य अविशिष्टं त्रिपात् स्वरूपम् अमृतं विनाशरहितं सत् दिवि द्योतनात्मके स्वप्रकाश-स्वरूपे व्यवतिष्ठात इति शेषः । यद्यपि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै०आ० ८.१; तै०उ० २.१) इत्याम्नातस्य परब्रह्मण इयत्ताभावात् पादचतुष्टयं निरूपयितुमशक्यं तथापि जगदिदं ब्रह्मस्वरूपापेक्षयाल्पमिति विवक्षितत्वात् पादत्वोपन्यासः ॥

अन्वय—एतवान् अस्य महिमा पुरुषः च अतः ज्यायान्, विश्वा भूतानि अस्य पादः, अस्य त्रिपात् अमृतं दिवि ।

पदार्थ— एतावान् = इतना, इतनी । अस्य = इस (पुरुष) की । महिमा = महिमा, ऐश्वर्य । पुरुषः च = और पुरुष । अतः ज्यायान् = इस (महिमा, ऐश्वर्य) से भी बड़ा । विश्वाभूतानि = समग्र प्राणी, समस्त सृष्टि । अस्य पादः = उसका चतुर्थ अंश । अस्य त्रिपात् = इसका तीन-चतुर्थांश, तीन चौथाई भाग । अमृतं दिवि = अमृत रूप से द्युलोक में (है) ।

अनुवाद— इतनी इस (पुरुष) की महिमा हैं और पुरुष इस महिमा, ऐश्वर्य से भी बड़ा है । समग्र प्राणी (समस्त सृष्टि) इसका चतुर्थ अंश मात्र है । उसका तीन-चतुर्थांश अमृत (अविनश्वर) रूप से द्युलोक में अवस्थित है ।

व्याकरण—

१. एतावान् – एतत् + वतुप् (वत्) ।

२. ज्यायान् – ज्या (प्रशस्य या बृद्ध) + ईयसुन् ।

३. विश्वा – विश्व शब्द, नपुंसकलिंग प्रथमा बहुवचन का वैदिक रूप । लौकिक संस्कृत में विश्वानि रूप बनता है ।

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः ।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि ॥४॥

पदपाठ— त्रिऽपात् । ऊर्ध्वः । उत् । ऐत् । पुरुषः । पादः । अस्य । इह । अभवत् । पुनरिति ॥ ततः । विष्वङ् । वि । अक्रामत् । साशनानशने इति । अभि ॥

सा० भा०— योऽयं त्रिपात् पुरुषः संसाररहितौ ब्रह्मस्वरूपः सोऽयम् ऊर्ध्व उदैत् अस्मादज्ञानकार्यात्संसाराद्रहितोऽत्रत्यैर्गुणदोषैरस्पृष्ट उत्कर्षेण स्थितवान् । तस्य अस्य सोऽयं पादः लेशः सोऽयम् इह मायायां पुनः अभवत् सृष्टिसंहाराभ्यां पुनः पुनरा-गछति । अस्य सर्वस्य जगतः परमात्मलेशत्वं भगवताप्युक्तं—'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्न-मेकांशेन स्थितो जगत्' (भ०गी० १०. ४२) इति । ततः मायायामागत्यानन्तरं विष्वङ् देवमनुष्यतिर्यगादि-रूपेण विविधः सन् व्यक्रामत् व्याप्तवान् । किं कृत्वा । साशना-नशने अभिलक्ष्य । साशनं भोजनादिव्यवहारेपेतं चेतनं प्राणिजातम् अनशनं तद्रहितमचेतनं गिरिनद्यादिकम् । तदुभयं यथा स्यात्तथा स्वयमेव विविधो भूत्वा व्याप्तवा-नित्यर्थः ॥

अन्वय— त्रिपात् पुरुषः ऊर्ध्वः उदैत्, पुनः अस्य पादः इह अभवत्, ततः साशनानशने अभि विष्वङ् व्याक्रामत् ।

पदार्थ—त्रिपात् = तीन पादो से युक्त, तीन चौथाई भाग के साथ । पुरुषः = पुरुष । ऊर्ध्वः = उर्ध्ववर्ती या द्युलोकवर्ती । उदैत् = ऊपर को उठ गया । पुनः = फिर भी । अस्य पादः = इस (पुरुष) का एक-चतुर्थ अंश । इह = यहाँ अभवत् = हो गया, रह गया है । ततः = उससे । साशनानशने = भोजन करने वाला (अर्थात् चेतन वर्ग) और भोजन न करने वाला (अर्थात् अचेतन या जड़ वर्ग) । अभि = पर्यन्त । विष्वङ् = विविध रूपों वाला, सर्वत्र । व्यक्रामत् = व्याप्त हुआ,व्याप्त होकर स्थित है ।

अनुवाद— तीन पदों से युक्त (तीन चौथाई भाग के साथ) पुरुष ऊर्ध्ववर्ती होकर ऊपर को उठा (ऊपर द्युलोक मे चला गया)। फिर भी इसका एक चतुर्थांश यही रह गया । वह (पुरुष) भोजन करने वाले (अर्थात् चेतन वर्ग) और भोजन न करने वाले (अर्थात् अचेतन वर्ग) पर्यन्त विविध रूपो में सर्वत्र व्याप्त हो गया ।

व्याकरण—

१. उदैत् – उत् + √इ, लङ्, प्रथमपुरुष एकवचन ।
२. व्यक्रामत् – वि + √क्रम्, लङ्, मध्यमपुरुष एकवचन ।
३. साशनाशने – अश् + ल्युट;, अशनेन सहितम् साशनम्, अशनेन रहितम् अनशनम्, साशनम् च अनशनम्, चेति (द्वन्द्व समास) ।

तस्माद्विराळजायत विराजो अधि पूरुषः ।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः ॥५॥

पदपाठ— तस्मात् । विऽराट् । अजायत । विऽराजः । अधि । पुरुषः ॥ सः । जातः । अति । अरिच्यत । पश्चात् । भूमिम् । अथो इति । पुरः ॥

सा० भा०— विष्वङ् व्यक्रामदिति यदुक्तं तदेवात्र प्रपञ्च्यते । तस्मात् आदि-पुरुषात् विराट् ब्रह्माण्डदेहः अजायत उत्पन्नः । विविधानि राजन्ते वस्तून्यत्रेति विराट् । विराजोऽधि विराड्देहस्योपरि तमेव देहमधिकरणं कृत्वा पुरुषः तद्देहा- भिमानी कश्चित् पुमान् अजायत । सोऽयं सर्ववेदान्तवेद्यः परमात्मा स्वयमेव स्वकीयया मायया विराड्देहं ब्रह्माण्डरूपं सृष्ट्वा तत्र जीवरूपेण प्रविश्य ब्रह्माण्डाभिमानी देवतात्मजीवोऽभवत् । एतच्चाथर्वणिका उत्तरतापनीये विस्पष्टमामनन्ति—'स वा एष भूतानीन्द्रियाणि विराजं देवताः कोशांश्च

सृष्ट्वा प्रविश्यामूढो मूढ इव व्यवहर-न्नास्ते माययैव' (नृ०ता० २.१.९) इति। स जातः विराट्पुरुषः अत्यरिच्यत अतिरि-क्तोऽभूत्। विराड्व्यतिरिक्तो देवतिर्यङ्मनुष्यादिरूपोऽभूत्। पश्चात् देवादिर्जीवभा-वादूर्ध्वं भूमिं ससर्जेति शेषः। अथो भूमिसृष्टेरनन्तरं तेषां जीवानां पुरः ससर्ज। पूर्यन्ते सप्तभिर्धातुभिरिति पुरः शरीराणि।

अन्वय—तस्मात् विराट् अजायत, विराजः अधिपुरुषः। सः जातः भूमिम् अथो पुरः अत्यरिच्यत।

पदार्थ— तस्मात् = उस (पुरुष) से। विराट् = (परम पुरुष से उत्पन्न) प्रथम तत्त्व व्यक्त जगत्। अजायत = उत्पन्न हुआ, आविर्भूत हुआ, उद्भूत हुआ। विराजः = विराट नामक प्रथम तत्त्व के। अधिपुरुषः = अधिष्ठाता के रूप में पुरुष (जीवात्मा)। सः = वह। जातः = उत्पन्न होकर। भूमिम् = पृथिवी, जगत् के। पश्चात् = पीछे। अथो = और। पुरः = आगे। अत्यरिच्यत् = अतिक्रमण कर गया, सबसे आगे बढ़ गया।

अनुवाद— उस (आदि पुरुष) से विराट् (परम पुरुष से उत्पन्न प्रथम) तत्त्व व्यक्त जगत् उत्पन्न हुआ। विराट् (नामक प्रथम तत्त्व, व्यक्त जगत्) के अधिष्ठाता के रूप में पुरुष (जीवात्मा) (उत्पन्न हुआ)। वह उत्पन्न होकर जगत् के पीछे और आगे अतिक्रमण कर गया (अर्थात् सबसे आगे बढ़ गया)।

व्याकरण—

१. विराट् – वि + √राज् + क्विप्; दो स्वरों के मध्य मे स्थित ड् को ळ् हो गया है।

२. अजायत – √जन् + लङ्, प्रथमपुरुष एकवचन।

३. अत्यरिच्यत – अति + √रिच् + लङ्, प्रथमपुरुष एकवचन।

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥६॥

पदपाठ— यत्। पुरुषेण। हविषा। देवाः। यज्ञम्। अतन्वत॥ वसन्तः। अस्य। आसीत्। आज्यम्। ग्रीष्मः। इध्मः। शरत्। हविः॥

सा०भा०— यत् यदा पूर्वोक्तक्रमेणैव शरीरेषूत्पन्नेषु सत्सु देवाः उत्तरसृष्टि-सिद्ध्यथ बाह्यद्रव्यस्यानुत्पन्नत्वेन हविरन्तरासम्भवात् पुरुषस्वरूपमेव मनसा हवि-ष्ट्वेन संकल्प्य पुरुषेण पुरुषाख्येन हविषा मानसं यज्ञं अतन्वत अन्वतिष्ठन् तदानीम्। अस्य यज्ञस्य वसन्तः वसन्तर्तुरेव आज्यम् आसीत् अभूत्। तमेवाज्यत्वेन सङ्कल्पिवन्त इत्यर्थः। एवं ग्रीष्म इध्मः आसीत्। तमेवेध्मत्वेन सङ्कल्पितवन्त इत्यर्थः। तथा शरद्धविः आसीत्। तामेव पुरोडाशादिहविष्ट्वेन सङ्कल्पितवन्त इत्यर्थः। पूर्व- पुरुषस्य हविः सामान्यरूपत्वं न सङ्कल्पः। अनन्तरं वसन्तादीनामाज्यादिविशेषरूप-त्वेन सङ्कल्प इति द्रष्टव्यम्॥

अन्वय— यत् देवाः पुरुषेण यज्ञम् अतन्वत। अस्य वसन्तः आज्यम् आसीत्, ग्रीष्मः इध्मः, शरत् हविः (चासीत्)।

पदार्थ— यत् = जब। देवाः = देवताओं, दिव्य शक्तियों ने। पुरुषेण हविषा = पुरुषरूप हवि के द्वारा। यज्ञम् = यज्ञ को, सृष्टिरूप यज्ञ को। अतन्वत = विस्तार किया, सम्पन्न किया। अस्य = इस (इस यज्ञ का)। वसन्तः = वसन्त ऋतु। आज्यम् = घृत। आसीत् = था। ग्रीष्मः = ग्रीष्म ऋतु। इध्मः = ईंधन। शरद् = शरद् ऋतु। हविः = हविष्य।

अनुवाद— जब देवताओं ने पुरुष (रूपी) हविष्य से यज्ञ (सृष्टियज्ञ) को सम्पन्न किया (उस समय) वसन्त ऋतु इस (यज्ञ) का घृत था, ग्रीष्म ऋतु ईंधन (था) (और) शरद्ऋतु हविष्य थी।

व्याकरण—

१. अतन्वत् – √तन् (विस्तार करना) + लङ्, प्रथमपुरुष एकवचन।

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रतः ।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥७॥

पदपाठ— तम् । यज्ञम् । बर्हिषि । प्र । औक्षन् । पुरुषम् । जातम् । अग्रतः ॥ तेन । देवाः । अयजन्त । साध्याः । ऋषयः । च । ये ॥

सा० भा०— यज्ञं यज्ञसाधनभूतं तं पुरुषं पशुत्वभावनया यूपे बद्धं बर्हिषि मानसे यज्ञे प्रौक्षन् प्रोक्षितवन्तः । कीदृशमित्यत्राह । अग्रतः सर्वसृष्टेः पूर्वं पुरुषं जातं पुरुषत्वेनोत्पन्नम् । एतच्च प्रागेवोक्तम् 'तस्माद्विराळजायत विराजो अधि पूरुषः' इति । तेन पुरुषरूपेण पशुना देवा अयजन्त । मानसयागं निष्पादितवन्त इत्यर्थः । के ते देवा इत्यत्राह । साध्याः सृष्टिसाधनयोग्याः प्रजापतिप्रभृतयः तदनुकूलाः ऋषयः मन्त्र-द्रष्टारः च ये सन्ति । ते सर्वेऽप्ययजन्तेत्यर्थः ।

अन्वय— अग्रतः जातम् तम् यज्ञम् पुरुषम् बर्हिषि प्रौक्षन् तेन देवाः ये साध्याः ऋषयः च अयजन्त ।

पदार्थ—अग्रतः = सर्वप्रथम । जातम् = उत्पन्न, उद्भूत । तम् यज्ञम् = उस यज्ञ अर्थात् यज्ञसाधनभूत । पुरुषं = पुरुष को । बर्हिषि = कुशाओं पर । प्रौक्षन् = प्रोक्षण किया, जल से अभिषेक किया । तेन = उस (प्रोक्षित पुरुष) से । देवाः = देवताओं (दिव्य-शक्तियों) ने । ये साध्याः = जो (प्रजापति आदि) सृष्टिकर्त्ता (थे, उन्होनें) । च = और । ऋषयः = ऋषियों ने, यज्ञकर्त्ताओं ने । अयजन्त = यज्ञ (यजन) किया ।

अनुवाद— सर्वप्रथम उत्पन्न उस यज्ञसाधनभूत (यज्ञीय) पुरुष का (देवताओं ने) कुश पर प्रोक्षण किया (अर्थात् पुरुष को कुश पर रखकर जल छिड़ककर उसे पवित्र किया) । उस (प्रोक्षित पुरुष) से देवताओं (दिव्य-शक्तियों) ने, जो प्रजापति आदि सृष्टिकर्त्ता (थे उन्होंने) और (यज्ञकर्त्ता) ऋषियों ने यज्ञ (यजन) किया ।

व्याकरण—

१. प्रौक्षन् – प्र + √उक्ष् (छिड़कना) + लङ्, प्रथमपुरुष बहुवचन ।

२. अयजन्त – √यज् + लङ्, प्रथमपुरुष बहुवचन ।

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम् ।
पशून् ताँश्चक्रे वायव्यानारण्यान् ग्राम्याश्च ये ॥८॥

पदपाठ— तस्मात् । यज्ञात् । सर्वऽहुतः । सम्ऽभृतम् । पृषत्ऽआज्यम् ॥ पशून् । तान् । चक्रे । वायव्यान् । आरण्यान् । ग्राम्याः । च । ये ॥

सा० भा०— सर्वहुतः । सर्वात्मकः पुरुषः यस्मिन् यज्ञे हूयते सोऽयं सर्वहूत् । तादृशात् तस्मात् पूर्वोक्तात् मानसात् यज्ञात् पृषदाज्यं दधिमिश्रिज्यं सम्भृतं सम्पा-दितम् । दधि चाज्यम् चेत्येवमादिभोग्यजातं सर्वं संपादितमित्यर्थः । तथा वाय-व्यान् वायुदेवताकाँल्लोकप्रसिद्धान् आरण्यान् पशून् चक्रे उत्पादितवान् । आरण्या हरि-णादयः । तथा ये च ग्राम्याः गवाश्वादयः तानपि चक्रे । पशूनामन्तरिक्षद्वारा वायुदेव-त्यत्वं यजुर्ब्राह्मणे समाम्नायते 'वायवः स्थेत्याह वायुर्वा अन्तरिक्षस्याध्यक्षाः । अन्तरिक्ष-देवत्याः खलु वै पशवः । वायव एवैनान्परिददाति' (तै०ब्रा० ३.२.१.३) इति ।

अन्वय— सर्वहुतः तस्मात् यज्ञात् पृषदाज्यम् सम्भृतम्, वायव्यानि आरण्यानि ये च ग्राम्याः तान् चक्रे ।

पदार्थ— सर्वहुतः = जिसमें सभी कुछ होम (हवन) कर दिया गया ऐसे; जिसमें सर्वात्मक पुरुष को होम किया गया ऐसे । तस्मात् = उस । यज्ञात् = यज्ञ से । पृषदाज्यम् = दधिमिश्रित घी (घृत) । सम्भृतम् = इकट्ठा किया गया, उत्पन्न किया गया । वायव्यान् = वायु में विचरण करने वाले, अन्तरिक्ष में विचरण करने वाले । आरण्यान् = वन्य पशुओं को, जङ्गलों में रहने वाले पशुओं को । ये च = और

जो। ग्राम्याः = ग्राम्य पशु, गावों में रहने वाले पशु। तान् = उन्हें। चक्रे = उत्पन्न किया।

अनुवाद— जिसमें सभी कुछ होम (हवन) कर दिया गया (जिसमें सर्वात्मक पुरुष को होम किया गया) उस यज्ञ से दधिमिश्रित घृत इकट्ठा किया गया (उत्पन्न किया गया), (उस दधिमिश्रित घृत से उस पुरुष ने) वायु में विचरण करने वाले (पक्षियों), वन्य पशुओं और जो ग्राम्य पशु हैं, उन्हें उत्पन्न किया।

व्याकरण—

१. सर्वहुतः – सर्वं हूयते यस्मिन्; तस्मात्, सर्व + √हू + क्विप्, पञ्चमी एकवचन।

२. पृषदाज्यम् – √पृष् + शतृ = पृषत च तद् आज्यम् च (कर्मधारय)।

३. सम्भृतम् – सम् + भृ +क्त।

४. वायव्यान् – वायु + यत्, द्वितीया बहुवचन।

५. आरण्यान् – अरण्य + अण्, द्वितीया बहुवचन।

६. ग्राम्याः – ग्राम + यत्, प्रथमा बहुवचन।

७. चक्रे – √कृ + लिट्, आत्मनेपद प्रथमपुरुष एकवचन।

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥९॥

पदपाठ— तस्मात्। यज्ञात्। सर्वऽहुतः। ऋचः। सामानि। जज्ञिरे॥ छन्दांसि। जज्ञिरे। तस्मात्। यजुः। तस्मात्। अजायत॥

सा० भा०— सर्वहुतः तस्मात् पूर्वोक्तात् यज्ञात् ऋचः सामानि च जज्ञिरे उत्पन्नाः। तस्मात् यज्ञात् छन्दांसि गायत्र्यादीनि जज्ञिरे। तस्मात् यज्ञात् यजः अपि अजायत॥

अन्वय— सर्वहुतः तस्मात् यज्ञात् ऋचः सामानि जज्ञिरे, तस्मात् छन्दांसि तस्मात् यजुः अजायत।

पदार्थ— सर्वहुतः = जिसमें सभी कुछ हवन कर दिया गया है ऐसे। तस्मात् = उस। यज्ञात् = यज्ञ से। ऋचः = ऋचाएँ। सामानि = साम। जज्ञिरे = उत्पन्न हुए। तस्मात् = उससे। छन्दांसि = (गायत्र्यादि) छन्द। तस्मात् = उससे। यजुः = यजुष्, यजुर्वेद के मन्त्र। अजायत = उत्पन्न हुआ।

अनुवाद—जिसमें सभी कुछ होम कर दिया गया (अथवा जिसमें सर्वात्मा पुरुष को होम किया गया) ऐसे यज्ञ से ऋचायें (ऋग्वेद के मन्त्र) तथा साम (सामवेद के मन्त्र) उत्पन्न हुए; उससे (गायत्र्यादि) छन्द उत्पन्न हुए और उससे यजुष् (यजुर्वेद के मन्त्र) उत्पन्न हुए।

व्याकरण—

१. जज्ञिरे – जन् (उत्पन्न होना) + लिट्, प्रथमपुरुष बहुवचन।

२. अजायत – √जन् + लङ्, प्रथमपुरुष एकवचन।

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः ॥१०॥

पदपाठ— तस्मात्। अश्वाः। अजायन्त। ये। के। च। उभयादतः॥ गावः। ह। जज्ञिरे। तस्मात्। तस्मात्। जाताः। अजावयः॥

सा० भा०— तस्मात् पूर्वोक्ताद्यज्ञात् अश्वा अजायन्त उत्पन्नाः। तथा ये के च अश्वव्यतिरिक्ता गर्दभा अश्वतराश्च उभयादतः ऊर्ध्वाधोभागयोरुभयोः दन्तयुक्ताः सन्ति तेऽप्यजायन्त। तथा तस्मात् यज्ञात् गावः च जज्ञिरे। किञ्च तस्मात् यज्ञात् अजावयः च जाताः।

अन्वय— तस्मात् अश्वाः अजायन्त, ये के च उभयादतः, तस्मात् ह गावः जज्ञिरे, तस्मात् अजावयः जाताः।

पदार्थ— तस्मात् = उससे। अश्वा: = घोड़े। अजायन्त = उत्पन्न हुए। ये के च = जो कोई और। उभयादत: = दोनों ओर दाँत वाले। तस्मात् = उससे। ह = निश्चित अर्थ का वाचक निपात। गाव: = गायें। जज्ञिरे = उत्पन्न हुई। तस्मात् = उससे। अजावय: = बकरियाँ तथा भेड़ें। जाता: = उत्पन्न हुईं।

अनुवाद— उस (यज्ञ) से घोड़े उत्पन्न हुए और जो कोई ऊपर-नीचे दोनों ओर दाँतों वाले (गधे आदि पशु हैं, वे भी उत्पन्न हुए)। उससे गायें उत्पन्न हुईं। उससे बकरियाँ तथा भेड़ें उत्पन्न हुईं।

व्याकरण—

१. अजायन्त – √जन् + लङ्, प्रथमपुरुष बहुवचन।

२. उभयादत: – उभयो: दन्ता: येषां ते (बहुव्रीहिसमास)।

३. जज्ञिरे – √जन् + लिट्, प्रथमपुरुष बहुवचन।

४. अजावय: – अजाश्च अवयश्च (द्वन्द्वसमास)।

यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।
मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते ॥११॥

पदपाठ— यत्। पुरुषम्। वि। अदधुः। कतिधा। वि। अकल्पयन्॥ मुखम्। किम्। अस्य। कौ। बाहू इति। कौ। ऊरू इति। पादौ। उच्येते इति॥

सा० भा०— प्रश्नोत्तररूपेण ब्राह्मणादिसृष्टिं ब्रह्मवादिनां प्रश्ना उच्यन्ते। प्रजा-पते: प्राणरूपा देवा: यत् यदा पुरुषं विराड्रूपं व्यदधु: सङ्कल्पेनोत्पादितवन्त: तदानीं कतिधा कतिभि: प्रकारै: व्यकल्पयन् विविधं कल्पितवन्त:। अस्य पुरुषस्य मुखं किम् आसीत्। कौ बाहू अभूताम्। कौ च पादावुच्येते। प्रथमं सामान्यरूप: प्रश्न: पश्चात् मुखं किमित्यादिना विशेषविषया: प्रश्ना:।

अन्वय— यत् पुरुषम् व्यदधु: कतिधा व्यकल्पयन्, अस्य मुखम् किम्, अस्य बाहू कौ, ऊरू कौ पादौ उच्येते।

पदार्थ— यत् = जब, जिस समय। पुरुषम् = (देवताओं ने उस विराट्) पुरुष को। व्यदधु: = विभक्त किया, अलग-अलग हिस्सों में बाँटा। कतिधा = कितने भागों में, कितने रूपों में। व्यकल्पयन् = विविधरूप से कल्पित किया, विभा-जित किया। अस्य = इसका, उसका। मुखम् = मुख। किम् = क्या (था)। अस्य = इसकी, उसकी। बाहू = भुजाएँ। कौ = कौन (थीं)। ऊरू = जङ्घाएँ। कौ = कौन। पादौ = पैर। उच्येते = कहे जाते हैं।

अनुवाद— जिस समय (देवताओं ने) (उस विराट्) पुरुष को विभक्त किया (उस समय) (उसको) कितने भागों में (रूपों में) विविध रूप से कल्पित किया विभाजित किया। इस (पुरुष) का मुख क्या (था); इसकी भुजाएँ कौन थीं? जङ्घाएँ (और) पैर क्या कहे जाते हैं?

व्याकरण—

१. व्यदधु: – वि + √धा + लङ्, प्रथमपुरुष बहुवचन।

२. व्यकल्पयन् – वि + √क्लृप् + णिच् + लङ्, प्रथमपुरुष बहुवचन।

३. उच्यते – √ब्रू (वच्), कर्मवाच्य, लट्, प्रथमपुरुष द्विवचन।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥१२॥

पदपाठ— ब्राह्मणः । अस्य । मुखम् । आसीत् । बाहू इति । राजन्यः । कृतः । ऊरू इति । तत् । अस्य । यत् । वैश्यः । पद्भ्याम् । शूद्रः । अजायत ॥१२॥

सा० भा०— इदानीं पूर्वोक्तानां प्रश्नानामुत्तराणि दर्शयति । अस्य प्रजापतेः ब्राह्मणः ब्रह्मणत्वजातिविशिष्टः पुरुषः मुखमासीत् मुखादुत्पन्न इत्यर्थः । योऽयं राजन्यः क्षत्रिय-त्वजातिमान् पुरुषः सः बाहु कृतः बाहुत्येन निष्पादितः । बाहुभ्यामुत्पादित इत्यर्थः । तत् तदानीम् अस्य प्रजापतेः यत् वैश्यः संपन्नः । ऊरुभ्यामुत्पन्न इत्यर्थः । तथास्य पद्भ्यां पादाभ्यां शूद्रः शूद्रत्वजातिमान् पुरुष अजायत । इयं च मुखादिभ्यो ब्राह्मणादीनामुत्पत्तिर्यजुःसंहितायां सप्तमकाण्डे 'स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत' (तै०सं० ७.१.१.४) इत्यादौ विस्पष्टमाम्नाता । अतः प्रश्नोत्तरे उभे अपि तत्परतयैव योजनीये ॥

अन्वय— ब्राह्मणः अस्य मुखम् आसीत्, राजन्यः बाहू कृतः, यत् वैश्यः तत् अस्य ऊरू, पद्भ्याम् शूद्रः अजायत ।

पदार्थ— ब्राह्मणः = ब्राह्मण । अस्य = इस (पुरुष) का । मुखम् = मुख । आसीत् = था । राजन्यः = क्षत्रिय । बाहू = दोनों भुजाएँ । कृतः = बनाया गया, उत्पन्न हुआ । तत् = वह । अस्य = इसकी । ऊरू = जङ्घाएँ । यत् =जो । वैश्यः = वैश्य । पद्भ्याम् =पैरों से । शूद्रः = शूद्र । अजायत = उत्पन्न हुआ ।

अनुवादा— ब्राह्मण इस (पुरुष) का मुख था (अर्थात् मुख से ब्राह्मण उत्पन्न हुआ) । क्षत्रिय दोनों भुजाओं को बनाया गया (दोनों भुजाओं से क्षत्रिय को बनाया गया), जो वैश्य है वह इसकी जङ्घाओं के रूप में था (जङ्घाओं से वैश्य उत्पन्न हुआ), दोनों पैरों से शूद्र उत्पन्न हुआ ।

व्याकरण—

१. आसीत् – √अस् + लिङ्, प्रथमपुरुष एकवचन ।

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत ।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ॥१३॥

पदपाठ— चन्द्रमाः । मनसः । जातः । चक्षोः । सूर्यः । अजायत ॥ मुखात् । इन्द्रः । च । अग्निः । च । प्राणात् । वायुः । अजायत ॥

सा० भा०— यथा दध्याज्यादिद्रव्याणि गवादयः पशव ऋगादिवेदा ब्राह्मणादयो मनुष्याश्च तस्मादुत्पन्ना एवं चन्द्रादयो देवा अपि तस्मादेवोत्पन्ना इत्याह । प्रजापतेः मनसः सकाशात् चन्द्रमाः जातः । चक्षोः च चक्षुषः सूर्यः अपि अजायत । अस्य मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च देवावुत्पन्नौ । अस्य प्राणाद्वायुरजायत ॥

अन्वय— मनसः चन्द्रमाः जातः, चक्षोः सूर्यः अजायत, मुखात् इन्द्रः च अग्निः च, प्राणात् वायुः अजायत ।

पदार्थ— मनसः = मन से । चन्द्रमाः = चन्द्रमा । जातः = उत्पन्न हुआ । चक्षोः = नेत्र से । सूर्यः = सूर्य । अजायत = उत्पन्न हुआ । मुखात् = मुख से । इन्द्रः = इन्द्र । च = और । अग्निः = अग्नि । च = तथा । प्राणात् = प्राणों से । वायुः = वायु । अजायत = उत्पन्न हुआ ।

अनुवाद— (पुरुष के) मन से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ, नेत्र से सूर्य उत्पन्न हुआ । मुख से इन्द्र और अग्नि (उत्पन्न हुआ) तथा प्राणों से वायु उत्पन्न हुआ ।

नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत ।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन् ॥१४॥

पदपाठ— नाभ्याः । आसीत् । अन्तरिक्षम् । शीर्ष्णः । द्यौः । सम् । अवर्तत ॥ पद्भ्याम् । भूमिः । दिशः । श्रोत्रात् । तथा । लोकान् । अकल्पयन् ॥

सा० भा०— यथा चन्द्रादीन् प्रजापतेर्मन:प्रभृतिभ्योऽकल्पयन् तथा अन्तरि- क्षादीन् लोकान् प्रजापते: नाभ्यादिभ्यो देवा: अकल्पयन् उत्पादितवन्त: । एतदेव दर्श-यति । नाभ्या: प्रजापतेर्नाभे: अन्तरिक्षमासीत् । शीर्ष्ण: शिरस: द्यौ: समवर्तत उत्पन्ना । अस्य पद्भ्यां पादाभ्यां भूमि: उत्पन्ना । अस्य श्रोत्रात् दिश: उत्पन्ना: ॥

अन्वय— नाभ्या: अन्तरिक्षम् आसीत्, शीर्ष्ण: द्यौ: समवर्तत, पद्भ्याम् भूमि:, श्रोत्रात् दिश:, तथा लोकान् अकल्पयन् ।

पदार्थ— नाभ्या: = नाभि से । अन्तरिक्षम् = अन्तरिक्ष । आसीत् = था, उत्पन्न हुआ । शीर्ष्ण: = शीर्ष से, सिर से । द्यौ: = द्युलोक । समवर्तत = उत्पन्न हुआ, उद्भूत हुआ । पद्भ्याम् = पैरों से । भूमि: = भूमि । श्रोत्रात् = कान से, कानों से । दिश: = दिशाएँ । तथा = उस प्रकार । लोकान् = लोकों की (को) । अकल्पयन् = कल्पित किया, कल्पना की, सृष्टि की, रचना की ।

अनुवाद— (पुरुष की) नाभि से अन्तरिक्ष उत्पन्न हुआ, सिर से द्युलोक उत्पन्न हुआ । पैरों से भूमि और कानों से दिशाएँ (उत्पन्न हुई) । इस प्रकार (उन्होंने) लोकों की रचना की ।

व्याकरण—

१. समवर्तत – सम् + √वृत् + लङ्, प्रथम पुरुष एकवचन ।

२. अकल्पयन् – √क्लृप् (बनाना, निर्माण करना) + लङ्, प्रथम पुरुष बहुवचन ।

सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः ।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम् ॥१५॥

पदपाठ— सप्त । अस्य । आसन् । परिऽधयः । त्रिः । सप्त । सम्ऽइधः । कृताः ॥ देवाः । यत् । यज्ञम् । तन्वानाः । अबध्नन् । पुरुषम् । पशुम् ॥

सा० भा०— अस्य साङ्कल्पिकयज्ञस्य गायत्र्यादीनि सप्त छन्दांसि परिधयः आसन् । ऐष्टिकस्याहवनीयस्य त्रय: परिधय उत्तरवेदिकास्त्रय आदित्यश्च सप्तम: परिधिप्रतिनिधिरूप: अत एवाम्नायते— 'न पुरस्तात्परिदधात्यादित्यो ह्येवोद्यन् पुरस्ता-द्रक्षांस्यपहन्ति' (तै०स० २.६.६.३) इति । तत एव आदित्यसहिता: सप्त परिध-योऽत्र सप्त छन्दोरूपा: । तथा समिध: त्रि: सप्तत्रिगुणीकृतसप्तसङ्ख्याका: एकविंशति: कृता: । 'द्वादश मासा: पञ्चर्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविंश:' (तै०स० ५.१.१०.३) इति श्रुता पदार्था एकविंशतिदारुयुक्तेध्मत्वेन भाविता: । यत् य: पुरुषो वैराजोऽस्ति तं पुरुषं देवा: प्रजापतिप्राणेन्द्रियरूपा: यज्ञं तन्वाना: मानसं यज्ञं तन्वाना: कुर्वाणा: पुशुम् अबध्नम् विराट्पुरुषमेव पशुत्वेन भावितवन्त: । एतदेवा-भिप्रेत्य पूर्वत्र यत्पुरुषेण हविषा' इत्युक्तम् ॥

अन्वय— यत् देवा: यज्ञम् तन्वाना: पुरुषं पशुम् अबध्नन्, अस्य सप्त परिधय: आसन्, त्रि: सप्त समिध: कृता: ।

पदार्थ— यत् = जब, जिस समय । देवा: = देवाताओं ने । यज्ञम् = यज्ञ (सृष्टि-उत्पत्ति रूप मानस यज्ञ) को । तन्वाना: = विस्तार करते हुए । पुरुषं पशुम् = पुरुषरूपी पशु को । अबध्नन् = बाँधा (ग्रहण किया) । अस्य = उस (यज्ञ पुरुष) की । सप्त = सात । परिधय: = परिधियाँ । आसन् = थीं । त्रि:सप्त = इक्कीस । समिध: = समिधाएँ । कृता: = की गयीं, बनायी गयीं ।

अनुवाद— जिस समय देवताओं ने यज्ञ (सृष्टि-उत्पत्ति रूप मानस यज्ञ) का विस्तार करते हुए पुरुषरूपी पशु को बाँधा (अर्थात् ग्रहण किया), (उस समय) उस (यज्ञ-पुरुष) की सात परिधियाँ थीं (और) इक्कीस समिधाएँ बनायी गयीं ।

व्याकरण—

१. तन्वाना: – √तन् + शानच्, प्रथमा, बहुवचन ।

२. अबध्नन् – √बन्ध् + लङ्, प्रथमपुरुष बहुवचन ।

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा-
स्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त
यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥१६॥

पदपाठ— यज्ञेन । यज्ञम् । अयजन्त । देवाः । तानि । धर्माणि । प्रथमानि । आसन् । ते । ह । नाकम् । महिमानः । सचन्त । यत्र । पूर्वे । साध्याः । सन्ति । देवाः ॥

सा० भा०— पूर्वं प्रपञ्चेनोक्तमर्थं संक्षिप्यात्र दर्शयति देवाः प्रजापतिप्राण-रूपाः यज्ञेन यथोक्तेन मानसेन सङ्कल्पेन यज्ञं यथोक्तयज्ञस्वरूपं प्रजापतिम् अयजन्त पूजितवन्तः । तस्मात् पूजनात् तानि प्रसिद्धानि धर्माणि जगद्रूपविकाराणां धारकाणि प्रथमानि मुख्यानि आसन् । एतावता सृष्टिप्रतिपादकसूक्तभागार्थः संगृहीतः । अथोपा-सनतत्फलानुवादकभागार्थः संगृह्यते । देवाः सन्ति तिष्ठन्ति तत् नाकं विराट्प्राप्तिरूपं स्वर्गं ते महिमानः तदुपासका महात्मानः सचन्त समवयन्ति प्राप्नुवन्ति ॥

अन्वय— देवाः यज्ञेन यज्ञम् अयजन्त, तानि धर्माणि प्रथमानि आसन् । ते महिमानः ह नाकं सचन्त, यत्र पूर्वे साध्याः देवाः सन्ति ।

पदार्थ— देवाः = देवताओं ने । यज्ञेन = (मानस) यज्ञ के द्वारा । यज्ञम् = यज्ञस्वरूप प्रजापति का । अजयन्त = यजन किया, पूजा की । तानि = वे । धर्माणि = धर्म, नियम, सृष्टि-उत्पत्ति के विधान । प्रथमानि = सबसे मुख्य । आसन् = थे, हुए । ते = वे । महिमानः = महिमाशाली (उपासक) । ह = निश्चित रूप से । नाकं = स्वर्ग को । सचन्त = प्राप्त करते हैं । यत्र = जहाँ पर । पूर्वे = पूर्वकालीन, प्राचीन । साध्याः देवाः = साध्य देव, सिद्धि को प्राप्त करने वाले देवता । सन्ति = रहते हैं, स्थित हैं ।

अनुवाद— देवताओं ने (उस मानस) यज्ञ के द्वारा (अथवा यज्ञ-पुरुष के द्वारा) यज्ञ-स्वरूप (प्रजापति) का यजन (पूजन) किया । वे धर्म (नियम या सृष्टि-उत्पत्ति के विधान) सबसे मुख्य हुए । वे महिमाशाली (उपासक) दिव्य स्वर्ग को प्राप्त करते हैं, जहाँ प्राचीन साध्य देव रहते हैं ।

व्याकरण—

१. अजयन्त – √यज् + लङ्, आत्मनेपद, प्रथमपुरुष बहुवचन ।
२. सचन्त – √सच् + लङ्, प्रथमपुरुष बहुवचन, वैदिक रूप; धातु के पूर्ववर्ती 'अ' का लोप हो गया है ।

अभ्यास -

(१) निम्नलिखित मन्त्रों का अनुवाद कीजिए-

(क) सहस्रशीर्षा पुरुषः .....(१)

(ख) एतावानस्य महिमातो .....(३)

(ग) तस्माद्विराडजायत ..... (५)

(घ) तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः..... (९)

(ङ) यज्ञेन यज्ञमजयन्त ..... (१६)

(२) व्याकरणात्मक टिप्पणियाँ लिखिए-

(क) विश्वा (ख) विराडजायत (ग) उच्यते

(३) पुरुषसूक्त का सारांश लिखिए।

(४) पुरुषसूक्त में निर्दिष्ट सृष्टिप्रक्रिया का विवेचन कीजिए

८.१ वाक्सूक्तम्

वेद-ऋग्वेद | मण्डल संख्या-१० | सूक्त संख्या-१२५
ऋषि-वाक् | देवता-वाक् अथवा परमात्मा | छन्द-त्रिष्टुप्, २ जगती

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चरा-
म्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः ।
अहं मित्रावरुणोभा विभ-
र्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥१॥

पदपाठ— अहम् । रुद्रेभिः । वसुऽभिः । चरामि । अहम् । आदित्यैः । उत । विश्वऽदेवैः । अहम् । मित्रावरुणा । उभा । विभर्मि । अहम् । इन्द्राग्नी इति । अहम् । अश्विना । उभा ॥

सा० भा०— अहं सूक्तस्य द्रष्ट्री वागाम्भृणी यम् ब्रह्म जगत्कारणं तद्रूपा भवन्ति रुद्रेभिः रुद्रैरेकादशभिः । इत्थंभावे तृतीया । तदात्मना चरामि । एवं वसुभिः इत्यादौ तत्तदात्मना चरामीति योज्यम् । तथा ब्रह्मीभूता विभर्मि धारयामि । इन्द्राग्नी अपि अहम् एव धारयामि । उभा उभौ अश्विना अश्विनावपि अहम् एव धारयामि । मयि हि सर्वं जगच्छुक्तौ रजतमिवाध्यस्तं सद् दृश्यते । माया च जगदाकारेण विवर्तते । तादृश्या मायया आधारत्वेनासङ्गस्यापि ब्रह्मण उक्तस्य सर्वस्योपत्तिः ॥

अन्वय— अहं रुद्रेभिः वसुभिः चरामि, अहं आदित्यैः उत् विश्वदेवैः (चरामि), अहं मित्रावरुणा उभा विभर्मि, अहम् इन्द्राग्नी अहम् उभा अश्विना (विभर्मि) ।

पदार्थ— अहम् = मैं (अम्भृण नामक महर्षि की पुत्री वाक्) । रुद्रेभिः = रुद्रों के साथ, या रुद्रों के रूप में । वसुभिः = वसुओं के साथ या 'वसुओं के रूप में । चरामि = विचरण करती हूँ, अहम् =मैं (ही) । आदित्यैः = आदित्यों के साथ या आदित्यों के रूप में । उत = और । विश्वदेवैः = विश्वदेवों के साथ या विश्व-देवों के रूप में । चरामि = चलती हूँ; विचरण करती हूँ । अहम् = मैं (ही) । मित्रा-वरुणा = मित्र और वरुण । उभा = दोनों को । बिभर्मि = धारण करती हूँ, भरण करती हूँ । अहम् = मैं (ही) । इन्द्राग्नी = इन्द्र और अग्नि को । अहम् = मैं (ही) । उभा = दोनों । अश्विना = अश्विनी कुमारों को ।

अनुवाद— मै (वाक्) रुद्रों और वसुओं के रूप में चलती हूँ (विचरण करती हूँ), मैं (ही) आदित्यों और विश्वदेवों के साथ (या-आदित्यों और विश्वदेवों के रूप में) (विचरण करती हूँ) मैं मित्र और वरुण दोनों को धारण करती हूँ । मैं (ही) इन्द्र और अग्नि को तथा मैं (ही) दोनों अश्विनोकुमारों को (धारण करती हूँ) ।

व्याकरण—

१. मित्रावरुणा – मित्रश्च वरुणश्च मित्रावरुणा, मित्रावरुणौ के स्थान पर वैदिक रूप ।
२. उभा– उभौ का वैदिक रूप ।
३. अश्विना – 'अश्विनौ' के स्थान पर वैदिक रूप अश्विना प्रयुक्त हुआ है ।
४. बिभर्मि – √भृ + लट्, उत्तमपुरुष एकवचन ।
५. रुद्रेभिः = रुद्र शब्द का तृतीया बहुवचन में वैदिक रूप, लौकिक संस्कृत में रुद्रैः रूप होता है ।

अहं सोममाहनसं बिभ-
र्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम् ।

अहं दधामि द्रविणं हविष्मते
सुप्राव्ये ३ यजमानाय सुन्वते ॥२॥

पदपाठ— अहम् । सोमम् । आहनसम् । बिभर्मि । अहम् । त्वष्टारम् । उत । पूषणम् । भगम्। अहम् । दधामि । द्रविणम् । हविष्मते । सुप्रऽअव्ये । यज-मानाय । सुन्वते ॥

सा० भा०— आहनसमाहन्तव्यमभिषीतव्यं सोमं यद्वा शत्रूणामाहन्तारं दिवि वर्तमानं देवतात्मानं सोममहमेव बिभर्मि । तथा त्वष्टारमुतापि पूषणं भगं चाहमेव बिभर्मि तथा हविष्मते हविर्भिर्युक्ताय सुप्राव्ये शोभनं हविर्देवानां प्रापयित्रे तर्पयित्रे । अवतेस्त-र्पणार्थात् 'अविस्तृस्तृतन्त्रिभ्य 'ई:' (उणा० ३.१५८) इतीकारप्रत्यय: । चतुर्थ्येकवचने यणि । 'उदात्तस्वरितयोर्यण: स्वरितोऽनुदात्तस्य' (पा० ८.२.४) इति सुप: स्वरितत्वम् । सुन्वते सोमाभिषवं कुर्वते । 'शतुरनुम:' (पा० ६.१.१७३) इति चतुर्थ्या उदात्तत्वम् । ईदृशाय यजमानाय द्रविणं धनं यागफलरूपमहमेव दधामि धारयामि । एतच्च ब्रह्मण: फलदातृत्वं "फलमत उपपत्ते:" (ब्र०सू० ३.३.३८) इत्यधिकरणे भगवता भाष्य-कारेण समर्थितम् ।

अन्वय— अहम् आहनसं सोमं बिभर्मि, अहं त्वष्टारं पूषणम् उत भगम्, (बिभर्मि) । अहं हविष्मते सुप्राव्ये सुन्वते यजमानाय द्रविणं दधामि ।

पदार्थ— अहम् = मैं । आहनसं = कूट कर निचोड़े गए या शत्रुसंहारक । सोमम् = सोम को । बिभर्मि = धारण करती हूँ । अहम् = मैं । त्वष्टारम् = त्वष्टा को । पूषणम् = पूषा को । उत = और । भगम् = भग को । अहं = मैं । हविष्मते = हवि देने वाले, हवि से युक्त । सुप्राव्ये = उत्तम हवि से देवताओं को तृप्त करने वाले । सुन्वते = सोम का सवन करने वाले, सोम को पीसने वाले । यजमानाय = यजमान के लिए । द्रविणं = धन को । दधामि = धारण करती हूँ, प्रदान करती हूँ ।

अनुवाद— मैं कूट कर निचोड़े गए सोम को धारण करती हूँ । मैं (ही) त्वष्टा को, पूषा को और भग (नामक देवताओं) को (धारण करती हूँ) । मैं हवि देने वाले, उत्तम हवि से देवताओं को तृप्त करने वाले, सोम का सेवन करने वाले यजमान के लिये धन को धारण (प्रदान) करती हूँ ।

व्याकरण—

१. आहनसम् – आ + √हन् + असुन्;
२. हविष्मते – हविष् + मतुप् चतुर्थी, एकवचन ।
३. सुप्राव्ये – सु + प्र + अव् + ई, चतुर्थी, एकवचन ।
४. सुन्वते – √सु + श्नु + शतृ, चतुर्थी, एकवचन ।

अहं राष्ट्री सङ्गमनी वसूनां
चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् ।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा
भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम् ॥३॥

पदपाठ— अहम् । राष्ट्री । सम्ऽगमनी । वसूनाम् । चिकितुषी । प्रथमा । यज्ञियानाम् ॥ ताम् । मा । देवाः । वि । अदधुः । पुरुऽत्रा । भूरिऽस्थात्राम् । भूरि । आऽवेशयन्तीम् ॥

सा० भा०— अहं राष्ट्री । ईश्वरनामैतत् । सर्वस्य जगत ईश्वरी तथा वसूनां धनानां सङ्गमनी सङ्गमयित्र्युपासकानां प्रापयित्री । चिकितुषी यत् साक्षात् कर्त्तव्यं परं ब्रह्म तज्ज्ञा-तवती स्वात्मतया साक्षात्कृतवती । अत एव यज्ञियानां यज्ञार्हाणां प्रथमा मुख्या । या एवङ्गुणविशिष्टाहं तां मा भूरिस्थात्रां बहुभावेन प्रपञ्चचात्मनावतिष्ठमानां भूरि भूरीणि बहूनि भूतजातान्यावेशयन्तीं जीवभावेनात्मानं प्रवेशयन्तीमीदृशीं मां पुरुत्रा बहुषु देशेषु व्यदधुर्देवा विदधति कुर्वन्ति । उक्तप्रकारेण वैश्वरूप्येणावस्थानाद् यद्यत कुर्वन्ति तत्सर्वं

मामेव कुर्वन्तीत्यर्थः ।

अन्वय— अहं राष्ट्री वसूनां सङ्गमनी चिकितुषी यज्ञियानां प्रथमा तां भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम् मा देवाः पुरुत्रा व्यदधुः ।

पदार्थ— अहं = मैं । राष्ट्री = स्वामिनी । वसूनां = धनों को, सम्पत्तियों को । सङ्गमनी = देने या प्राप्त करने वाली । चिकितुषी = जानने वाली, ज्ञानवती, तत्त्वज्ञानी ब्रह्म का साक्षात्कार कराने वाली । यज्ञियानाम् = पूजनीयों में, पूज्यों में । प्रथमा = प्रमुख (हूँ) । ताम् = उस । भूरिस्थात्राम् = अनेक स्थानों में स्थित । भूर्यावेशयन्तीम् = अनेक प्राणियों में (अपना) प्रवेश करती हुई । मा = मुझको । देवाः = देवों ने । पुरुत्रा = अनेक स्थानों में । व्यदधुः = पृथक्-पृथक् (विविध रूप में) स्थापित किया ।

अनुवाद— मैं (सम्पूर्ण विश्व की) स्वामिनी हूँ, धनों को प्राप्त कराने वाली हूँ, ज्ञानवती, पूजनीयों में प्रमुख हूँ, अनेक स्थानों में स्थित और अनेक प्राणियों में (अपना) प्रवेश करती हुई मुझको देवों ने अनेक स्थानों में पृथक्-पृथक् (विविध रूपों में) स्थापित किया है ।

व्याकरण—

१. चिकितुषी – √कित् + क्वसु + ङीप्, प्रथमा एकवचन ।

२. भूर्यावेशयन्तीम् – भूरि + आ + √विश् (णिजन्त) + शतृ + ङीप्, द्वितीया एकवचन ।

३. व्यदधुः – वि + √धा + लुङ्, प्रथमपुरुष बहुवचन ।

मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति
यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम् ।
अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति
श्रुधि श्रुतं श्रद्धिवं ते वदामि ॥४॥

पदपाठ— मया । सः । अन्नम् । अत्ति । यः । विऽपश्यति । यः । प्राणिति । यः । ईम् । शृणोति । उक्तम् ॥ अमन्तवः । माम् । ते । उप । क्षियन्ति । श्रुधि । श्रुतम् । श्रद्धिऽवम् । ते । वदामि ॥

सा० भा०— योऽन्नमत्ति सः भोक्तृशक्तिरूपया मयैवान्नमत्ति । यश्च विपश्यति । आलोकयतीत्यर्थः । यश्च प्राणिति श्वासोच्छ्वासरूपव्यापारं करोति सोऽपि मयैव । यश्चोक्तं शृणोति । 'श्रु श्रवणे'। 'श्रुवः शृ च' (पा० ३.१.७४) इति श्नुप्रत्ययः । धातोः शृभावः । य ईदृशीमन्तर्यामिरूपेण स्थितां मां न जानन्ति ते अमन्तवोऽमन्यमाना अजा-नन्त उपक्षियन्ति उपक्षीणाः संसारेण हीनाः भवन्ति । मनेरौणादिकस्तुप्रत्ययः (उणा० १.७५) नञ्समासे व्यत्ययेनान्तोदात्तत्वम् । यद्वा, भावे तु प्रत्ययः । ततो बहुव्रीहौ 'नञ् सुभ्याम्' (पा० ६.२.१७२) इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् । माममन्तवो मद्विषयज्ञान- रहिता इत्यर्थः । हे श्रुत विश्रुत सखे । श्रुधि । मया वक्ष्यमाणं शृणु । छन्दसि विकरणस्य लुक् । 'श्रशृणुपृकृवृभ्याः' (पा० ६.४१२) इति हेर्विभावः । किं तच्छ्रोतव्यम् । श्रद्धिवम् । श्रद्धिः श्रद्धा । तयाः युक्तम् श्रद्धायत्नेन लभ्यमित्यर्थः । 'श्रदन्तरोरुपसर्गवद्वृत्तिरि-ष्यते' (पा० १.४.५७ वा-२) इति श्रच्छब्दस्योपसर्गबद्वर्तमानत्वात् उपसर्गे घोः किः (पा० ३.३.९२) इति किप्रत्ययः । मत्वर्थीयो वः । ईदृशं ब्रह्मात्मकं वस्तु ते तुभ्यं वदामि उपदिशामि ।

अन्वय— यः अन्नम् अत्ति, यः विपश्यति, यः प्राणिति, यः इम् उक्तम् शृणोति, सः मया माम् अमन्तवः ते उपक्षियन्ति, श्रुतं श्रुधि, ते श्रद्धिवं वदामि ।

पदार्थ— यः = जो । अन्नम् = अन्न को । अत्ति = खाता है । यः = जो । विपश्यति = देखता है । यः = जो । प्राणिति = साँस लेता है । यःइम् = और जो । उक्तम् = कही हुई (बात) को । शृणोति = सुनता है । सः = वह । मया = मेरे द्वारा । माम् = मुझे । अमन्तवः = न मानने वाले, न विश्वास करने वाले । ते = वे । उपक्षियन्ति = विनष्ट हो जाते हैं । श्रुत = हे विद्वन्!। श्रुधि = सुनो । ते = तुम्हें । श्रद्धिवं

= श्रद्धा (विश्वास) के योग्य (बात)। वदामि = बतलाती हूँ।

अनुवाद— जो अन्न खाता है, जो देखता है, साँस लेता है और जो कही हुई (बात) को सुनता है, वह मेरे द्वारा (अर्थात् मेरे कारण) (ही वैसा करने में समर्थ होता है)। मुझे न मानने वाले (जो लोग हैं) वे विनष्ट हो जाते हैं। हे विद्वन्! सुनो, (मैं) तुम्हें श्रद्धा (विश्वास) के योग्य (बात) बतलाती हूँ।

व्याकरण—

१. अत्ति – √(अद्), लट् प्रथमपुरुष एकवचन।
२. विपश्यति – वि √दृश् – लट् प्रथमपुरुष एकवचन।
३. प्राणिति – √प्र + अन्, लट् प्रथमपुरुष एकवचन, ।
४. शृणोति – √श्रु लट्, प्रथमपुरुष एकवचन।
५. उपक्षियन्ति – उप + √क्षि (क्षीण होना) + लट् प्रथमपुरुष बहुवचन।
६. श्रुधि – √श्रु (सुनना) + लोट्, मध्यमपुरुष एकवचन, शृणु का वैदिक रूप।
७. अमन्तवः = अ (नञ्) + √मन् + तुः, प्रथमा बहुवचन।

अहमेव स्वयमिदं वदामि
जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तन्तमुग्रं कृणोमि
तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥५॥

पदपाठ— अहम् । एव । स्वयम् । इदम् । वदामि । जुष्टम् । देवेभिः । उत । मानुषेभिः ॥ यम् । कामये । तम्ऽतम् । उग्रम् । कृणोमि । तम् । ब्रह्माणम् । तम् । ऋषिम् । तम् । सुऽमेधाम् ॥

सा० भा०— अहं स्वयमेवेदं वस्तु ब्रह्मात्मकं वदामि उपदिशामि। देवेभिः दैवेरिन्द्रादिभिरपि जुष्टं सेवितमुतापि च मानुषीभिः मनुष्यैरपि जुष्टम्। ईदृग्वस्त्वात्मि-काहं यं कामये यं पुरुषं रक्षितुमहं वाञ्छामि तं तं पुरुषमुग्रं कृणोमि सर्वेभ्योऽधिकं करोमि। तमेव ब्रह्माणं स्रष्टारं करोमि। तमेव ऋषिमतीन्द्रियदर्शिनं करोमि तमेव सुमेधां शोधनप्रज्ञं च करोमि।

अन्वय— अहम् एव स्वयं देवेभिः उत मानुषेभिः जुष्टम् इदं वदामि। यं कामये तं तम् उग्रं कणोमि। तम् ब्रह्माणं तम् ऋषिं तं सुमेधाम् (कृणोमि)।

पदार्थ— अहम् = मैं। एव = ही। स्वयम् = स्वयम्। देवेभिः = देवों के द्वारा। उत = और। मानुषेभिः = मनुष्यों के द्वारा। जुष्टं = सेवित। इदम् = यह (बात)। वदामि = कहती हूँ। यम् = जिसको। कामये = चाहती हूँ। तं तं = उस-उसको। उग्रं = उन्नत या उत्कृष्ट। कृणोमि = करती हूँ, बनाती हूँ। तम् = उसे। ब्रह्माणं = ब्रह्मतेज से युक्त, ब्रह्मा। तम् = उसे। ऋषिम् = ऋषि, मन्त्रद्रष्टा। तम् = उसे। सुमेधाम् = अच्छी मेधा से युक्त, सुन्दर प्रज्ञा वाला, मेधावी।

अनुवाद— मैं ही स्वयं देवों और मनुष्यों के द्वारा सेवित (मनुष्यों और देवताओं की प्रिय) यह (बात) कहती हूँ, मैं जिसको चाहती हूँ, उसको-उसको उन्नत (उत्कृष्ट) करती हूँ (बनाती हूँ), उसे ब्रह्मतेज से युक्त (ब्रह्मा) (बनाती हूँ) उसे ऋषि (मन्त्रद्रष्टा) (बनाती हूँ), उसे अच्छी मेधा (सुन्दर प्रज्ञा) से युक्त बनाती हूँ।

व्याकरण—

१. जुष्टम् – √जुष् + क्त, द्वितीया एकवचन।
२. कृणोमि – √कृ + लट्, उत्तमपुरुष एकवचन; 'करोमि' का वैदिक रूप।
३. सुमेधाम् – शोभना मेधा यस्य तम् (बहुव्रीहि)।
४. देवेभिः मानुषेभिः – तृतीया बहुवचन में 'देवैः' और 'मानुषैः' के वैदिक रूप।

५. कामये – √कम् (चाहना), लट् आत्मनेपद उत्तमपुरुष एकवचन।

अहं रुद्राय धनुरा तनोमि
ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।
अहं जनाय समदं कृणो-
म्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश ॥६॥

पदपाठ— अहम्। रुद्राय। धनुः। आ। तनोमि। ब्रह्मऽद्विषे। शरवे। हन्तवै। ऊँ इति॥ अहम्। जनाय। समऽमदम् कृणोमि। अहम्। द्यावापृथिवी इति। आ। विवेश॥

सा० भा०— पुरा त्रिपुरविजयसमये रुद्राय रुद्रस्य। षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। महादेवस्य धनुश्चापमहमातनोमि। ज्ययाततं करोमि। किमर्थम्। ब्रह्मद्विषे ब्राह्मणानां द्वेष्टारं शरवे शरुं हिंसकं त्रिपुरनिवासिनमसुरं हन्तवे हन्तुं हिंसितुम्। हन्तेः 'तुमर्थे सेसेन्' (पा० ३.४.९) इति तवैप्रत्ययः। 'अन्तश्च तवै युगपत्' (वा० ६.१.२००) इत्याद्य-न्तयोर्युगपदुदात्तत्वम्। 'शृ हिंसायाम्' इत्यस्मात् 'शृस्वस्निहि' इत्यादिना उप्रत्ययः। 'क्रियाग्रहणं कर्त्तव्यम्' इति कर्मणः सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी। उशब्दः पूरकः। अहमेव समदम्। समानं माद्यन्त्यस्मिन्निति समत् सङ्ग्रामाः स्तोतृजनार्थं शत्रुभिः सह सङ्ग्राम-महमेव कृणोमि करोमि। तथा द्यावापृथिवीं दिवं च पृथिवीं चान्तर्यातितयाहमेवाविवेश प्रविष्टवती।

अन्वय— ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवै उ अहं रुद्राय धनुः आ तनोमि। अहं जनाय समदं कृणोमि। अहं द्यावापृथिवी आ विवेश।

पदार्थ— ब्रह्मद्विषे = ब्रह्मद्वेषी, ब्राह्मण या वेद से द्वेष रखने वाले। शरवे = हिंसा करने वाले को, हिंसक को। हन्तवै = मारने के लिए। उ = निश्चयार्थक निपात। अहम् = मैं। रुद्राय = रुद्र के लिए। धनुः = धनुष को। आ तनोमि = तान देती हूँ, खींचती हूँ। अहम् = मैं। द्यावापृथ्विी = द्युलोक और पृथिवीलोक में। आ विवेश = समाई हुई हूँ, प्रविष्ट हुई हूँ, व्याप्त हूँ।

अनुवाद— ब्रह्मविद्वेषी हिंसक को मारने के लिए मैं निश्चय ही रुद्र के लिए (रुद्र के) धनुष को तान देती हूँ। मैं मनुष्यों के लिए संग्राम (युद्ध) करती हूँ। मैं द्युलोक और पृथिवीलोक में समायी हुई हूँ।

व्याकरण—

१. तनोमि – √तन् (फैलना) + लट्, उत्तमपुरुष एकवचन।
२. शरवे – √शृ (हिंसा करना) + उः = शरुः, चतुर्थी, एकवचन।
३. हन्तवै – √हन् + तुमुन् प्रत्यय के अर्थ में वैदिक 'तवै' प्रत्यय।
४. कृणोमि – √कृ + लट्, उत्तमपुरुष एकवचन। 'करोमि' का वैदिक रूप।
५. विवेश – वि + √विश् + लिट्, उत्तमपुरुष एकवचन।

अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्
मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे।
ततो वि तिष्ठे भुवनानु विश्वो-
तामूं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि ॥७॥

पदपाठ— अहम्। सुवे। पितरम्। अस्य। मूर्धन्। मम। योनिः। अप्ऽसु। अन्तरिति। समुद्रे। ततः। वि। तिष्ठे। भुवना। अनु। विश्वा। उत। अमूम्। द्याम्। वर्ष्मणा। उप। स्पृशामि॥

सा० भा०— "द्यौः पिता" (तै०ब्रा० ३.७.५.४) इति श्रुतेः, पिता द्यौः। पितरं एवमहं सुवे प्रसुवे

जनयामि। "आत्मान आकाशसम्भूतः" (तै०आ० ८.१) इति श्रुतेः। कुत्रेति तदाह। अस्य परमात्मनो मूर्धन् मूर्धन्युपरि। कारणभूतम्। तस्मिन् हि वियदादिकार्यजातं सर्वं वर्तते: तन्तुषु पट इव। मम च योनिः कारणं समुद्रे। समुद्-द्रवन्त्यस्माद् भूतजातानीति समुद्रः परमात्मा तस्मिन्। अप्सु व्यापनशीलासु धीवृत्तिष्वन्तर्मध्ये यद् ब्रह्म चैतन्यं तन्मम कारणमित्यर्थः। यत इदृग्भूताहमस्मि ततो विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतजातान्यनुप्रविश्य वितिष्ठे। विविधं व्याप्य तिष्ठामि। 'समवप्रविभ्यः स्थः' (पा० १.३.२२) इत्यात्मनेपदम्। उतापि चामूं द्यां विप्रकृष्टदेशे-ऽवस्थितं स्वर्गलोकम्। उपलक्षणमेतत्। एतदुपलक्षितं कृत्स्नं विकारजातं वर्ष्मणा कारणभूतेन मायात्मकेन मदीयेन देहेन उप स्पृशामि। यद्वा, अस्य भूतस्य (भूलोकस्य) मूर्धन् मूर्धन्युपर्यहं पितरमाकाशं सुवे। समुद्रे जलधावप्सूदकेष्वन्तर्मध्ये मम योनिः कारणभूतोऽम्भृणाख्य ऋषिवर्तते। यद्वा समुद्रेऽन्तरिक्षेऽप्स्वप्मयेषु देवशरीरेषु मम कारणभूतं ब्रह्म चैतन्यं वर्तते। ततोऽहं कारणात्मिका सतो सर्वाणि भूवनानि व्याप्नोमि। अन्यत् समानम्॥

अन्वय— अहं अस्य मूर्धन् पितरं सुवे, मम योनिः समुद्रे अप्सु अन्तः। ततः विश्वा भुवना अनु वितिष्ठते उत वर्ष्मणा अमूं द्याम् उप स्पृशामि।

पदार्थ— अहम् = मैं। अस्य मूर्धन् = इस (भूलोक) के सिर के ऊपर। पितरं सुवे = द्युलोक को उत्पन्न करती हूँ। मम योनिः = मेरा उत्पत्ति-स्थान। समुद्रे = समुद्र में। अप्सु अन्तः = जलों के भीतर। ततः = वहाँ से। विश्वा भुवना अनु = सब लोकों में। वितिष्ठे = अनेक रूपों में स्थित हो जाती हूँ। उत = और। वर्ष्मणा = सिर से! अमूं द्याम् = उस द्युलोक को। उप स्पृशामि = स्पर्श करती हूँ।

अनुवाद— मैं इस (भूलोक) के शीर्ष (सिर) के ऊपर (पिता के समान रक्षा करने वाले) द्युलोक को उत्पन्न करती हूँ। मेरा उत्पत्ति-स्थान समुद्र में जलों के भीतर है। वहाँ से सब लोकों में अनेक (विविध) रूपों में स्थित हो जाती हूँ और शीर्षभाग (सिर) से उस द्युलोक को स्पर्श करती हूँ। (अर्थात् नीचे से लेकर ऊपर तक सर्वत्र व्याप्त हो जाती हूँ)।

व्याकरण—

१. सुवे – √सु (उत्पन्न करना) + लट्, आत्मनेपद उत्तमपुरुष एकवचन वैदिक रूप।
२. मूर्धन् – 'मूर्ध्नि' का वैदिक रूप, सप्तमी एकवचन।
३. वितिष्ठे – वि + √स्था + लट्, आत्मनेपद उत्तमपुरुष एकवचन।
४. विश्वा, भुवना – नपुंसकलिंग बहुवचन, वैदिक रूप। लौकिक संस्कृत में 'विश्वानि' भुवनानि' रूप होते हैं।

अहमेव वात इव प्र वाम्या-
रभमाणा भुवनानि विश्वा।
परो दिवा पर एना पृथिव्यै-
तावती महिना सं बभूव ॥८॥

पदपाठ— अहम्। एव। वातःऽइव। प्र। वामि। आऽरभमाणा। भुवनानि। विश्वा॥ परः। दिवा। परः। एना। पृथिव्या। एतावती। महिना। सम्। बभूव॥

सा०भा०— विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि कार्याणि आरभमाणा कारणरूपेणोत्पादयन्ती अहमेव परेणानधिष्ठिता स्वयमेव प्रवामि। प्रवर्ते। वात इव। यथा वातः परेणाप्रेरितः सन् स्वेच्छयैव प्रवाति तद्वत्। उक्तं सर्वं निगमयति। परो दिवा। पर इति सकारान्तं परस्तादित्यर्थे वर्तते तथा अध इति अधस्तादित्यर्थे। तद्योगे च तृतीया सर्वत्र दृश्यते। दिवा आकाशस्य परस्तात्। एना पृथिव्या। 'द्वितीया-टोस्वेनः' (पा० २.४.३४) इतीदम् एनादेशः 'सुपां सुलुक्' ..., (पा० ७.१.३९) इति तृतीयाया अजादेशः। अस्याः पृथिव्याः परः परस्तात्। द्यावापृथिव्योरुपादानमुपलक्षणम्। एतदुपलक्षितात् सर्वस्माद् विकारजातात् परस्ताद् वर्तमानासङ्गोदासीनकूटस्थब्रह्म- चैतन्यरूपाहं महिना महिम्ना एतावती सम्बभूव। एतच्छब्देनोक्तं सर्वं परामृश्यते। एतत्परिमाणमस्याः। 'यतदेतेभ्यः परिमाणे'– (पा० ५.२.३९) इति वतुप्। 'आ सर्व-नाम्नः' (पा० ६.३.९१) इत्यात्वम्। सर्वजगदात्मनाहं सम्भूतास्मि।

महच्छब्दादि-मनिचि 'टेः' (पा० ६.४.१५५) इति टिलोपः। ततस्तृतीयाद्युदात्तनिवृत्तिस्वरेण तस्या उदात्तत्वम् (पा० ६.१.१६८)। छान्दसो भलोपः॥

अन्वय— विश्वा भुवनानि आरभमाणा अहं एव वातः इव प्रवामि। दिवा परः एना पृथिव्याः परः महिना एतावती सम्बभूव।

पदार्थ— विश्वा भुवनानि = सम्पूर्ण लोकों को। आरभमाणाः = आरम्भ (उत्पन्न) करती हुई। अहं = मैं। एव = ही। वातःइव = वायु के समान। प्रवामि = प्रवाहित होती हूँ। दिवा परः = द्युलोक से परे। एना = इस। पृथिव्याः = पृथिवीलोक से परे। महिना = महिमा से। एतावती = इतनी। सम्बभूव = हो गयी हूँ।

अनुवाद— सम्पूर्ण लोकों को आरम्भ (उत्पन्न) करती हुई मैं ही वायु के समान प्रवाहित होती हूँ (सर्वत्र विचरण करती हूँ)। मैं द्युलोक से परे (अथवा) (बढ़कर) तथा इस पृथिवी लोक से (भी परे) (अथवा बढ़कर) हूँ। मैं अपनी महिमा से इतनी (विशाल, बड़े परिमाण वाली) हो गयी हूँ।

व्याकरण—

१. आरभमाणा – आ + √रभ् + शानच् + टाप्, प्रथमा एकवचन।
२. प्रवामि – प्र + √वा + लट्, उत्तमपुरुष एकवचन।
३. विश्वा – नपुंसकलिङ्ग द्वितीया बहुवचन में विश्वानि का वैदिक रूप।
४. एना – 'अदस्' शब्द के तृतीया एकवचन का वैदिक रूप।
५. महिना – 'महिमन्' के तृतीया एकवचन का वैदिक रूप। लौकिक संस्कृत में महिम्ना रूप बनता है।
६. सं बभूव = सम् + √भू + लिट्, उत्तमपुरुष एकवचन।

अभ्यास -

(१) निम्नलिखित मन्त्रों का अनुवाद कीजिए-
  (क) अहं रुद्रेभिर्वसुभि ..... (१)
  (ख) अहं राष्ट्री संगमनी.....(३)
  (ग) अहं रुद्राय धनुरातनोमि (६)
(२) निम्नलिखित पर व्याकरणात्मक टिप्पणियाँ लिखिए-
  (क) देवेभिः (ख) कृणोमि (ग) हन्तवै (घ) मानुषेभिः (ङ) महिना
(३) वाक्सूक्त की महत्ता प्रतिपादित कीजिए।
(४) वाक्सूक्त का सारांश लिखिए।

८.२ शिवसङ्कल्पसूक्तम्

वेद–शुक्ल-यजुर्वेद अध्याय संख्या–३४ सूक्त संख्या–१-६

ऋषि–आदित्य याज्ञवल्क्य देवता–मनस् छन्द–त्रिष्टुप्

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं
तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥१॥

पदपाठ— यत् । जाग्रतः । दूरम् । उदैतीत्युत् - ऐति । दैवम् । तत् । ॐऽइत्यूँ । सुप्तस्य । तथा । एव । एति ॥ दूरङ्गममिति दूरम् - गमम् । ज्योतिषाम् । ज्योतिः । एकम् । तत् । मे । मनः । शिवसङ्कल्पमिति शिव-संङ्कल्पम् । अस्तु ॥

महीधरभाष्य— ऋषिर्वदति । तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु शिवः कल्याणकारी धर्मविषयः सङ्कल्पो यस्य तत् तादृशं भवतु । मन्मनसि सदा धर्म एव भवतु न कदा-चित्पापमित्यर्थः । तत्किम् । यत् मनो जाग्रतः पुरुषस्य दूरमुदैति उद्गच्छति चक्षुराद्य-पेक्षया मनो दूरगामीत्यर्थः । यच्च दैवं दीव्यति प्रकाशते देवो विज्ञानात्मा तत्र भवं दैवमात्मग्राहकमित्यर्थः । मनसैव द्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुवम्' इति श्रुतेः । तत् उ । यदः स्थाने तच्छब्दः उकारश्चार्थः । यच्च मनः सुप्तस्य पुंसः तथैव इति यथा गतं तथैव पुनरागच्छति स्वापकाले सुषुवस्थायां पुनरागच्छति । यच्च दूरङ्गमं दूरात् । गच्छतीति दूरङ्गमम् खश्प्रत्ययः । अतीतानागतवर्तमानविप्रकृष्टव्यवहितपदार्थानां ग्राहकमित्यर्थः । यच्च मनो ज्योतिषां प्रकाशकानां श्रोत्रादीन्द्रियाणामेकमेव ज्योतिः प्रकाशकं प्रवर्तक-मित्यर्थः । प्रवर्तितान्येव श्रोत्रादीन्द्रियाणि स्वविषये प्रवर्तन्ते । आत्मा मनसा संयुज्यते मनः इन्द्रियेणेन्द्रियमर्थेनेति न्यायोक्तेर्मनः सम्बन्धमन्तरा तेषामप्रवृत्तेः । तादृशं मे मनः शान्तसङ्कल्पमस्तु ।

अन्वय— जाग्रतः यत् दैवं (मनः) दूरम् उत् एति, सुप्तस्य तत् उ तथा एव एति । दूरङ्गमं ज्योतिषाम् एकः ज्योतिः मे तत् मनः शिवसङ्कल्पम् अस्तु ।

पदार्थ— जाग्रतः = जागते हुए का । यत् = जो । देवम् = दिव्य, प्रकाशवान्, आत्मदर्शन करने वाला । मनः = मन । दूरम् = दूर । सुप्तस्य = सोते हुए का । तत् = वह (मन) । उ = ही । तथा एव = उसी प्रकार से । एति = (वापस) आता है । दूरङ्गमम् = दूरगामी, दूर जाने वाला । ज्योतिषाम् = ज्योतियों में, ज्ञानेन्द्रियों में । एकम् = अद्वितीय । ज्योतिः = प्रकाश रूप । मे = मेरा । तत् मनः = वह मन । शिवसङ्कल्पम् = शुभ सङ्कल्पों वाला । अस्तु = हो जाय ।

अनुवाद— जागते हुए (पुरुष) का जो दिव्य (अर्थात् दैवी शक्ति से युक्त) (मन) दूर चला जाता है; सोते हुए (पुरुष) का वही (मन) उसी प्रकार से आ जाता है; दूरगामी (तथा) ज्योतियों में अद्वितीय ज्योति-स्वरूप वह मेरा मन शुभ संकल्पों वाला हो जाय ।

व्याकरण—

१. जाग्रतः – √जागृ (जागने अर्थमें) + षष्ठी एकवचन ।
२. उदैति – उत् + √इण् (जाना अर्थ में) + लट्, प्रथमपुरुष एकवचन ।
३. दैवम् – देव + अण् प्रथमा एकवचन।
४. दूरङ्गमम् – दूरं गच्छतीति । दूर + गम् + खश् प्रत्यय 'मुम् आगम ।

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो
यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः ।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां

तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥२॥

पदपाठ— येन । कर्माणि । अपसः । मनीषिणः । यज्ञे । कृण्वन्ति । विदथेषु । धीराः ॥ यत् । अपूर्वम् । यक्षम् । अन्तरित्यन्तः । प्रजानामिति प्र - जानाम् । तत् । मे । मनः । शिवसङ्कल्पमिति शिव - सङ्कल्पम् । अस्तु ॥

म० भा०— मनीषिणः मेधाविनः यज्ञे येन मनसा सता कर्माणि कृण्वन्ति कुर्वन्ति 'कृ करणे' स्वादिः । मनः स्वास्थ्यं विना कर्माप्रवृत्तेः । वेदेषु सत्सु । विदथेषु सत्सु विद्यन्ते ज्ञायन्ते तानि विदथानि तेषु । वेत्तेरौणादिकोऽथप्रत्ययः प्रत्ययोदात्तत्वेन मध्योदात्तं पदम् 'प्रत्ययः परश्च आद्युदात्तश्च' (पा०सू० ३.१.१-३) इति पाणि-न्युक्तेः यज्ञसंबन्धिनां हविरादिपदार्थानां ज्ञानेषु सत्स्वित्यर्थः । कीदृशा मनीषिणः । अपसः अप इति कर्मनाम (निघ० २.१.१) । अपो विद्यते येषां ते अपस्विनः कर्मवन्तः 'अस्मायामेधास्रजो विनिः' (पा०सू० ५.२.१२१) इति विन्प्रत्ययः 'विन्मतोर्लुक्' इतीष्ठाभावेऽपि छन्दसो विनो लुक् (पा०सू० ५.३.६५) । सदा कर्मनिष्ठा इत्यर्थः । तथा धीराः धीमन्तः धीर्विद्यते येषां से धीराः कर्मण्यण् (पा०सू० ३.२.१) । यच्च मनः अपूर्वम् न विद्यते पूर्वमिन्द्रियं यस्मात्तदपूर्वम् इन्द्रियेभ्यः पूर्वं मनसः सृष्टेः । यद्वा अपूर्वमनपरमबाह्यमित्युक्तेरपूर्वमात्मरूपमित्यर्थः । यच्च यक्षं यष्टुं शक्तं यज्ञम् । यजते-रौणादिकः सन्प्रत्ययः 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (पा०सू० ६.१.१७) इत्याद्युदात्तं पदम् । यच्च प्रजायन्ते इति प्रजास्तासां प्राणिमात्राणामन्तः शरीरमध्ये आस्ते इतरेन्द्रियाणि बहिःष्ठानि मनस्त्वन्तरिन्द्रियमित्यर्थः । तत् तादृशं मे मनः शिवसङ्कल्पमस्त्विति व्याख्यातम् ।

अन्वय— येन अपसः मनीषिणः धीराः यज्ञे विदथेषु कर्माणि कृण्वन्ति यत् प्रजानाम् अन्तः अपूर्वं यक्षं, तत् मे मनः शिवसङ्कल्पम् अस्तु ।

पदार्थ— येन = जिसके द्वारा । अपसः = कर्मनिष्ठ । मनीषिणः = मनीषी लोग, मेधावी लोग । धीराः = धीर लोग । यज्ञे = यज्ञ में । विदथेषु = यज्ञ के विधिविधानों में, यज्ञ सम्बन्धी ज्ञानों में । कर्माणि कृण्वन्ति = कर्म करते हैं । यत् = जो । प्रजानाम् = प्रजाओं के, प्राणियों के । अन्तः = अन्तर्भाग में । अपूर्वम् = अपूर्व, सर्वप्रथम, सर्वप्रधान । यक्षम् = पूज्य ..... ।

अनुवाद— जिसके द्वारा कर्मनिष्ठ, मेधावी (तथा) धीर लोग यज्ञ में (एवं) यज्ञ के विधि-विधानों में कर्म करते हैं, जो प्रजाओं के अन्तर्भाग में सर्वप्रथम पूज्य है, वह मेरा मन शुभसङ्कल्पों वाला हो जाय ।

व्याकरण—

१. कर्माणि – कर्म द्वितीया बहुवचन ।
२. कृण्वन्ति – √कृ + लट् प्रथमपुरुष बहुवचन, कुर्वन्ति का वैदिक रूप ।
३. अपसः – अपस् + विन् ।
४. यज्ञम् – √यज् + घञ् । महीधर के अनुसार – √यज् + औणादिक् सन् प्रत्यय ।

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च
यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु ।
यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥३॥

पदपाठ— यत् । प्रज्ञानमिति प्र - ज्ञानम् । उत । चेतः । धृतिः । च । यत् । ज्योतिः । अन्तः । अमृतम् । प्रजास्विति प्र - जासु ॥ यस्मात् । न । ऋते । किम् । चन । कर्म । क्रियते । तत् । मे । मनः । शिवसङ्कल्पमिति शिव - सङ्कल्पम् । अस्तु ॥३॥

म० भा०— यत् मनः प्रज्ञानं विशेषेण ज्ञानजनकम् प्रकर्षेण ज्ञायते येन तत् प्रज्ञानम् । 'करणाधिकरणयोश्च' पा०सू० ३.३.११७) इति करणे ल्युट्प्रत्ययः । उत अपि यत् मनः चेतः चेतयति सम्यक् ज्ञापयति तच्चेतः । 'चिती संज्ञाने' अस्मात् ण्यन्तादसुन्प्रत्ययः । सामान्यविशेषज्ञानजनकमित्यर्थः । यच्च मनो धृतिर्धैर्यरूपम् । मन-स्येव धैर्योत्पत्तेर्मनसि धैर्यमुपर्यते कार्यकारणयोरभेदात् । यच्च मनः प्रजासु जनेषु अन्तः-वर्तमानं सत् ज्योतिः प्रकाशकं सर्वेन्द्रियाणाम् । उक्तमपि पुनरुच्यते आदरार्थम् । 'अभ्यासे भूयांसमर्थं

मन्यन्ते' (निरु० १०.२८) इति यास्कोक्तेः। यच्चामृतममरणधर्मि आत्मरूप-त्वात्। यस्मान्मनसः ऋते यन्मनो विना किञ्चन किमपि कर्म न क्रियते जनैः। तर्वकर्मसु प्राणिनां मनः पूर्वं प्रवृत्तेर्मनःस्वास्थ्यंविना कर्माभावादित्यर्थः। 'अन्यारादितरर्ते' (पा०सू० २.२.२९) इत्यादिना यस्यदिति ऋतेयोगे पञ्चमी। तन्मे मन इति व्याख्यातम्।

अन्वय— यत् प्रज्ञानम् उत चेतः धृतिः च यत् प्रजासु अन्तः अमृतं ज्योतिः। यस्मात् ऋते किञ्चन कर्म न क्रियते, तत् मे मनः शिवसङ्कल्पम् अस्तु।

पदार्थ— यत् = जो। प्रज्ञानम् = उत्कृष्ट ज्ञान का जनक, विशेषज्ञान का जनक। उत = और। चेतः = अपकृष्ट ज्ञान का जनक, सामान्य ज्ञान का जनक। धृतिः = धैर्य का आधार-स्वरूप, धैर्य। प्रजासु = प्राणियों में। अन्तः = वर्तमान, स्थित, (अन्तःकरण में)। अमृतम् = अमर,अमृतस्वरूप। ज्योतिः = प्रकाश। यस्मात् ऋते = जिसके बिना। किञ्चन कर्म न क्रियते = कोई कर्म नहीं किया जाता।.....!

अनुवाद— जो उत्कृष्ट ज्ञान का जनक है तथा (जो) अपकृष्ट (सामान्य) ज्ञान का जनक है; (जो) धैर्य का आधार-स्वरूप, प्राणियों के अन्तः (करण) में (विद्यमान) अमृत ज्योति (स्वरूप) है; जिसके बिना कोई (भी) कर्म नहीं किया जाता; वह मेरा मन शुभसङ्कल्पों वाला हो जाय।

व्याकरण—

१. प्रज्ञानम् – प्रकर्षेण ज्ञायते येन तत् प्रज्ञानम्। प्र + √ज्ञा + ल्युट् (अन्)।

२. चेतः – √चिती (संज्ञाने) + णिच् + असुन् प्रत्यय।

३. धृतिः – √धृ + क्तिन्।

४. क्रियते – √कृ + यक् + कर्मवाच्य लट्, प्रथमपुरुष एकवचन।

येनेदं भूतं भुवनं भविष्य-
त्परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥४॥

पदपाठ— येनं। इदम्। भूतम्। भूवनम्। भविष्यत्। परिगृहीतमिति परि- गृहीतम्। अमृतेन। सर्वम्॥ येनं। यज्ञः। तायते। सप्तहोतेति सप्त-होता। तत्। मे। मनः। शिवसङ्कल्पमिति शिव-संङ्कल्पम्। अस्तु॥

म० भा०— येन मनसा इदं सर्वे परिगृहीतम् परितः सर्वतो ज्ञातम्। इदं किं-भूतम्। भूतकालसंबन्धि वस्तु। भुवनं भवतीति भुवनम्। भवतेः क्युप्रत्ययः वर्तमान-कालसंबन्धि। भविष्यत् 'लृटः सद्वा' (पा०सू० ३.३.१४) इति शतृप्रत्ययः 'तौ सत्' (पा०सू० ३.२.१२७) इत्युक्तेः त्रिकालसंबद्धवस्तुषु मनः प्रवर्तत इत्यर्थः। श्रोत्रादीनि तु प्रत्यक्षमेव गृह्णन्ति। कीदृशेन येन। अमृतेन शाश्वतेन। मुक्तिपर्यन्तं श्रोत्रादीनि नश्यान्त मनस्त्वनश्वरमित्यर्थः। येन च मनसा यज्ञोऽग्निष्टोमादिः तायते विस्तार्यते। 'तनोतेर्यकि' (पा०सू० ६.४.४४) इत्याकारः। कीदृशी यज्ञः। सप्तहोता सप्तहोतारो देवानामाह्वातारो होतृमैत्रावरुणादयो यत्र स सप्तहोता। अग्निष्टोमे सप्तहोतारो भवन्ति। तन्मे मन इति व्याख्यातम्।

अन्वय— येन अमृतेन (मनसा) इदं भूतं भुवनं भविष्यत् सर्वं परिगृहीतम्। येन सप्तहोता यज्ञः तायते तत् मे मनः शिवसङ्कल्पम् अस्तु।

पदार्थ— येन अमृतेन = जिस शाश्वत् के द्वारा, जिस अविनाशी के द्वारा। भूतम् = भूतकालीन। भुवनम् = वर्तमानकालीन। भविष्यत् = भविष्यत्कालीन। सर्वम् = सब कुछ। परिगृहीतम् = भली-भाँति ग्रहण किया गया है, ज्ञात किया जाता है। येन = जिसके द्वारा। सप्तहोता = सात होताओं वाला। यज्ञः = यज्ञ। तायते = सम्पादित किया जाता है .....।

अनुवाद— जिस शाश्वत् (मन) के द्वारा भूतकालीन, वर्तमानकालीन एवं भविष्य-त्कालीन सब कुछ भली-भाँति ज्ञात किया जाता है, जिसके द्वारा सात होताओं (होतृ, पोतृ, मैत्रावरुण, ग्रावस्तुत,

ब्राह्मणाच्छंदसी, अच्छावाक्, अग्नीद) से युक्त यज्ञ सम्पादित किया जाता है, वह मेरा मन शुभ सङ्कल्पों वाला हो जाय।

व्याकरण—

१. भुवनम् – √भू + क्युः (अन्)।
२. तायते – √तन् +यक् + लट्, प्रथमपुरुष।
३. भविष्यत् – √भू + लृटः शतृ।
४. सप्तहोता – सप्त होतारो यस्मिन् सः सप्तहोता। सात होता ये हैं – होतृ, पोतृ, मैत्रावरुण, ग्राववरुण, ब्राह्मणाच्छंदसी, अच्छावाक् एवं अग्नीद।

यस्मिन्नृचः साम यजूंष्यृषि यस्मि-
न्प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिंश्चित्तꣳसर्वमोतं प्रजानां
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥५॥

पदपाठ— यस्मिन्। ऋचः। साम। यजूँषि। यस्मिन्। प्रतिष्ठिता। प्रतिस्थितेति प्रति - स्थिता। रथनाभाविवेति - रथनाभौ। इव। अराः॥ यस्मिन्। चित्तम्। सर्वम्। ओतमित्या - उतम्। प्रजानामिति प्र - जानाम्। तत्। मे। मनः। शिवसङ्कल्पमिति शिव - सङ्कल्पम्। अस्तु॥

म० भा०— यस्मिन् मनसि ऋचः प्रतिष्ठिताः। यस्मिन् साम सामानि प्रतिष्ठि-तानि। यस्मिन् यजूंषि प्रतिष्ठितानि। मनसः स्वास्थ्ये एव वेदत्रयीस्फूर्तेर्मनसि शब्द-मात्रस्य प्रतिष्ठितत्वम् 'अनामयं हि सोम्य मनः' इति छान्दोग्ये मनस एव स्वास्थ्ये वेदोच्चारणशक्तिः प्रतिपादिता। तत्र दृष्टान्तः। रथनाभौ अराः इव। यथा अराः रथ-चक्रनाभौ मध्ये प्रतिष्ठितास्तद्वच्छब्दजालं मनसि। किञ्च प्रजानां सर्वं चित्तं ज्ञानम् सर्वपदार्थविषयिज्ञानं यस्मिन् मनसि ओतं निक्षिप्तं तन्तुसन्ततिः पटे इव सर्वं ज्ञानं मनसि निहितम्। मनः स्वास्थ्य एव ज्ञानोत्पत्तिर्मनोवैयग्र्ये च ज्ञानाभावः। तन्मे मम मनः शिवसङ्कल्पं शान्तव्यापारमस्तु॥

अन्वय— यस्मिन् ऋचः यस्मिन् साम यजूंषि रथनाभौ अराः इव प्रतिष्ठिताः यस्मिन् प्रजानां सर्वं चित्तम् ओतं तत् मे मनः शिवसङ्कल्पम् अस्तु।

पदार्थ— यस्मिन् = जिस (मन) के अन्तर्गत। ऋचः = ऋचाएँ, ऋग्वेद के मन्त्र। साम = सामवेद के मन्त्र। यजूंषि = यजुर्वेद के मन्त्र। रथनाभौ = रथ की नाभि में। अराः इव = अरे की भाँति। प्रतिष्ठिताः = प्रतिष्ठित हैं। प्रजानाम् = प्राणियों का। सर्वम् = सम्पूर्ण। चित्तम् = चित्त, ज्ञान। ओतम् = अनुस्यूत है, बिधा हुआ है।

अनुवाद— जिस (मन) के अन्तर्गत ऋग्वेद के मन्त्र, जिसके अन्तर्गत सामवेद के मन्त्र एवं यजुर्वेद के मन्त्र प्रतिष्ठित हैं, जिसमे प्राणियों का सम्पूर्ण (अर्थात् सर्व-पदार्थ-विषयक) ज्ञान अनुस्यूत है, वह मेरा मन शुभसङ्कल्पों वाला हो जाय।

व्याकरण—

१. प्रतिष्ठिताः – प्रति + √स्था + क्त, प्रथमा बहुवचन।
२. ओतम् – आ + √वेञ् (तन्तुसन्ताने) + क्त प्रत्यय।

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्या-
न्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥६॥

पदपाठ— सुषारथिः । सुसारथिरिति सु - सारथिः । अश्वानिवेत्यश्वान् - इव । यत् । मनुष्यान् । नेनीयते । अभीशुभिरित्यभीशु - भिः । वाजिनऽइवेति-वाजिनः - इव ॥ हृत्प्रतिस्थमिति हृत् - प्रतिस्थम् । यत् । अजिरम् । जविष्ठम् । तत् । मे । मनः । शिवसङ्कल्पमिति शिव - सङ्कल्पम् । अस्तु ॥६॥

म० भा०— यत् मनो मनुष्यान्नरान्नेनीयते अत्यर्थमितस्ततो नयति । नयतेः क्रिया- समभिहारे यङ् । मनः प्रेरिता एव प्राणिनः प्रवर्तन्ते । मनुष्यग्रहणं प्राणिमात्रोपलक्षकम् । तत्र दृष्टान्तः । सुसारथिः अश्वानिव शोभनः सारथिर्यन्ता यथा कशया अश्वान् नेनीयते । द्वितीयो दृष्टान्तः । अभीशुर्वाचिन इव यथा सुसारथिरभीशुभिःप्रग्रहैःवाजिनोऽश्वान्ने-नीयत इत्यनुषङ्गः । रश्मिभिर्नियच्छतीत्यर्थः । उपमाद्वयम् । प्रथमायां नयनं द्वितीयायां नियमनम् । तथा मनः प्रवर्तयति नियच्छति च नरानित्यर्थः । यच्च मनः हृत्प्रतिष्ठं हृदि प्रतिष्ठा स्थितिर्यस्य तत् हृद्येव मन उपलभ्यते । यच्च मनः अजिरं जरारहितम् बाल्य-यौवनस्थविरेषु मनसस्तदवस्थत्वात् । यच्च जविष्ठम् अतिजवनाद्वेगवत् जविष्ठम् 'न वै वातात्किञ्चनाशीयोऽस्ति न मनसः किञ्चनाशीयोऽस्ति' इति श्रुतेः । तन्म इत्युक्तम् ।

अन्वय— यत् (मनः) मनुष्यान् सुषारथिः अश्वान् इव नेनीयते अभीषुभिः वाजिन इव (मनुष्यान् कर्मषु प्रेरयति) यत् हृत्प्रतिष्ठं अजिरं जविष्ठं तत् मे मनः शिवसङ्कल्पम् अस्तु ।

पदार्थ— यत् = जो ! मनुष्यान् = मनुष्यों को । सुषारथिः = अच्छा (सुयोग्य) सारथी । अश्वान् इव = घोड़ों के समान । नेनीयते = ले जाता है । अभीषुभिः = लगामों के से । वाजिनः इव = घोड़ों के समान । यत् = जो । हृत्प्रतिष्ठं = हृदयस्थ, हृदय में स्थित । अजिरं = जरारहित, वृद्धावस्था से रहित । जविष्ठम् = अत्यधिक वेग-शाली ..... ।

अनुवाद— जो (मन) मनुष्यों को उसी प्रकार (ले जाता है) जैसे अच्छा (योग्य) सारथि अश्वों को ले जाता है; लगामों से घोड़ो को जिस प्रकार ले जाया जाता है उसी प्रकार (जो मन मनुष्यों को कर्मों में प्रेरित करता है), जो हृदयस्थ, जरारहित एवं अतिशय वेगशाली है वह मेरा मन शुभ संकल्पों वाला हो जाय ।

व्याकरण—

१. सुषारथिः – ऋ ॠ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ तथा औ; ये दश स्वर 'नामिन्' कहलाते हैं – 'ऋकारादयो दश नामिनः स्वराः' (ऋ.प्रा. १/६५) । इनके बाद आने वाला सकार षकार में परिवर्तित हो जाता है । इस प्रकार सु + सारथिः = सुषारथिः बन गया है ।
२. नेनीयते – √नी + यङ् क्रियासमभिहारे + लट् प्रथमपुरुष एकवचन ।
३. अभीषुभिः – अभि + ईष् गतौ + उः + तृतीया, बहुवचन ।
४. वाजिनः – अवश्यं वजन्ति इति वाजिनः, √वज् + णिनि, द्वितीया बहुवचन ।
५. जविष्ठम् – √जु + इष्ठन् प्रत्यय ।
६. प्रतिष्ठम् – प्रति + √स्था (गतिनिवृत्तौ) + कः ।

अभ्यास -

(१) निम्नलिखित मन्त्रों का अनुवाद कीजिए-
  (क) यज्जाग्रतो दूरमुदैति .....(१)
  (ख) येनेदं भूतं भुवनं .....(४)
  (ग) सुषारथिरश्वानिव .....(६)
(२) मन के कार्यों का विवेचन कीजिए।
(३) शिवसङ्कल्पसूक्त का सारांश लिखिए।
(४) निम्नलिखित शब्दों पर व्याकरणात्मक टिप्पणियाँ लिखिए-
  (क) नेनीयते (ख) प्रतिष्ठम्
  (ग) ओतम् (घ) कृण्वन्ति
  (ङ) दूरङ्गमम्

Notes

Notes

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

खण्ड-दो

कठोपनिषद् (प्रथम अध्याय) तथा अनुवाद (हिन्दी से संस्कृत में)

इकाई-प्रथम वैदिक वाङ्मय में कठोपनिषद्	5
इकाई-द्वितीय कठोपनिषद् का सामान्य अध्ययन	16
इकाई-तृतीय श्लोक व्याख्या	22
इकाई-चतुर्थ श्लोक व्याख्या	32
इकाई-पञ्चम श्लोक व्याख्या	44
इकाई-षष्ठ श्लोक व्याख्या	54
इकाई-सप्तम संस्कृत अनुवाद	62
इकाई-अष्टम संस्कृत अनुवाद	69

पाठ्यक्रम-परिचय

इस खण्ड में कठोपनिषद् के प्रथम अध्याय तथा हिन्दी से संस्कृत में अनुवाद का प्रतिपादन किया गया है। इसमें कुल आठ इकाइयाँ हैं। प्रथम छः इकाइयाँ कठोपनिषद् से सम्बन्धित है, जिनमें कठोपनिषद् के सामान्य अध्ययन के साथ प्रथम अध्याय के श्लोकों की वैदुष्यपूर्ण तथा सरल व्याख्या प्रस्तुत की गई है। अन्तिम दो इकाइयों में हिन्दी से संस्कृत में अनुवाद से सम्बद्ध विषय को सुगमता पूर्वक प्रतिपादित किया गया है।

कठोपनिषद्
(सामान्य अध्ययन)

प्रथम इकाई - वैदिक वाङ्मय में कठोपनिषद्

वेद -

भारतीय मान्यता के अनुसार मन्त्र ब्राह्मणात्मक नित्य अपौरूषेय शब्दराशि को वेद कहा जाता है। वस्तुत: वेद का शाब्दिक अर्थ, ज्ञान होता है, जो परब्रह्म परमात्मा का वाचक एवं उसका प्रकाशक कहा जाता है, **"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"** इस श्रुति वाक्य से यह प्रमाणित होता है कि जो ज्ञान, सर्वदा सत्य एवं अनन्त है, वही ब्रह्म है, अत: उस ज्ञान का बोध जिस शब्दराशि से प्राप्त होता है उसे ही वेद कहा जाता है।

महर्षि कात्यायन एवं आपस्तम्ब ने - **"मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्"** इस सूत्र द्वारा वेद का स्वरूप लक्षण स्पष्ट किया है, उनके अनुसार जिस वेद से परब्रह्म परमात्मा का ज्ञान होता है वह मन्त्र एवं ब्राह्मण के रूप में पूर्व-पूर्व पुरुषों से परम्परया प्राप्त नित्य शब्द राशि वेद ही है।

वेद, वैश्विकवाङ्मय का सर्वप्राचीन आद्यग्रन्थ माना जाता है, यही भारतीय संस्कृति की दृढ़ आधारशिला है, जिसके ऊपर भारतीय सनातन धर्म एवं दर्शन की प्रतिष्ठा है। प्राचीन भारत के उज्ज्वल एवं महनीय गौरव को अच्छी तरह समझने के लिए वेदों का ज्ञान परमावश्यक है। मनुस्मृति में वेद को देव-पितृ-मनुष्यों का सर्वदा विद्यमान रहने वाला नेत्र बतलाया गया है। जिस प्रकार लौकिक पदार्थों के परिज्ञान के लिए सर्वत: प्रथम नेत्र की उपयोगिता होती है, उसी प्रकार अलौकिक तत्त्वों एवं उनके रहस्यों के परिज्ञान के लिए वेदरूप नेत्र की आवश्यकता है। इसीलिए वेद भाष्यकार आचार्य सायण ने वेद का लक्षण करते हुये बतलाया है, कि जो ग्रन्थ इष्ट की प्राप्ति तथा अनिष्ट के परिहार का अलौकिक उपाय बतलाता है, वही वेद है। याज्ञवल्क्य स्मृति का वचन उद्धृत करते हुए उन्होंने यह बतलाया है कि प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाणों से जिस अलौकिक उपाय का बोध नहीं हो पाता है, उस अलौकिक उपाय को जानने का एकमात्र साधन वेद ही है, और यही वेद का वेदत्व भी है।

महर्षि कात्यायन ने अपने प्रतिज्ञा परिशिष्ट सूत्र में तथा आचार्य आपस्तम्ब ने अपने परिभाषाध्याय में वेद का लक्षण **"मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्"** बतलाया है, अर्थात् मन्त्र और ब्राह्मण दोनों को वेद के नाम से कहा जाता है, मन्त्रात्मक वैदिक शब्दाराशि का मुख्य संकलन संहिता के नाम से जाना जाता है, और सामान्येन वैदिक कर्म में प्रयुक्त मन्त्रों का व्याख्यान ही ब्राह्मण भाग के रूप में जाना जाता है।

मन्त्र संहिता के मुख्य तीन प्रकृति पाठ माने जाते हैं, वे हैं, संहितापाठ, पदपाठ और, क्रम-पाठ। पुन: इन्हीं मन्त्र संहिता के नित्य शब्दराशि की रक्षा के लिए विकृति पाठों का उपयोग भी किया जाता है, उनके नाम हैं, - **जटा माला शिखा रेखा ध्वजो दण्डो रथो घन:।**

अष्टौ विकृतय: प्रोक्ता: क्रमपूर्वा महर्षिभि:।।

इस प्रकार नित्य अपौरुषेय वैदिक शब्दराशि की आनुपूर्वी की रक्षा के लिए प्रकृतिपाठों तथा विकृतिपाठों का पूर्व परम्परा से उपयोग किया जाता रहा है।

टिप्पणी - (1) इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायो ग्रन्थो वेदयति स वेद:" (सायण-यजु.भा.भू.)

(2) **प्रत्येक्षणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।**
एवं विदन्ति वेदेन तस्मात् वेदस्य वेदता।।

(सायण-यजु.भा.भू.)

वेद का विभाजन -

शास्त्रीय मान्यता के अनुसार सृष्टि के प्रारम्भ में वेद एक ही था, जो ब्रह्मा की वंश परम्परासे वशिष्ठ-शक्ति-पराशर -कृष्ण द्वैपायन तक एक वेद के रूप में प्राप्त हुआ, द्वापर युग के अन्त में महर्षि कृष्ण द्वैपायन ने अपनी दिव्य दृष्टि से भावी कलियुग के मनुष्यों की बुद्धिक्षमता तथा आयुष्य की न्यूनता को देखकर ब्रह्मा की परम्परा से प्राप्त एकात्मक वेद को हौत्रादि यज्ञ प्रक्रिया को दृष्टि में रखकर तद्नुरूप चार विभाग कर दिया, और उसे अपने प्रमुख चार शिष्यों को पढ़ाया, उसमें हौत्रकर्म सम्बन्धी मन्त्रों का एक विभाजन ऋग्वेद के नाम से हुआ, जिसे पैल नामक ऋषि को प्रदान किया, पुन: आध्वर्यव कर्म से सम्बन्धित मन्त्रों का संकलन यजुर्वेद के नाम से हुआ, जिसे वैशम्पायन ऋषि को प्रदान किया, पुन: औद्गात्रकर्म के उपयोगी मन्त्रों का संकलन सामवेद के नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसे जैमिनि ऋषि को प्रदान किया, पुन: शान्तिक एवं पौष्टिक कर्मों के उपयोगी मन्त्रों का संकलन अथर्ववेद के नाम से किया, जिसे सुमन्तु ऋषि को प्रदान किया,

इस प्रकार महर्षि कृष्ण द्वैपायन के द्वारा द्वापर के अन्त में जो वेद का विभाजन किया गया, तभी से उनका नाम वेदव्यास पड़ गया, पौराणिक मान्यता के अनुसार प्रत्येक द्वापर युग के अन्त में किसी तप:पूत महर्षि के द्वारा कलियुगीन मानवों के लिए एकात्मक वेद का चार विभाजन किया जाता है, जो कलियुग के अन्ततक रहता है, पुन: सतयुग से एकात्मकवेद के रूप में प्रवृत्त हो जाता है।

वेदशाखायें -

महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य के प्रारम्भ में (पश्यशाह्निक में) तत्कालीन समुपलब्ध वेदशाखाओं की संख्या का निर्देश किया है, उनके अनुसार ऋग्वेद की 21 शाखायें, यजुर्वेद की 101 शाखायें, सामवेद की 1000 शाखायें तथा अयर्ववेद की 9 शाखायें प्रचलित थीं, परन्तु वे सभी शाखायें सम्प्रति उपलब्ध नहीं हैं प्रमुख रूप से आज जो शाखायें प्राप्त होती हैं, उनकी कुल संख्या 13 है, जो निम्नलिखित रूप में उपलब्ध होती हैं।

1. ऋग्वेद की दो शाखायें

(i) शाकल शाखा

(ii) वाष्कल शाखा

2. यजुर्वेद का कालान्तर में दो विभाग हो गया, जिसे कृष्ण यजुर्वेद एवं शुक्ल यजुर्वेद के नाम से कहा गया। एकात्मक वेद के रूप में महर्षि वैशम्पायन तक प्राप्त मन्त्रब्राह्मणात्मक शब्दराशि को कृष्ण यजुर्वेद कहा जाता है, तथा महर्षि याज्ञवल्क्य के द्वारा सूर्य की आराधना से प्राप्त मन्त्र और ब्राह्मण के पृथक्-पृथ्क शब्द राशि को शुक्ल यजुर्वेद कहा जाता है।

(क) सम्प्रति कृष्ण यजुर्वेद की कुल चार शाखायें प्राप्त होती हैं

(i) तैत्तिरीय शाखा

(ii) मैत्रायणी शाखा

(iii) कठ शाखा

(iv) कपिष्ठलकठ शाखा (अंशत: उपलब्ध)

(ख) शुक्लयजुर्वेद की सम्प्रति दो शाखायें उपलब्ध होती हैं।

(i) काण्वशाखा

(ii) माध्यन्दिन शाखा

3. सामवेद की अद्यतन केवल तीन शाखायें प्राप्त होती हैं।

(i) कौथुमी शाखा

(ii) जैमिनीय शाखा

(iii) राणायनीय शाखा

4. इसी प्रकार अथर्ववेद की सम्प्रति दो शाखायें मिलती हैं

(i) शौनक शाखा

(ii) पैप्पलाद शाखा

ब्राह्मणभाग -

सामान्यत: मन्त्रों के व्याख्यानभाग को ही ब्राह्मण भाग कहा जाता है, ''**ब्रह्म वै मन्त्र:**'' शतपथ ब्राह्मण 7/1/15 के अनुसार मन्त्र का ही दूसरा नाम ब्रह्म है, जिसका विस्तार या व्यख्यान ब्राह्मण भाग के नाम से जाना जाता है। इस प्रकार वैदिक मन्त्रों का व्याख्यान करने के कारण ही इस भाग का ''ब्राह्मण'' ऐसा नामकरण किया गया प्रतीत होता है।

मन्त्र और ब्राह्मण में यह मौलिक अन्तर देखा जाता है कि मन्त्र प्रायश: छन्दोबद्ध होते हैं परन्तु ब्राह्मण सर्वथा गद्यात्मक ही होता है, कृष्ण यजुर्वेद तथा शुक्ल यजुर्वेद के अधिकांश मन्त्र यद्यपि गद्यात्मक प्राप्त होते हैं फिर भी उनमें अति जगती आदि अतिच्छन्दों की प्रकल्पना प्राप्त होती हैं, परन्तु ब्राह्मण भाग सभी वेद संहिताओं का अपना पृथक्-पृथक् गद्यात्मक ही प्राप्त होता है। मन्त्रों में देवताओं की स्तुतियां प्राप्त होती हैं, परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञों का विधान तथा उनमें विधि-निषेध का निर्देश प्राप्त होता है।

ब्राह्मण भाग में वैदिक यज्ञों का मुख्य रूप से सम्पादन किया गया है। यज्ञ के सूक्ष्म से सूक्ष्म अनुष्ठानों के लिए ब्राह्मण ग्रन्थों में बड़े विस्तार से वर्णन मिलता है, **'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'** (श० ब्रा० 1/7/3/5) के अनुसार समस्त मानवीय कर्मों में यज्ञ को ही श्रेष्ठतम कर्म माना गया है, यज्ञ से ही समस्त जगत् की सृष्टि हुयी है, इसका परिचय हमें पुरुष सूक्त से प्राप्त होता है, जहाँ यह कहा जाता है कि,

''तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत: ऋच: सामानि जज्ञिरे''

छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजु: तस्माद्जायत' इत्यादि

वैदिक काल में ब्राह्मण गन्थों का साहित्य बड़ा ही विशाल था, प्रत्येक मन्त्र संहिता का अपना ब्राह्मण ग्रन्थ प्राप्त होता था, परन्तु आज अनेक ब्राह्मण ग्रन्थ काल के प्रवाह में लुप्त हो गये हैं, केवल उनका नाम निर्देश तथा उद्धरण ही कतिपय श्रौत ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।

उपलब्ध ब्राह्मण ग्रन्थ

आचार्य बलदेव उपाध्याय जी ने अपने ग्रन्थ ''वैदिक साहित्य एवं संस्कृति'' में उपलब्ध ब्राह्मण ग्रन्थों का निर्देश किया है, उनके अनुसार सम्प्रति ब्राह्मण ग्रन्थों की संख्या प्रत्येक वेद की सम्बद्धतानुसार निम्नरूप में प्राप्त होती है।

ऋग्वेद में दो - (i) ऐतरेय ब्राह्मण (ii) शांखायन ब्राह्मण

शुक्ल यजुर्वेद में एक (i) शतपथ ब्राह्मण

कृष्ण यजुर्वेद में एक (i) तैत्तिरीय ब्राह्मण

सामवेद में आठ (i) ताण्ड्य ब्राह्मण

(ii) षड्विंश ब्राह्मण

(iii) सामविधान ब्राह्मण

(iv) आर्षेय ब्राह्मण

(v) दैवत ब्राह्मण

(vi) उपनिषद् ब्राह्मण

(xii) संहितोपनिषद् ब्राह्मण

(xiii) वंश ब्राह्मण

अर्थर्ववेद में एक - (i) गोपथ ब्राह्मण

आरण्यक

आरण्यक ब्राह्मण भाग के अन्तर्गत पठित होने के कारण उनके परिशिष्ट माने जाते हैं, परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों के सामान्य प्रतिपाद्य विषय से इनका प्रतिपाद्य विषय सर्वथा भिन्न दृष्टिगोचर होता है, तैत्तिरीय आरण्यक का भाष्य करते समय आचार्य सायण ने 'आरण्यक' के नामकरण पर अपनी सम्मति स्पष्ट की है, कि -

अरण्याध्ययनादेतद् आरण्यकमितीर्यते।

अरण्ये तदधीयीतेत्येवं वाक्यं प्रवक्ष्यते ।।

(तै. आ. भाष्य. श्लोक 6)

आचार्य सायण के अनुसार आरण्यक ग्रन्थों के अध्ययन का स्थल अरण्य का एकान्त शान्त-वातावरण था, क्योंकि आरण्यक का मुख्य विषय क्रियात्मक यागानुष्ठान नहीं था, बल्कि यागानुष्ठानों के अन्तर्गत विद्यमान आध्यात्मिक तथ्यों की मीमांसा तथा दार्शनिक तत्त्वों का समधिगमन एवं उपासना थी । आरण्यक ग्रन्थों में संहितोपासना एवं प्राणविद्या की उपासना पर विशेष चिन्तन उपलब्ध होता है। वेद मन्त्रों में इन उपासनाओं का संकेत अवश्य मिलता है, परन्तु इन सांकेतिक बीजों का पल्लवन आरण्यक भाग में देखा जा सकता है।

मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद के जिस अंश में प्राणविद्या तथा प्रतीक उपासना का विषय वर्णित है, वह अंश 'आरण्यक' कहलाता है। आरण्यक को कहीं कहीं पर 'रहस्य ब्राह्मण' के नाम से भी अभिहित किया गया है, निरुक्त की टीका (1/4) में दुर्गाचार्य ने 'ऐतरेयरहस्यब्राह्मणे' कहकर ऐतरेय आरण्यक 2/2/1 का उद्धरण दिया है, जिससे रहस्य ब्राह्मण तथा आरण्यक की एकता सिद्ध होती है,

आरण्यक, यागों के गूढ़ रहस्य का प्रतिपादन करता है तथा उनके अन्तर्गत की जाने वाली क्रियाओं की तात्त्विक व्याख्या प्रस्तुत करता है, अध्यात्म विद्या का प्रतिपादन भी रहस्यात्मक होने के कारण आरण्यकों में प्रतिपादित प्राणोपासना अध्यात्मविद्या से साम्य रखती है, तथा ब्राह्मण भाग का अंश होने से आरण्यक को 'रहस्य ब्राह्मण' कहना युक्ति संगत लगता है।

मौलिक विषय की दृष्टि से आरण्यक तथा उपनिषद् में यत्किंचित् साम्य दिखाई पड़ता है, क्योंकि उपनिषद् भाग आरण्यक के ही परिशिष्ट माने जाते हैं, इसीलिए वृहदारण्यक में प्राप्त उपनिषद् को बृहदारण्यकोपनिषद् नाम से कहा जाता है। आरण्यक और उपनिषद् दोनों में मौलिक विषय की समानता होने पर भी सूक्ष्म विषय के प्रतिपादन में दोनों की भिन्नता स्पष्ट परिलक्षित होती है, क्योंकि आरण्यक का मुख्य प्रतिपाद्य प्राणविद्या तथा प्रतीकोपासना है जबकि उपनिषद् का परम प्रतिपाद्य विषय निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण तथा उसके साक्षात्कार के साधनोपाय का विवेचन है, इस प्रकार सूक्ष्म विषय प्रतिपादन की भिन्नता के कारण यद्यपि दोनों में भेद है तथापि आरण्यक की प्राणविद्या तथा उपनिषद् की ब्रह्मविद्या दोनों के रहस्यात्मक होने के कारण दोनों में साम्य भी प्रतीत होता है।

उपलब्ध आरण्यक

जैसा कि ऊपर की पंक्तियों में बतलाया जा चुका है कि प्रत्येक वेद का अपना ब्राह्मण ग्रन्थ होता था, तथा अपना आरण्यक एवं उपनिषद्ग्रन्थ भी वेदानुसार ही होता था, अत: सम्प्रति प्रति वेद के अनुसार समुपलब्ध आरण्यकों को सम्प्रति दर्शाया जाता है।

ऋग्वेद की ऐतरेय शाखा से सम्बन्धित ऐतरेय आरण्यक सम्प्रति उपलब्ध होता है, तथा ऋग्वेदीय वाष्कल शाखा से सम्बन्धित शांखायन आरण्यक भी सम्प्रति उपलब्ध होता है। कृष्ण यजुर्वेदीय संहिताओं से सम्बन्धित केवल एक 'तैत्तिरीय आरण्यक मिलता है और शुक्ल यजुर्वेदीय दोनों शाखाओं के ब्राह्मणभाग में बृहदारण्यक प्राप्त होता है। सामवेदीय ब्राह्मणों में सम्प्रति कोई आरण्यक प्राप्त नहीं होता है, तथा अथर्ववेदीय ब्राह्मणों में भी कोई आरण्यक नहीं मिलता है। कुछ आचार्य तवल्कार आरण्यक को सामवेद से सम्बद्ध मानते हैं, परन्तु कुछ आचार्य इसे सामवेदीय जैमिनी शाखा से सम्बद्ध ब्राह्मण मानते हैं, तथा उसका अभिधान "जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण" के रूप में करते हैं।

उपनिषद्

वैदिक वाङ्मय का चतुर्थ भाग उपनिषद् कहा जाता है। ब्राह्मण भाग के अन्तर्गत आरण्यक और आरण्यक के अन्तर्गत उपनिषद् भाग को माना जाता है, इस प्रकार समस्त उपनिषद् ब्राह्मण भाग के ही परिशिष्ट माने जाते हैं, एक 'ईशावास्योपनिषद्' जो ब्राह्मण का परिशिष्ट न होकर शुक्ल यजुर्वेदीय काण्व एवं माध्यन्दिनीय मन्त्र संहिताओं के अन्तिम अध्याय के रूप में प्राप्त होता है, अत: एकमात्र 'ईशावास्योपनिषद्', मन्त्र भाग का परिशिष्ट माना जाता है।

वेद का अन्तिम भाग होने के कारण तथा अन्तिम भाग में ही वेद का परम प्रतिपाद्य (ब्रह्म) का विवेचन होने के कारण उपनिषद को वेदान्त के नाम से भी अभिहित किया जाताहै। भारतीय दार्शनिक तत्व चिन्तन का मूल स्रोत इन्ही उपनिषदों में ही प्राप्त होता है, यही कारण है कि भारतीय दर्शन की मूलतत्व प्रतिपादिका प्रस्थानत्रयी में उपनिषद का स्थान मुख्य तथा श्रुति प्रस्थान के रूप में मान्य है, अन्य दो प्रस्थानों में गीता स्मृति प्रस्थान तथा ब्रह्मसूत्र दर्शन प्रस्थान के रूप में सम्मान्य है।

वेद के उपनिषद् भाग को ही भारतीय समस्त दर्शनों का मूलस्रोत माना जाताहै, इसीलिए उपनिषद् का भारतीय संस्कृति से अविच्छेद्य सम्बन्ध है, इन उपनिषदों के अध्ययन से भारतीय संस्कृति के धार्मिक एवं आध्यात्मिक स्वरूप का वास्तविक एवं पूर्ण परिचय हमें प्राप्त होता है,

उपनिषद् का मुख्य अर्थ ब्रह्म विद्या है क्योंकि इस विद्या के अनुशीलन से मुमुक्षुजनों की संसार - बीज भूता अविद्या नष्ट हो जाती है, गौण अर्थ में 'उपनिषद्' शब्द उसी ब्रह्मविद्या का प्रतिपादक ग्रन्थ विशेष का भी बोधक है, क्योंकि इसी अर्थ में इसका प्रयोग प्रचलित भी है। पूर्व में कहा जा चुका है, कि ब्रह्मविद्या उपनिषदों के द्वारा प्रतिपादित रहस्य विद्या है अत: उसी रहस्य ज्ञान के लिए अपने सुयोग्य गुरु के समीप में बैठकर आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करना 'उपनिषद्' की सार्थकता है।

उपनिषदों की संख्या - ज्ञात है कि प्रत्येक वेद के मन्त्र - ब्राह्मण - आरण्यक एवं उपनिषद् अपने विशिष्ट रूप में भिन्न - भिन्न होते हैं, सम्प्रति उपनिषदों की उपलब्धता एवं उनकी निश्चित संख्या के विषय में पर्याप्त-मतभेद प्राप्त होता है, मुक्तिकोपनिषद् के अनुसार उपनिषदों की संख्या 108 मानी गयी है, जिसमें प्रत्येक वेद के अनुसार उपनिषदों की उपलब्ध-संख्या निम्नलिखित है।

ऋग्वेद से सम्बद्ध उपनिषदों की संख्या - 10

शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध उपनिषदों की संख्या 19

कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध उपनिषदों की संख्या 12

सामवेद से सम्बद्ध उपनिषदों की संख्या 16

अथर्ववेद से सम्बद्ध उपनिषदों की संख्या 31

आद्य शङ्कराचार्य ने जिन दश उपनिषदों पर अपना महत्वपूर्ण भाष्य लिखा है, वे अत्यन्त प्राचीनतम तथा प्रामाणिक माने जाते हैं, मुक्तिकोपनिषद् में उन दश उपनिषदों का नाम निम्न रीति से गिनाया गया है, तद्यथा -

ईश - केन - कठ - प्रश्न - मुण्ड - माण्डूक्य-तित्तिरिः।

ऐतरेयं च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं दश।।

इनके अतिरिक्त कौषीतकि, श्वेताश्वतर तथा मैत्रायणी उपनिषद् भी प्राचीन माने जाते हैं, क्योंकि आद्यशंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र भाष्य में दशोपनिषद् के अति प्त प्रथम दोनों उपनिषदों को भी उद्धृत किया है। लेकिन उन्होंने इन पर भाष्य नही किया है, इस प्रकार यही त्रयोदश उपनिषद् वेदान्त तत्त्व के प्रतिपादक होने के कारण भारतीय तत्त्व चिन्तकों में विशेषरूप से श्रद्धाभाजन माने जाते हैं, अन्य उपनिषद् तत्तत् देवता विषयक होने से वैष्णव, शैव, शाक्त, तथा योग विषयक माने जाते हैं, जिनको अर्वाचीन विद्वान् प्रोक्त चार विभागों में विभाजित कर उनकी प्राचीनता या नवीनता पर विचार करते हैं।

कठोपनिषद् का सामान्य परिचय

बताया जा चुका है कि यजुर्वेद के कृष्ण और शुक्ल भेद से दो विभाग हो गये थे, जिनमें कुल 101 शाखायें महर्षि पतञ्जलि के समय उपलब्ध थीं सम्प्रति शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन तथा काण्व दो शाखायें, तथा कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय, मैत्रायणी, कठ एवं कपिष्ठल यही चार शाखायें उपलब्ध होती हैं। इनमें कृष्ण यजुर्वेद की कठ शाखा के अन्तर्गत ``कठोपनिषद्'' की उपलब्धि होती है।

कठोपनिषद् में कुल दो अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में तीन-तीन बल्लियां हैं, इसमें यज्ञ विद्या, जिसे अग्निविद्या के नाम से कहा गया है, का संक्षेप में सांकेतिक वर्णन किया गया है, यज्ञ-वेदी के लिए अपेक्षित ईटों की संख्या, आकार तथा उसके चयन का प्रकार यमराज ने नचिकेता को बतलाया, क्या हैं वह संख्या? कैसा है वेदी का आकार? तथा कैसा है अग्नि चयन का प्रकार ? इन सबों का विशेष वर्णन नहीं किया गया है। सम्भवतः दूसरा कारण यह प्रतीत होता है कि अग्नि चयन विधि स्वर्ग की कामना वालों के लिए उपयोगी होने के कारण ज्ञानात्मक उपनिषद् में मुख्य विषय नहीं है, यहाँ का मुख्य विषय तो ब्रह्मविद्या अर्थात् आत्मज्ञान है, अतः उसी का वर्णन मुख्यतया इस उपनिषद् में किया गया है, आत्मज्ञान का यह निरूपण यम और नचिकेता के मध्य हुये संवाद के माध्यम से बड़े रुचिकर ढंग से किया गया है।

इस उपनिषद् पर भाष्य लिखते समय भगवत्पाद आद्यशंकराचार्य जी ने ब्रह्म विद्या के आचार्य सूर्यपुत्र यम और जिज्ञासु शिष्य को अत्यन्त आदर के साथ प्रणाम किया है, इससे आचार्य ने न केवल ब्रह्मविद्या के प्रति आदर दिखलाया है, अपितु ब्रह्मविद्या के कुशल प्रवक्ता आचार्य तथा विद्यार्थी के प्रति भी आदर सूचित किया है, गुरु-शिष्य संवाद के रूप में इसका अवतरण होने के कारण यह उपनिषद् सरल तथा सुबोध्य है, इसके कुछ मन्त्रों का शब्दतः और कुछ का अर्थतः उल्लेख श्रीमद्भगवद्गीता में प्राप्त होता है। यहाँ आत्मतत्त्व की अवगति के लिये ब्रह्मविद्या का गम्भीर विवेचन किया गया है, साथ ही अधिकारी सुपात्र शिष्य नचिकेता की आत्मतत्त्व जिज्ञासा तथा उसका सांसारिक प्रलोभनों से अनासक्त जीवन भी पाठकों के समक्ष अनुपम आदर्श के रूप में उपस्थित किया गया है।

इकाई का प्रतिपाद्य सारांश

वस्तुतः सम्पूर्ण कठोपनिषद् का परम प्रतिपाद्य आत्मज्ञान अथवा ब्रह्मविद्या का निरूपण है, वही इस इकाई का मुख्य प्रतिपाद्य भी कहा जा सकता है, फिर भी इस इकाई की परिधि में कठोपनिषद् के प्रथम अध्याय की प्रथम बल्ली का प्रतिपाद्य और उसका सारांश ही यहां विशेष रूप से उल्लेखनीय है, इसमें सर्वतः प्रथम विश्वजित् नामक यज्ञ के अनुष्ठान को निर्देश किया गया है, जिसमें सर्वस्व दान की

विधि के अनुसार यज्ञकर्ता वाजश्रवा नाम के ऋषि सब कुछ ब्राह्मणों को दान देने के लिए प्रस्तुत होते हैं, उनका पुत्र, जिसका नाम नचिकेता है, वह भी वहां उपस्थित होकर अपने पिता जी के दान प्रक्रिया को भलीभाँति देखता है। जिस समय दान के लिए बूढ़ी तथा प्रजनन शक्ति विहीन गायों को लाया जा रहा था, उसी समय नचिकेता के मन में यह विचार आया कि निरर्थक दान से पुण्य न होकर पाप की ही उत्पत्ति होगी, अत: पाप से अपने पिता को बचाने के उद्देश्य से उसने अपने पिता वाजश्रवा से कहा "पिता जी ! आप इस सर्वस्वदान वाले यज्ञ में मुझे किसको देंगे? **"आत्मा वै जायते पुत्रः"** इस श्रुति के अनुसार पुत्र प्राणातिप्रिय आत्मरूप ही होता है, उसके दान से कुदान करने का अनिष्ट फल नष्ट हो जाएगा, तथा ऐसा करने से मेरा पुत्रत्व भी सार्थक हो जाएगा, क्योंकि शास्त्रों में 'पुत्र' उसी को कहा गया है, जो पिता को नरक से बचाये, तद्यथा -

"पुन्नामनरकं यस्मात् पितरं त्रायते सुतः।

तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवा"।।

इस प्रकार पहली बार पिता की उपेक्षावशात् उत्तर न देने पर , "तो पिता जी मुझे आप किसको देंगे" इस बात को नचिकेता ने दुबारा - तिबारा कहा ।

अनेक बार कहने पर पिता ने क्रुद्ध होकर कहा "मैं तुम्हें मृत्यु को देता हूँ"। पिता के "मृत्यवे त्वां ददामि" ऐसा कहने पर नचिकेता सोचने लगा कि यम का ऐसा कौन सा कार्य है, जिसे पिताजी आज मेरे द्वारा कराना चाहते हैं। उसने पिता जी से कहा, पूज्य पिता जी ! अपने वचन की सत्यता पर दृढ़ रहने वाले अपने पूर्व पुरुषों के आचरण को भलीभांति देख लीजीये, तथा वर्तमान में पुरुष जैसा आचरण करते हैं उन्हें भी देख लीजिये, मनुष्य फसल की तरह पकता है, अर्थात् वृद्ध होकर विनष्ट हो जाता है, पुन: फसल की तरह ही उत्पन्न होता है, अत: जीवन क्षणिक है, इसलिए अपनी बात को असत्य क्यों होने दें, अपने वचन को सत्य करते हुये मुझे यमराज के घर जाने की अनुमति दे दें।

पुत्र के इस प्रकार कहने पर पिता ने अपनी सत्यता के लिए पुत्र नचिकेता को यम के पास भेज दिया । वह यम के यहाँ जाकर बिना कुछ खाये-पीये तीन रात्रि तक रहा, क्योंकि उस समय यमराज कहीं दूसरे लोक में गये थे, प्रवास से लौटने पर यम की पत्नी तथा मन्त्रियों ने नचिकेता के आगमन तथा उनके अनशन की बात कही, तथा उनसे निवेदन किया, कि आप स्वयं अग्नि के रूप में आये ब्राह्मण अतिथि का अर्घ्यपाद्यादि के द्वारा सम्मान करें। क्योंकि जिसके घर में ब्राह्मण अतिथि बिना भोजन किये निवास करता है, उसके सारे पुण्यफल तथा पशुपुत्रादि को भी नष्ट कर देता है।

आत्मीयजनों के ऐसा कहने पर स्वयं यमराज ने पाद्यार्घ्यादि पूजन पदार्थ के साथ नचिकेता के समक्ष उपस्थित होकर कहा - हे ब्रह्मन् आप हमारे पूज्य अतिथि हैं, मेरा आतिथ्य स्वीकार करें, चूंकि आप हमारे घर में बिना खायें पीए तीन रात तक रहें हैं, इसलिए प्रत्येक रात्रि के अनुसार आप मुझ से तीन वर मांग लीजिए, मेरा अभिवादन स्वीकार कर मेरा कल्याण कीजिए। इस प्रकार के निवेदन करने पर बालक नचिकेता ने क्रमश: तीन वरों की याचना की, जिसमें सबसे पहले उसने पिता के क्रोध रहित, सत्य संकल्प तथा सुप्रसन्न होने के लिए वर की याचना की, तथा यमराज से कहा - मेरे पिताजी सत्य संकल्प वाले, क्रोध रहित तथा प्रसन्नचित्त हो जायें, आप द्वारा वापस भेजे गये मुझको पहचान कर मुझसे आत्मीयता से बोलें, यही मैं तीनों वरों में से प्रथम वर मांगता हूँ। इस प्रथम वरदान को प्रदान करते हुए यमराज ने नचिकेता से कहा कि तुम्हारे पिताजी मेरी प्रेरणा से सर्वथा क्रोध रहित होकर तुम्हें पहले की तरह पहचान लेगें, तथा तुम्हें मृत्यु के घर से वापस आया जानकर अत्यन्त प्रसन्न होकर निश्चिन्तता से रात्रियों में सुखपूर्वक सोयेंगे।

प्रथम वरदान प्राप्त कर लेने पर नचिकेता ने पुन: द्वितीय वर के लिए इस प्रकार कहा, कि स्वर्ग लोक में कोई भय नहीं होता है, वहाँ न किसी की मृत्यु होती है न किसी को वृद्धावस्था ही सताती है, वहां तो सदैव चिरयुवा रहकर प्राणी भूख-प्यास दोनों को पार करके वीतशोक होकर आनन्दपूर्वक

रहता है, उस स्वर्ग लोक की प्राप्ति जिस अग्नि की उपासना से होती है, हे मृत्युदेव उस स्वर्गसाधनभूत अग्नि को आप अच्छी तरह जानते हैं, मुझे आप उसी अग्नि का उपदेश करें, जिसके द्वारा स्वर्गलोक के निवासी अमरता प्राप्त कर लेते हैं, द्वितीय वर के रूप में यही आप से याचना करता हूं।

नचिकेता के इस प्रकार द्वितीय वरदान मांगने पर यमराज ने कहा, कि हे नचिकेता ! मैं स्वर्ग के साधनभूत अग्नि को अच्छी तरह जानता हूं, उसका तुम्हारे प्रति उपदेश करता हूँ, तुम उसे अच्छी तरह समझ लो। यह अग्नि अनन्त स्वर्गादि नित्य लोकों को प्राप्ति कराने वाला, सम्पूर्ण जगत् का आश्रय तथा प्राणिमात्र के हृदयाकाश में सदैव स्थिर रहने वाला है। उस अग्नि का आधिभौतिक रूप तो लोक में प्रकट हो जाता है परन्तु आधिदैविक स्वरूप अप्रकट रहता है, इसी को पुरोहित अग्नि एवं तिरोहित अग्नि के रूप में जाना जाता है, जो विद्वान् इन दोनों स्वरूपों में परस्पर अभेद तथ्य जानकर आत्मभाव से उसका अनुभव कर लेता है, वही उसके द्वार से स्वर्गादि नित्य लोक को प्राप्त होता है।

इस प्रकार यमराज ने अग्नि के स्वरूप के विषय में बतलाते हुये उसके चयन में जैसी और जितनी ईंटे होती हैं, एवं जिस प्रकार उसका चयन किया जाता है, उस सबका नचिकेता के प्रति वर्णन कर दिया, और नचिकेता ने भी उसे ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया। अत्यन्त मेधावी नचिकेता के द्वारा ज्यों का त्यों अग्नि चयन विद्या के ग्रहण कर लेने पर यमराज ने प्रसन्न होकर उसे एक अतिरिक्त वरदान अपने तरफ से प्रदान किया, तथा अपने कण्ठ की माला उतार कर नचिकेता को पहनाते हुए उन्होंने कहा कि अब से यह स्वर्ग साधन भूत अग्नि तुम्हारे नाम से ही प्रसद्धि होगा, और नाचिकेताग्नि के रूप में जाना जाएगा।

इस नाचिकेताग्नि का तीन बार चयन करने वाला मनुष्य, अपने माता-पिता एवं आचार्य इन भूतल के प्रत्यक्ष त्रिदेव को सन्तुष्ट कर वेदविहित यजन, अध्ययन एवं दान इन तीन कर्मो को भलीभांति करता हुआ जन्म और मृत्यु को पार कर जाता है, तथा परंब्रह्म से प्रसूत सर्व स्तुत्य अग्निदेव अच्छी तरह जानकर अर्थात् आत्मभाव से उसका साक्षात्कार करके आत्यन्तिक शान्ति को प्राप्त कर लेता है तथा वह शरीर त्याग के अनन्तर मृत्यु के बन्धनों तो तोड़कर 'शोकरहित होकर स्वर्गलोक में आनन्द करता है।

इस प्रकार यमराज ने निचकेता से कहा कि हे नचिकेता ! यही वह अग्नि है जो स्वर्ग का साधनभूत है, जिसको तुमने दूसरे वर के रूप में वरण किया था। लोग इस अग्नि को तुम्हारे नाम से कहेंगे, अब तुम तीसरा वर मांगो।

नचिकेता ने तृतीय वर के रूप में आत्मा के यथार्थ का परिज्ञान प्राप्त करना चाहा, जिसके लिए उसने यमराज से कहा कि प्रभो ! मनुष्य के मृत हो जाने पर जीवात्मा के अस्तित्व के विषय में यह सन्देह किया जाता है कि वर्तमान शरीर के त्याग के अनन्तरआत्मा रहता है या नहीं, कुछ लोग कहते हैं कि वह रहता है, कुछ लोग कहते हैं, वह नहीं रहता है, इस विषय में आप ही मुझे सुशिक्षित कीजिए। यही मेरा तीसरा वर समझिए।

जीवात्मा और परमात्मा की तत्त्वत: एकता है जिसका परिज्ञान किसी अधिकारी पात्र को ही प्राप्त होता है, वह पात्रता नचिकेता में हैं या नहीं इसकी परीक्षा लेने के लिए यमराज ने नचिकेता को अनेक प्रलोभन दिये। उन्होंने नचिकेता से कहा, कि प्राचीन काल में देवताओं ने भी इस विषय में सन्देह किया था, क्योंकि यह आत्मतत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म है, कथमपि सरलता से जानने योग्य नहीं है, इस के स्थान पर कोई दूसरा वरदान मांग लो, इसे मेरे लिये ही छोड़ दो।

नचिकेता ने यमराज के इस प्रकार कहने पर पुन: निवेदन किया कि प्रभो! आप तो कहते हैं

कि प्राचीन काल में देवताओं ने भी इसके विषय में सन्देह किया था, और यह अत्यन्त सरलता से जानने योग्य नहीं है, इससे स्पष्ट है कि इसके समान कोई दूसरा वर हो ही नही सकता तथा आप इस तथ्य से भलीं भांति परिचित हैं अत: आप जैसा कोई दूसरा उपदेष्टा भी नहीं मिल सकता है, अत: मुझे तृतीय वर के रूप में आत्मतत्त्व का यथार्थ परिज्ञान ही प्रदान कीजिये।

नचिकेता की दृढ़ता देखकर यमराज ने उसे अनेक प्रकार प्रलोभन देते हुए कहा, कि हे नचिकेता! तुम शतायु पुत्र पौत्र, अनेक पशु हाथी, घोड़े, सुवर्ण मांग लो, विस्तृत भूमण्डल लेकर जितने वर्ष जीने की इच्छा हो उतनी लम्बी आयु मांग लो, इसके समान यदि तुम कोई और दूसरा वर समझते हो, तो उसे मांग लो, अपार धन सम्पत्ति तथा चिरस्थायिनी जिविका मांग लो, इस पृथ्वी पर अनन्त काल तक इच्छानुसार भोग मांग लो, इस मनुष्य लोक में जो जो भोग्य पदार्थ दुर्लभ हैं, उन समस्त भोगों को स्वेच्छानुसार मांग लो, रथ एवं वाद्ययन्त्रों सहित ये अनेक रमणियां हैं, जो कभी भी मानवों को प्राप्त नहीं हो सकती, मेरे द्वारा तुम इन्हें प्राप्त करो, इनसे अपनी परिचर्या कराओं, परन्तु मरण के अनन्तर आत्मतत्त्व के विषय में मत पूछो।

इस प्रकार यमराज के द्वारा अनेक प्रकार का प्रलोभन दिये जाने पर भी किसी भी तरह विचलित न होते हुए नचिकेता ने कहा, प्रभो ! आप के द्वारा दिये जाने वाले समस्त भोग्य पदार्थ अत्यन्त क्षणिक हैं, तथा मनुष्य की सारी इन्द्रियों का तेज नष्ट कर देने वाले हैं क्योंकि मनुष्य का जीवन ही अत्यल्प है, जो भोग्य विषयों के द्वारा अल्प समय में ही नष्ट हो सकता है, अत: वाहन के साधन हाथी घोड़े तथा मनोरंजन के साधन नाच गान आप के पास ही रहें, हमें तो केवल आत्मतत्त्व के विषय में यथार्थ परिज्ञान करा दीजिये, क्योंकि मनुष्य को धन सम्पत्ति से सन्तुष्ट नहीं किया जा सकता है, जहां तक उसेकी प्राप्ति का सम्बन्ध है तो यदि आप को प्राप्त कर लिया है, तो आपके प्रसाद से धन सम्पत्ति भी प्राप्त कर लूंगा, और जब तक आप शासन करेंगे, तब तक के लिए जीवन भी आप के ही प्रसाद से प्राप्त कर लूंगा, परन्तु आप के अतिरिक्त मैं अन्य किसी से आत्मतत्त्व का यथार्थ परिज्ञान नहीं प्राप्त कर सकूंगा, अत: मेरे लिए तो वही वर तृतीय वर के रूप में वरण करने योग्य है।

हे प्रभो ! कौन ऐसा मरणशील मनुष्य अमरण धर्मा आप जैसे देवों के पास पहुंचकर भी आत्मतत्त्व परिज्ञान न चाह कर स्त्री संभोगादि क्षणिक एवं अस्थिर सुखभोगों में अपना लम्बा जीवन व्यतीत करना चाहेगा। इसलिए हे प्रभो ! जिस आत्मतत्त्व के विषय में देवता लोग भी जानना चाहते हैं, तथा शरीर त्याग के अनन्तर वह आत्मा जिस परलोक में रहता है, जिसका परिज्ञान अत्यन्त सूक्ष्म तथा गुह्य है, उसके अतिरिक्त नचिकेता कोई दूसरा वर नहीं चाहता है।

मूल्याङ्कन -

इस इकाई में यम और नचिकेता के बीच हुए सम्वाद का वर्णन है, जिसमें नचिकेता के द्वारा मांगे तीन वरदानों का उल्लेख है। तृतीय वर के रूप में नचिकेता ने अमृतत्व प्राप्त करना चाहा है, नचिकेता का विनम्र चरित्र पाठकों के समक्ष एक अनुपम आदर्श उपस्थित करता है। जब वह देखता है कि पिता जी जीर्ण-शीर्ण गलित-पलित गायों को ब्राह्मणों को दे रहे हैं तथा दूध देने वाली अच्छी एवं पुष्ट गायें मेरे लिए रख रहे हैं तो बाल्यावस्था होने पर भी उसकी पितृभक्ति उसे चुप नहीं रहने देती, और बाल सुलभ चापल्य से वह अपने पिता वाजश्रवस से पूछ बैठता है, "**तत ! कस्मै मा दास्यसि**" वस्तुत: उसका यह प्रश्न ठीक ही था, क्योंकि विश्वजित् याग में सर्वस्व दान करने की विधि है, जिसमें अपने तथा अपने कौटुम्बिकों के लिए कुछ भी नहीं रखा जाता, किन्तु नचिकेता के पिता ने उसके प्रति मोह के कारण याजक ब्राह्मणों को बूढ़ी गायें देकर अच्छी पुष्ट गायें उसके निमित्त रख छोड़ी थी, पिता की यह आसक्ति वेदोक्तविधि के विपरीत थी, जो उन्हें नरक में ले जाने वाली थी, अत: पिता को बचाने

के लिए पुत्रमोह का भङ्ग होना आवश्यक था, इसलिए नचिकेता के अनेक बार पूछने पर पिता ने क्रोधवश कहा, कि मैं तुम्हें मृत्यु को देता हूँ।

पिता को एक पाप से बचाने के प्रयास में नचिकेता ने एक और पाप में उन्हें फंसता देखकर उनके वचन को सत्य प्रमाणित करने के लिए मृत्यु देवता यम के पास जाने का निश्चय कर लिया। तदनन्तर पिता से विदा लेकर नचिकेता यम लोक पहुंचा, वहां तीन दिन तक यम से भेंट नहीं हुयी, बिना अन्न जल के तीन दिन के बाद यमराज से भेंट होने पर यमराज ने तीन वर मांगने के लिए कहा।

नचिकेता ने प्रथम वर के रूप में अपने खिन्न पिता के सौमनस्य एवं मानसिक शान्ति की याचना की, द्वितीय वर से स्वर्ग के साधन भूत अग्निविद्या के ज्ञान की याचना की, तृतीय वर से निश्रेयस या मोक्ष के साधनभूत आत्मज्ञान की याचना की।

इस प्रकार नचिकेता ने यमराज से जो उक्त तीन वर मांगे, उनके क्रम में भी एक अद्भुत रहस्य है, उसका पहला वर था पितृपरितोष । वह पिता के सत्य की रक्षा के लिए उनकी इच्छा के विरुद्ध यमलोक चला आया था, इससे उसके पिता स्वभावत: बहुत खिन्न थे, इसलिए उसे सबसे पहले यही आवश्यक प्रतीत हुआ कि पिता जी को शान्ति मिलनी चाहिए, इसलिए सबसे पहले उसने यही वर मांगा। लौकिक शान्ति के बाद मनुष्य को स्वभावत: पारलौकिक सुख की इच्छा होती है, नचिकेता में इस इच्छा का मुख्य कारण लोक कल्याण की भावना थी। उसका विचार था कि यज्ञ विद्या की जानकारी हो जाने पर मनुष्य इसके द्वारा स्वर्गादि लोक प्राप्त कर सकेंगे और शोकातीत हो जाएंगे, क्योंकि जन्म-जरा-मृत्यु तथा क्षुधा पिपासा आदि दु:ख स्वर्ग लोक में नहीं हैं, और यह स्वर्गलोक यज्ञविद्या के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। अत: यज्ञविद्या के साधनभूत आग्निविज्ञान को दूसरे वर के रूप में याचना की।

नचिकेता जानता था कि यज्ञ विज्ञान के सकाम अनुष्ठान से तो स्वर्गादि उत्तम लोकों की प्राप्ति होती है, निष्काम अनुष्ठान से चित्त शुद्धि होती है, बिना चित्तशुद्धि के आत्मस्वरूप का चिन्तन नहीं हो सकता, बिना आत्म चिन्तन के आत्म साक्षात्कार नहीं हो सकता । अत: तृतीय वर के रूप में उसने आत्मतत्त्व के यथार्थ परिज्ञान की याचना की।

बोध प्रश्नोत्तर

प्र. 'उपनिषद्' का वास्तविक अर्थ क्या है?

उ. ब्रह्मविद्या तथा उसके उद्‌वोधक ग्रन्थ को उपनिषद् कहते हैं।

प्र. कठोपनिषद् किस वेद शाखा से सम्बद्ध है?

उ. कठोपनिषद् का सम्बन्ध कृष्ण यजुर्वेदीय कठशाखा से है।

प्र. कठोपनिषद् का वाङ्मय स्वरूप क्या है?

उ. कठोपनिषद् दो अध्यायों में विभक्त है तथा प्रत्येक अध्याय में तीन-तीन वल्लियां हैं।

प्र. कठोपनिषद् का मुख्य वर्ण्य विषय क्या है।

उ. कठोपनिषद् का मुख्य वर्ण्य विषय आत्मज्ञान है, उसी का निरूपण प्रथम अध्याय के द्वितीय-तृतीय वल्ली तथा द्वितीय अध्याय के तीनों वल्लियों में किया गया है।

प्र. कठोपनिषद् के वर्ण्य विषय के उपस्थापन का माध्यम क्या है।

उ. यम और नचिकेता के बीच सम्पन्न हुये संवाद के माध्यम से आत्मज्ञान या ब्रह्मविद्या का निरूपण किया गया है।

प्र. नचिकेता कौन है।

उ. नचिकेता वाजश्रवस का पुत्र है, कठोपनिषद् में वाजश्रवस को औद्दालकि और गौतमि नाम

से भी कहा गया है। इससे ज्ञात होता है कि वह गौतमगोत्रीय उद्दालक के पुत्र हैं।

प्र. नचिकेता ने यमराज से कितने और कौन वर प्राप्त किये।

उ. नचिकेता ने यमराज से तीन वरदान प्राप्त किये, (1) पितृपरितोष, (2) स्वर्गसाधनभूत अग्निविद्या का परिज्ञान, (3) आत्मज्ञान।

प्र. योगक्षेम किसे कहते हैं।

उ. किसी अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति का नाम योग कहलाता है, और प्राप्त वस्तु की रक्षा का नाम क्षेम कहलाता है, योगक्षेम का परिवहन परमेश्वर करता है, उसी का कथन है, **"योगक्षेमं वहाम्यहम्"**।

द्वितीय इकाई-कठोपनिषद् का सामान्य अध्ययन

इकाई की रूपरेखा

1. उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. इकाई की परिधि
4. प्रतिपाद्य सारांश
5. मूल्याङ्कन
6. पारिभाषिक शब्दावली
7. बोध प्रश्नोत्तर

उद्देश्य - इस इकाई में कठोपनिषद् के प्रथम अध्याय के प्रथम इकाई में निर्धारित प्रतिपाद्य सारांश समझ लेने के बाद -

(i) आप कठोपनिषद् के प्रथम अध्याय के द्वितीय एवं तृतीय वल्लियों के प्रतिपाद्य सारांश की जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

(ii) आप श्रेय एवं प्रेय के अर्थगत भिन्नता को अच्छी तरह समझ सकते हैं।

(iii) आप निश्रेयस-मोक्ष की प्राप्ति के साधन के रूप में आत्मज्ञान का परिज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

(iv) आत्मा के स्वरूप का परिचय प्राप्त करने के उद्देश्य से जीव एवं जगत् का भी परिचय प्राप्त कर सकते हैं।

(v) यम और नचिकेता के संवाद के माध्यम से आप आत्मा की सर्वव्याकता, तथा शरीरान्तर्वर्ती होने पर भी शरीर के अनित्यत्वादि धर्मों से अस्पृष्ट रहने की प्रामाणिक जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

(vi) जीवात्मा और परमात्मा के सहैकत्व तथा अभिन्नता को आप रथ रूपक के माध्यम से समझ सकते हैं।

प्रस्तावना -

कठोपनिषद् के प्रथम अध्याय के प्रथम वल्ली का प्रतिपाद्य सारांश आप प्रथम इकाई में पढ़ चुके हैं। इस द्वितीय इकाई में कठोपनिषद् के प्रथम अध्याय के द्वितीय एवं तृतीय वल्लियों के प्रतिपाद्य सारांश का सामान्य अध्ययन करेंगे। प्रथम इकाई में यम के द्वारा नचिकेता को तीन वरदान दिये जाने का उल्लेख किया गया है जिसमें प्रथम वरदान पितृपरितोष तथा द्वितीय वरदान स्वर्गसाधनभूत अग्निविद्या के विषय में जानकारी दी जा चुकी है, अब आप आत्मज्ञान के विषय में जानकारी प्राप्त करेंगे, जिसे नचिकेता ने तृतीय वरदान के रूप में प्राप्त करना चाहा है।

इकाई की परिधि -

कठोपनिषद् कृष्ण यजुर्वेदीय कठ शाखा से सम्बन्धित उपनिषद् है। इसमें कुल दो अध्याय हैं, जिसमें तीन-तीन बल्लियां हैं। प्रथम इकाई में कठोपनिषद् के प्रथम अध्याय की प्रथम वल्ली रखी गयी है, प्रस्तुत द्वितीय इकाई में कठोपनिषद् के प्रथम अध्याय की द्वितीय एवं तृतीय बल्ली रखी गयी हैं, इसमें द्वितीय बल्ली के 25 श्लोक तथा तृतीय वल्ली के 17 श्लोक कुल 42 श्लोकों में निहित तथ्यों का सामान्य अध्ययन करना है यही द्वितीय इकाई की अध्ययन परिधि है।

इकाई का प्रतिपाद्य सारांश

प्रथम इकाई में नचिकेता ने यमराज से तृतीय वर के रूप में आत्मज्ञान की याचना की है, जिसे यमराज ने अनेक प्रलोभनों द्वारा टालना चाहा है, परन्तु नचिकेता अपनी याचना पर दृढ़ है, वह कहता है कि जो आत्म ज्ञान अत्यन्त सूक्ष्म तथा गुह्य है, जिसके विषय में देवतागण भी जिज्ञासु बने रहते हैं, उस आत्मज्ञान के अतिरिक्त नचिकेता कोई दूसरा वरदान नहीं चाहता है। इसके अनन्तर यमराज अनेकों प्रकार से नचिकेता की परीक्षा कर तथा उसमें आत्मविद्या के ग्रहण की योग्यता देखकर धीरे - धीरे उपदेश करना प्रारम्भ करते हैं। उन्होंने बतलाया कि श्रेय और प्रेय दो प्रकार की वस्तुयें पुरुष को अपने अपने प्रयोजन से अपने तरफ खींचती है तथा पुरुष को बांध लेती हैं, उनमें से श्रेय को ग्रहण करने वाला पुरुष कल्याण को प्राप्त होता है, और प्रेय का वरण करने वाला पुरुष परम पुरुषार्थ मोक्ष से च्युत हो जाता है। नचिकेता ने पूछा कि यदि श्रेय और प्रेय दोनों में से किसी एक को ग्रहण करने में मनुष्य स्वतन्त्र है तो क्यों? अधिकाधिक लोग प्रेय को ही स्वीकार करते हैं, इस प्रकार के उत्तर में यमराज ने कहा कि श्रेय और प्रेय दोनों मिलित रूप से मनुष्य के पास आते हैं, बुद्धिमान पुरुष उन दोनों को भलीभांति जानकर अलग-अलग कर लेता है तथा विवेक द्वारा श्रेय को ही वरण करता है, जबकि मूढ़ लोग सांसारिक सुखभोग एवं योगक्षेम के लिए प्रेय का वरण करते हैं, क्योंकि सामान्य व्यक्ति का सारा जीवन अभीष्ट वस्तुओं के अर्जन और उसके संरक्षण में ही बीत जाता है।

परन्तु हे नचिकेता ! तुमने उस प्रेयरूप पुत्र वित्तादि तथा अप्सरादि स्वर्गीय भोगों को भी इसकी अनित्यता और असारता समझकर त्याग कर दिया, और इस धनमयी गति को नहीं प्राप्त हुये, जिसमें अनेकानेक लोग डूब जातें हैं। श्रेय और प्रेय जो विद्या और अविद्या रूप से जानी जाती हैं, ये दोनों परस्पर अत्यन्त विरुद्ध और विभिन्न दिशाओं को ले जाने वाली गतियाँ है, अर्थात् विभिन्न फल देने वाले मार्ग हैं, मैं तुम नचिकेता को विद्या का अभिलाषी मानता हूं, क्योंकि अनेक प्रकार के प्रलोभन-काम्य पदार्थ तुमको अपने लक्ष्य से च्युत नहीं कर सके। जबकि अविद्या के अभिलाषी अपने आप को पण्डित मानने वाले मूढ़ पुरुष निरन्तर टेढ़े मेढ़े मार्गों से चलते हुये उसी तरह भटकते रहते हैं, जैसे किसी अंधे पुरुष के द्वारा ले जाया जाने वाला अन्धा पुरुष भटकता है। धन के मोह में अन्धे हुये मनुष्य को अपनी मूढ़ता के कारण परलोक नहीं दिखाई पड़ता है, यहीं सब सुख है, परलोक कुछ नहीं है ऐसा मानने वाला प्रमादी पुरुष बार-बार मेरे वशीभूत होकर जन्ममरण की परम्परा को प्राप्त होता है और इसी संसार में वह संसरण करता रहता है, तथा कभी भी आवागमन से वह मुक्त नहीं हो पाता।

हे नचिकेता ! आत्मज्ञान अत्यन्त दुर्लभ है, क्योंकि आत्मा बहुतों को तो सुनने के लिए भी प्राप्य नहीं है, सुनने वालों में भी बहुत से लोग उसे जान नहीं पाते हैं, उस आत्मा का निरूपण करने वाला कोई दुर्लभ महान् पुरुष ही होता है और उसको प्राप्त करने वाला भी अत्यन्त मेधावी कुशल कोई दुर्लभ ही होता है क्योंकि अनेक प्रकार से विचार करने पर भी आत्मा, प्राकृत जन के द्वारा उपदिष्ट होने पर अच्छी तरह नही जाना जा सकता है, किसी तत्त्वदर्शी आचार्य के द्वारा उपदिष्ट होने पर ही इसमें कोई तर्क अथवा विकल्प अवशिष्ट नहीं रह जाते, क्योंकि यह आत्मा सूक्ष्म परिमाण वालों से भी सूक्ष्मतर है, अत: सभी प्रकार के विकल्प अथवा तर्क से परे है। हर्ष है कि तुम सत्य सङ्कल्प तथा अच्छी बुद्धिवाले हो, तुम्हारे जैसा प्रश्नकर्ता ही आत्मा के सम्यक् ज्ञान का अधिकारी हो सकता है। हे नचिकेता ! मैं जानता हूँ कि कर्म से प्राप्त होने वाला फल अनित्य है, और आत्मा नित्य तत्त्व है वह अनित्य साधनों के द्वारा प्राप्त होने योग्य नहीं है, मेरे द्वारा तो नाचिकेताग्नि, जिसका मैंने अभी तुम्हें उपदेश दिया है, का चयन किया गया, जिसके परिणाम स्वरूप आपेक्षिक नित्य स्थान यमलोक को प्राप्त किया हूँ। परन्तु तुमने तो अपने धैर्य एवं बुद्धिमत्ता से यज्ञों के अनन्त फल का भी परित्याग कर दिया है, अत: तुम्हीं एकमात्र आत्मतत्त्व के परिज्ञान के अधिकारी हो, बुद्धिमान् पुरुष अपनी बुद्धि में प्रकाशित उस आत्मतत्त्व का साक्षात्कार कर तदैक्य भावापन्न होकर हर्ष और शोक को त्याग देता है, अर्थात् उससे परे हो जाता है।

पुन:यम ने कहाकि मनुष्य, अपने तत्त्वदर्शी उपदेष्टा आचार्य के अनुग्रह से आत्मतत्त्व को भलीभांति समझकर शरीर और इन्द्रियादि धर्मों से अपने को पृथक् कर सूक्ष्म आत्मतत्त्व को आनन्द के रूप में प्राप्त करके आनन्दित हो जाता है, तुम इस योगमार्ग से सूक्ष्म आत्म तत्त्व को प्राप्त कर सकते हो, तुम्हारे लिए ब्रह्म लोक का द्वार खुला है, ऐसा मैं समझता हूँ।

यम से इतनी बात सुनकर नचिकेता के चित्त में पूर्वत: वर्तमान आत्मतत्त्व जिज्ञासा नवीकृत हो गयी, अत: उसने पुन: अपनी जिज्ञासा प्रकट करते हुए पूछा, प्रभो ! आप जिस तत्त्व को शरीरेन्द्रिय धर्मों से पृथक् तथा कार्यकारण रूप प्रपञ्च से भी पृथक् समझते हैं, तथा जो आपके अनुसार भूत, भविष्य और वर्तमान वस्तुओं से सर्वथा भिन्न है, उसी तत्त्व का मुझे उपदेश करें।

नचिकेता के इस प्रकार की तत्त्वजिज्ञासा को सुन कर यमराज ने उसे ओंकार का उपदेश देते हुये बतलाया कि सारे वेद जिस पद का बार-बार वर्णन करते हैं, जिसकी प्राप्ति के लिए समस्त तप: साधन बतलाये जाते हैं, जिसकी प्राप्ति की कामना से ही मुमुक्षुजन ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं, उस पद को मैं तुमसे संक्षेप में कहता हूं- ॐ यही वह पद है। यह 'ॐ ' अक्षर ही अपर ब्रह्म है और यही परब्रह्म है, इस अक्षर को ही जानकर जो जिसकी इच्छा करता है वही उसका हो जाता है। यही ओंकार ही आत्मा की उपासना का श्रेष्ठ आलम्बन है, यही मन के ध्यान का उत्तम आलम्बन है, इस आलम्बन को जानकर पुरुष ब्रह्मलोक को प्राप्त कर लेता है।

यमराज ने जिस आत्मतत्त्व की उपासना के लिए ओंकार को आलम्बन बताया, अब उसी का स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं कि यह आत्मा नित्य चैतन्य स्वरूप हैं, यह न कभी उत्पन्न होता है, और न कभी मरता है, यह अजन्मा नित्य अक्षय, पुरातन है, शरीर के नष्ट हो जाने पर भी यह नष्ट नहीं होता है। यदि कोई मारने वाला आत्मा को मारने अथवा नष्ट करने के लिए सोचता है तथा मारा जाने वाला आत्मा को मरा हुआ समझता है, तो वे दोनों ही आत्मा को नहीं जान सके, वस्तुत: वह आत्मा न किसी को मारता है और न किसी के द्वारा मारा जा सकता है।

वह आत्मा तो अणु से भी अणुतर तथा महान् से भी महत्तर है, वह समस्त प्राणियों के हृदय रूप गुहा में स्थित रहता है, निष्काम पुरुष अपनी इन्द्रियों की निर्मलता से उस आत्मा को तथा उसकी महिमा को देख लेता है और शोकरहित हो जाता है। निष्काम जितेन्द्रिय पुरुष ही आत्मा को प्राप्त कर सकता है, क्योंकि प्रतीतित: विरुद्ध स्वभाव वाला होने से यह प्राकृत पुरुषों के लिए सर्वथा दुर्विज्ञेय है। बुद्धिमान् पुरुष समस्त शरीरों में अशरीरी अर्थात् अनित्यों में नित्यरूप से स्थित, महान् तथा सर्वव्यापक उस आत्मा को जानकर शोक नहीं करता है। यह आत्मा न तो प्रवचन से, न धारणात्मक बुद्धि से और न बहुत श्रवण से ही प्राप्त होने योग्य है, जिस साधक को यह आत्मा वरण कर लेता है उसी के द्वारा वह प्राप्त होने योग्य होता है, उसी साधक के प्रति यह आत्मा अपने स्वरूप को प्रकट कर देता है। जो पुरुष, पापकर्मों से निवृत्त नहीं हुआ है, जिनकी इन्द्रियां शान्त नहीं हुयी हैं, जिनका मन समाहित नहीं हुआ है, वह केवल शुष्क ज्ञान से आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकता है।

तीन बार नाचिकेत अग्नि का चयन करने वाले तथा आहवनीय - गार्हपत्य - दक्षिणाग्नि - सभ्य - आवसथ्य इन पांचों अग्नियों की उपासना करने वाले सद्गृहस्थ जन तथा ब्रह्म को जानने वाले ब्रह्मवेत्ता लोग, दोनों ही इस तथ्य को बतलाते हैं कि समस्त शरीर में बुद्धिरूपी गुहा के अन्दर प्रकृष्ट ब्रह्मस्थान में प्रविष्ट होकर स्वकृत कर्म का फल भोगने वाले छाया और आतप के समान मलिन एवं शुभ्र दो तत्त्व विद्यमान रहते हैं, जिन्हें दर्शनान्तर में द्वासुपर्णा आदि शब्दों से कहा गया है, वही जीवात्मा और परमात्मा हैं।

नाचिकेताग्नि तो यज्ञ के द्वारा स्वर्गादि सुख वालों के लिए सेतु के समान है तथा संसार सागर को पार करने की इच्छा वालों के लिए आत्मज्ञान ही सेतु के समान है। अत: कर्ममार्गी के लिए यज्ञ विद्या का ध्यान तथा ज्ञानमार्गी के लिए ब्रह्मविद्या का ज्ञान परमावश्यक है, यमराज ने रथरूपक के द्वारा

नचिकेता को ब्रह्मविद्या का उपदेश करते हुये कहा --

हे नचिकेता ! अपने शरीर के अन्दर छिपे हुये आत्मा को पहले जानो, तुम्हारा शरीर ही रथ है, और आत्मा को रथी समझो, वुद्धि को सारथि समझो और मन को लगाम समझो, कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियों को अश्व ससझो और शब्द स्पर्शादि इन्द्रिय विषयों को उनका मार्ग समझो, इस प्रकार शरीर-इन्द्रिय-मन से युक्त आत्मा ही भोक्ता जीव कहलाता है।

जो सारथी शिथिल लगाम वाला होता है अर्थात् जो वुद्धि सदा अविवेकी एवं असमाहित मन से युक्त होती है, उसके इन्द्रिय रूपी दुष्ट घोड़े कभी भी वश में नहीं रहते। किन्तु वुद्धि-सारथी जो सदा विवेकी एवं समाहित मन से युक्त रहता है, उसके वश में इन्द्रियां उसी प्रकार रहती हैं, जैसे कुशल सारथी के वश में अच्छे घोड़े रहते हैं।

इसी प्रकार जो सदा विवेक रहित, असावधान मनवाला तथा अपवित्र रहता है, वह उस परम पद को नहीं प्राप्त कर पाता है, अपितु संसार के जन्म मृत्यु शृंखला को प्राप्त होता हैं और जो सदा विवेक मुक्त सावधान मनवाला पवित्र रहता है, वह उस परमपद को प्राप्त कर लेता है,. जहाँ से पुन: उत्पन्न नहीं हुआ जाता है। जो विवेक युक्त वुद्धि रूपी सारथी से युक्त और मनरूपी लगाम से इन्द्रिय रूपी घोड़ों को वश में रखने वाला होता है, वह मनुष्य संसार मार्ग के पार में स्थित परमात्मा के उस परम पद को प्राप्त कर लेता है। बलवान् इन्द्रिय समूह को उनके प्रिय तथा असत् मार्ग से हटाने के लिए अभ्यास एवं विषय वैराग्य की आवश्यकता होती हैं, क्योंकि इन्द्रियों से उनके विषय (शब्द स्पर्शादि) सूक्ष्म हैं, विषयों से मन सूक्ष्म है, मन से बुद्धि सूक्ष्म है, बुद्धि से जीवात्मा (हिरण्यगर्म) सूक्ष्म है, जीवात्मा से अव्यक्त (प्रकृति या माया) सूक्ष्म है, अव्यक्त से पुरुष सूक्ष्म है, पुरुष से सूक्ष्म अथवा श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है, वहीं सूक्ष्मता की चरम सीमा है, वही प्राप्तव्य अथवा गन्तव्य है। सभी प्राणियों में छिपा हुआ यह आत्मा स्वयं प्रकाशित नहीं होता है, अपितु सूक्ष्मदर्शी विद्वानों द्वारा कुशाग्र बुद्धि से ही देखा जाता है। विवेकी पुरुष इन्द्रियों का मन में, मन का बुद्धि में बुद्धि को जीवात्मा हिरण्यगर्म में, हिरण्यगर्भ को निष्कल निर्विशेष ब्रह्म में लीन कर लेता है इसलिए हे नचिकेता ! तुम भी इसी प्रकार आत्मज्ञान के प्रति उन्मुख होवो, अज्ञान निद्रा को त्याग कर ज्ञान प्राप्त करने के लिए उद्यत हो जावो, श्रेष्ठ आचार्यों को प्राप्त कर परमात्मा को जान लो, क्योंकि इस मार्ग को तत्त्वज्ञानी छुरे की तेज की हुयी दुस्तर धार की तरह अत्यन्त दुर्गम बतलाते हैं।

आत्मा, शब्दस्पर्शरूपरसगन्ध से सर्वथा रहित है, वह नित्य अविनाशी, अनादि तथा अनन्त है, वह बुद्धि तत्त्व से परे कूटस्थ अर्थात् निश्चल है, उसी आत्मा को जानकर साधक मृत्यु के मुख से छूट जाता है।

मूल्यांङ्कन - इस इकाई में यमराज द्वारा नचिकेता को दिये गये तृतीय वर के रूप में आत्मज्ञान की चर्चा की गयी है। आत्मज्ञान, निश्रेयस् अर्थात् मोक्ष का साधन है, अब प्रश्न यह उठता है कि उस आत्मा का स्वरूप किस प्रकार का है, जब जगत् के दृश्यमान सभी पदार्थ नश्वर हैं, अनित्य ह, तो क्या जीवात्मा मनुष्य भी इसी प्रकार अनित्य और नश्वर है, क्या उसके दृश्यमान शरीरादि के नष्ट हो जाने पर कुछ भी नहीं बचता? इन्हीं प्रश्नों के उत्तर में यमराज ने निष्कर्ष रूप से नचिकेता को यह बताया, कि शरीर के नष्ट हो जाने पर भी जो नष्ट नहीं होता है अपितु नित्य एवं अविनश्वर बना रहता है, वही आत्मा है, और वही वस्तुत: मनुष्य का वास्तविक स्वरूप है।

नचिकेता के प्रति यमराज के उपदेश का यही निष्कर्ष है कि मनुष्य मृत्यु के बाद भी रहता है, शरीर से नही स्वरूप से, आत्मा शब्द स्वरूप का वाचक है, मनुष्य का आत्मस्वरूप नित्य तथा अविनाशी है, न उसका जन्म होता है, न उसकी मृत्यु, शरीर का ही जन्म होता है, उसी की मृत्यु भी होती है, आत्मत्त्व मृत्यु से परे नित्य अविनाशी तत्त्व है, यमराज ने आत्मा को निम्न शब्दों में अभिव्यक्त किया है।

न जायते म्रियते वा विपश्चित् नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।

क० 1/2/18

यमराज ने आत्मा के विषय में यह भी स्पष्ट किया कि वह शरीर में स्थित होकर भी उसके धर्मों से रहित है, वह अनित्य पदार्थों में नित्य रूप से स्थित है, सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर तथा स्थूल से भी स्थूलतर है। वे कहते हैं, कि अत्यन्त सूक्ष्मतर उस आत्मा की प्राप्ति सूक्ष्मतम पदार्थ को देखने की अभ्यस्त हुयी सूक्ष्म बुद्धि से ही हो सकती है, सांसारिक प्रपञ्चों में उलझी हुयी स्थूल बुद्धि से नही।

इस प्रकार कोई धीर साधक ही अमृतत्व प्राप्ति की इच्छा से योग का साधन करता हुआ, कालान्तर में उन्मीलित नेत्र होने पर प्रत्यगात्मा का दर्शन कर पाता है। प्रथम अध्याय की तृतीय वल्ली रथरूपक के माध्यम से इसी साधन प्रक्रिया का उन्मीलिन करती है। रथरूपक में यह बतलाया गया है कि इस शरीर के भीतर बुद्धि रूपी गुहा में स्थित परम प्रकृष्ट ब्रह्म स्थान हृदयाकाश में छाया और आतप की तरह दो विलक्षण तत्त्व बैठे हुये हैं, जिनमें एक छाया की तरह मलिन संसारी जीवात्मा है, जो अपने शुभाशुभ कर्मों का फल भोग रहा है, और दूसरा आतप की तरह देदीप्यमान असंसारी परमात्मा है, जो क़्लेश कर्मादि से रहित होने के कारण फल का भोक्ता नहीं है। इस प्रकार इस इकाई में जीवात्मा और परमात्मा इन दोनों पृथक्-पृथक् तत्त्वों का विवेचन किया गया है। वस्तुतः जीवात्मा परमात्मा से अभिन्न होने पर भी संसारावस्था में अविद्या के कारण भिन्न दिखाई देता है।

ब्रह्म से वस्तुतः अभिन्न भी जीव अविद्या काम-कर्मादि के सम्पर्क से जन्म-मृत्यु परम्परा में बंध जाता है। इसी बन्धन के विमोक्ष के लिए जीव को कठिन ज्ञान साधना करनी पड़ती है, उस साधना में जीव साधक होता है, और परमात्मा साध्य। संक्षेप में कह सकते हैं कि जीव परमात्मा की उपासना करके उसके अनुग्रह से आत्मस्वरूप साक्षात्कार करने में समर्थ हो जाता है, यह आत्मस्वरूप उस पर ब्रह्म परमात्मा से अभिन्न होता है, परन्तु यह तभी सम्भव है, जब उसके इन्द्रिय, मन, बुद्धि सब आत्मवशीभूत हों, असंयत इन्द्रिय, स्वच्छन्द मन तथा विकृतबुद्धि से जीव कभी साधना कर ही नहीं सकता है। इसी तथ्य को सुस्पष्ट करने के लिए यम ने रथ रूपक की योजना की है। उनका कथन है कि जीवात्मा रथी है, शरीर रथ है, बुद्धि सारथी है, और मन लगाम है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं, विषय उनके संचरण मार्ग हैं तथा शरीर इन्द्रिय मन और बुद्धि से युक्त जीवात्मा भोक्ता है, जैसे - अभीष्ट गन्तव्य पर सुरक्षित पहुंचने के लिए रथी के सारथी को सजग सावधान रहकर लगाम के द्वारा घोड़ों को सही मार्ग पर चलाना आवश्यक होता है, उसी प्रकार मानव जीवन के यथार्थ गन्तव्य परमात्मा तक सुरक्षित पहुंचने के लिए मानव को, बुद्धि को सावधान रहकर, इन्द्रियों के नियामक मन को अपने नियंत्रण में रखकर उसके माध्यम से कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियों को स्ववश कर सदाचार मार्ग से यात्रा करनी चाहिए। सारथी के असावधान होने पर लगाम के शिथिल होते ही घोड़े नियतमार्ग छोड़कर रथ एवं रथी दोनों को गहरे गर्त में गिरा सकते हैं, इसी प्रकार बुद्धि के विकृत होने पर मन अनियन्त्रित हो जाता है, मन के अनियन्त्रित होने पर इन्द्रियाँ स्वच्छन्द हो जाती हैं, इन्द्रियों के स्वच्छन्द विषयासक्त हो जाने पर जीव सन्मार्ग से भ्रष्ट हो जाता है तथा वह अपने परम लक्ष्य परमात्मा की प्राप्ति तक नहीं पहुंच पाता है, पुनः पुनः जन्म-मृत्यु के आवागमन में ही संसरण करता रहता है। इस प्रकार रथ रूपक के माध्यम से यमराज ने नचिकेता को आत्मतत्त्व की प्राप्ति के लिए साधन मार्ग का सदुपदेश दिया।

बोध प्रश्नोत्तर

प्र. कठोपनिषद् प्रथम अध्याय की द्वितीय वल्ली में किसका प्रतिपादन किया गया है।

उ. कठोपनिषद् प्रथम अध्याय की द्वितीय वल्ली में श्रेय एवं प्रेय का प्रथमतः प्रतिपादन करके आत्मस्वरूप का विस्तृत विचार किया गया है।

प्र. कठोपनिषद् प्रथम अध्याय की तृतीय वल्ली में मुख्यत: किसका प्रतिपादन किया गया है।

उ. कठोपनिषद् प्रथम अध्याय की तृतीय वल्ली में मुख्यत: रथरूपक का वर्णन किया गया है, जिसमें रथ, रथी, सारथी, लगाम, घोड़े एवं उनके मार्गों की चर्चा करते हुए आत्मतत्त्व की प्राप्ति हेतु उनकी जागरूकता आवश्यक बतलायी गयी है।

प्र. छाया और आतप से किसका निर्देश किया गया है।

उ. मनुष्य के शरीरान्तर्गताकाश में जीवात्मा और परमात्मा दोनों की सहोपस्थिति को छाया और आतप की भांति बतलाया गया है। छाया मलिनसत्व होने के कारण जीवात्मा, तथा आतप निर्मल एवं शुभ्र होने के कारण परमात्मा के रूप में वर्णित होता है।

प्र. गूढोत्मा किसे कहते हैं?

उ. सभी प्राणियों में छिपा हुआ आत्मा गूढोत्मा कहा जाता है। यह जीवात्मा एवं परमात्मा दोनों का वाचक है। 'गूढोत्मा' शब्द वैदिक आर्ष प्रयोग है। पाणिनिमत से ठीक रूप नहीं है। इसका सन्धिकृतरूप गूढ:आत्मा, गूढात्मा होगा, विसर्ग रा लोप हो जाने पर दीर्घ सन्धि नही होगी। समास करने पर "गूढश्चासौ आत्माचेति" इस अर्थ में गूढात्मा प्रयोग साधु होगा।

तृतीय इकाई-श्लोक व्याख्या

प्रथम अध्याय - प्रथम वल्ली

इकाई की रूपरेखा

1. उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. इकाई की परिधि
4. श्लोक व्याख्या, अन्वय, हिन्दी अर्थ एवं संस्कृत भावार्थ
5. शाब्दिक निर्वचन
6. पारिभाषिक शब्दार्थ

उद्देश्य-

प्रथम तथा द्वितीय इकाइयों में कठोपनिषद् का सामान्य अध्ययन कर लेने के अनन्तर--

1. अब आप कठोपनिषद् प्रथम अध्याय के श्लोकों की व्याख्या कर सकते हैं।

2. व्याख्या के समय श्लोकबद्ध कथन को अभीष्ट वाक्यावली के अनुरूप अन्वय की रीति से जान सकते हैं।

3. अन्वय के पदों की हिन्दी भाषा में शब्दान्तर के द्वारा तथा संस्कृत भावार्थ के साथ तात्पर्य का अर्थबोध सरलता से कर सकते हैं।

4. श्लोक में आने वाले दुरूह एवं कठिन पदों की व्याख्या सरलतम रीति से शाब्दिक व्युत्पत्ति के द्वारा समझ सकते हैं।

5. कुछ साम्प्रदायिक अथवा पारिभाषिक पदों का अर्थ तथा उनका तात्पर्य पारम्परिक मान्यता के आलोक में समझ सकते हैं।

प्रस्तावना एवं इकाई की परिधि

कठोपनिषद् के प्रथम अध्याय की तीनों वल्लियों की श्लोक व्याख्या प्रस्तुत करने के लिए कुल चार इकाईयों की प्रकल्पना की गयी है। प्रस्तुत तृतीय इकाई में प्रारम्भ के 18 श्लोकों की व्याख्या की जानी है। इनकी व्याख्या में अन्वय दिखाते हुए उसी के समानार्थक सरलतम हिन्दी शब्दों के द्वारा तथा संस्कृत भावार्थ के साथ हिन्दी में अर्थबोध कराया जाएगा।

प्रारम्भ के श्लोकों में नचिकेता एवं वाजश्रवस के संवाद के अनन्तर यमराज एवं नचिकेता का संवाद प्रारम्भ हो जाता है, उपनिषद् के प्रथम अध्याय की प्रथम वल्ली में प्रारम्भ से 18 श्लोकों की व्याख्या इस इकाई में की जाएगी। यही तृतीय इकाई की परिधि कही जाएगी।

ॐ उशन्ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ।
तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस।।'' ॥ 1 ॥

अन्वय– ॐ ह वै उशन् वाजश्रवसः सर्ववेदसं
ददौ, तस्य नचिकेता नाम ह पुत्र आस।

व्याख्या– ॐ परमात्मा का वाचक है, उसका स्मरण करते हुए ग्रन्थादि में मङ्गलाचरण हेतु उपनिषद् का प्रारम्भ करते हैं। **ह वै** = प्रसिद्ध है कि, **उशन्** = यज्ञ फल की इच्छा से, **वाजश्रवसः**

= वाजश्रवा के पुत्र (उद्दालक) ने, **सर्ववेदसं** = अपना समस्त धन **ददौ** = देदिया (विश्वजित् यज्ञ में ब्राह्मणों को) **तस्य** = उसका **नचिकेता नाम ह** = नचिकेता नाम से प्रसिद्ध पुत्र, **आस**=था।

अर्थ- प्रसिद्ध है कि यज्ञफल की इच्छा से वाजश्रवा के पुत्र ने अपना समस्त धन दे दिया। उसका नचिकेता नामक पुत्र था।

संस्कृत भावार्थः–महर्षि उद्दालक एकदा विश्वजिति नामके यज्ञे स्वकीयं सर्वधनं ब्राह्मणेभ्यो दत्तवान्, तस्य नचिकेता नामक: पुत्र आसीत्।

तं ह कुमारं सन्तं दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धाऽऽविवेश सोऽमन्यत।।2।।

अन्वय– दक्षिणासु नीयमानासु कुमारं सन्तं तम् ह श्रद्धा आविवेश स अमन्यत।

व्याख्या– दक्षिणासु नीयमानासु = जिस समय दक्षिणा के रूप में गौएं लायी जा रही थीं, उस समय। **कुमारं सन्तं** = छोटा बालक होने पर भी, **तम् ह** = उस नचिकेता में, **श्रद्धा** = शास्त्रादि में अविचलनिष्ठा वाली आस्तिक्य बुद्धि, **आविवेश**= प्रविष्ट हो गयी। स अमन्यत = वह बालक नचिकेता उन जराजीर्ण गायों को देखकर सोचने लगा।

अर्थ– यज्ञ के परिपूर्ण होने के अनन्तर ब्राह्मण ऋत्विजों को जब दक्षिणा के रूप में देने के लिए गौएं लायी जा रही थीं, उसी समय बालक नचिकेता ने उनकी दयनीय दशा देख ली, देखते ही उसके निर्मल अन्त:करण में श्रद्धा--आस्तिक्य बुद्धि ने प्रवेश किया, और वह सोचने लगा।

संस्कृत भावार्थ-विश्वजितो यज्ञस्य परिपूर्णावसरे ब्राह्मणेभ्यो दानार्थं यदा गाव: आनीयन्ते स्म, तदानीमेव गवामत्यन्तं दयनीयदशामवलोक्य महर्षिसूनो:नचिकेतसो: निर्मलान्त:करणे दयाभावमाविवेश, तदा स विचारितवान्।

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः।

अनन्दा नाम ते लोकास्तान् स गच्छति ता ददत्।।३।।

अन्वय– पीतोदका: जग्धतृणा: दुग्धदोहा: निरिन्द्रिया: ता:ददत् स:, ते अनन्दा नाम लोका:, तान् गच्छति।

व्याख्या– पीतोदकाः = जो अन्तिम बार जल पी चुकी हैं, **जग्धतृणाः** = जिन्होंने अन्तिम बार घास खा लिया है। **दुग्धदोहाः** = जिनका दूध अन्तिम बार दुहा जा चुका है, **निरिन्द्रियाः** = जिनकी इन्द्रियां नष्ट हो चुकी हैं **ताः** = ऐसी निरर्थक मरणासन्न गौओं को, **ददत्** = देने वाला **सः** = वह दाता, ते **अनन्दानाम लोकाः** = उन सभी प्रकार के सुखों से रहित नरकादिलोक, **तान्** = उनको – **गच्छति** = प्राप्त होता है।

अर्थ– दक्षिणा के रूप में ब्राह्मणों को जो ऐसी गायें देता है, जो सदा के लिए पानी पी चुकी हों, घास खा चुकी हों, अन्तिम बार दुही जा चुकी हों, तथा पुन: प्रजननादि शक्ति से विहीन हों, वह दान देने वाला यजमान नि:सन्देह नरकादि सुखरहित लोकों को प्राप्त होता है।

संस्कृत भावार्थः– यज्ञफलप्राप्तिकामनया ब्राह्मणेभ्यो दक्षिणार्थं या गावो दीयन्ते:, ता यदि अन्तिमरूपेण पीतोदका:, जग्धतृणा:, दुग्धदोहा: निरिन्द्रियाश्च सन्ति, तदा तासां दानकर्ता अवश्यमेव सुखादिरहितं नरकलोकं गच्छति।

स होवाच पितरं तत कस्मै मां दास्यसीति।

द्वितीयं तृतीयं तं होवाच मृत्यवे त्वा ददामीति।।४।।

अन्वय– स ह पितरम् उवाच, तत! कस्मै मां दास्यसि इति, द्वितीयं तृतीयं, तं ह उवाच, मृत्यवे त्वा ददामि इति।

व्याख्या– स ह = वह यह सोचकर, **पितरम् उवाच** = अपने पिता से कहा कि, **तत** = पूज्य

पिताजी! आप, **माम्** = मुझे, **कस्मै** = किस के लिए, **दास्यसि** = देंगे, **इति** = इस प्रकार, **द्वितीयं तृतीयं** = दुबारा तिबारा कहने पर, **तं ह** = पिता ने उससे, **उवाच** = कहा, (क्रोधपूर्वक) **त्वा** = तुझे मैं, **मृत्यवे** = मृत्यु के लिए, **ददामि** इति = प्रदान करता हूँ।

अर्थ– उसने अपने पिता से कहा, पूज्य! पिताजी मैं भी आप का एक अमूल्य धन हूँ, आप मुझे किसको देना चाहेंगे, पिता के द्वारा कुछ भी उत्तर न दिये जाने पर, बालक नचिकेता ने दुबारा तिबारा अपना प्रश्न दुहराया, तब पिता ने क्रोध में आकर कहा, मैं तुम्हें मृत्यु को देता हूँ।

संस्कृत भावार्थः– अविहितद्रव्यदानेन अनिष्टं फलं भवतीति विचिन्त्य पितुरनिष्टमात्मप्रदानेनापि निवारणीय मिति बुद्धया पितरमुपगम्य स नचिकेता एवमु-वाच, तातः अहमपि भवदीयं पुत्ररत्नं धनमस्मि, मां कस्मै ब्राह्मणाय दक्षिणात्वेन दातुमिच्छति भवान्? अनुक्ते पितरि द्वित्रं पृष्टवति पुत्रे "मृत्यवे त्वां ददामि" इति सरोषं पिता उक्तवान्।

बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः।

किंस्विद्यमस्य कर्तव्यं यन्मयाद्य करिष्यति।। 5 ।।

अन्वय– बहूनां प्रथम एमि बहूनां मध्यम एमि, यमस्य किंस्वित् कर्तव्यं यत् अद्य मया करिष्यति।।

व्याख्या– **बहूनां** = बहुत से शिष्यों में, **प्रथमः** प्रथम श्रेणी वाला, **एमि** = चलता आया हूँ, **बहूनां** = ओर बहुत से शिष्यों में **मध्यमः** = मध्यम श्रेणीवाला **एमि** = चलता आया हूँ, **यमस्य** = यमका, **किंस्वित्** = कौन सा, **कर्तव्य** = कार्य यत् **अद्य**= जिसे आज, **मया** = मेरे द्वारा, **करिष्यति** = पूरा करेंगे।।

अर्थ– यद्यपि बहुत से शिष्यों में मैं प्रथम श्रेणी वाला हूँ तथा बहुतों में मैं मध्यम श्रेणी वाला शिष्य हूँ। कभी भी अधम श्रेणी वाला शिष्य नहीं हुआ, फिर भी यम का ऐसा कौन सा कार्य है, जिसे पिताजी मेरे द्वारा करना चाहते हैं।

संस्कृतभावार्थः–पितुर्मुखादेवमाकर्ण्यपुत्रो नचिकेता सदुःखं विचिन्तयामास, अहन्तु बहूनां पुत्रकल्पशिष्याणां मध्ये प्रथम अस्मि, बहूनां चान्येषां मध्ये मध्यम अस्मि, कदाचिदपि अधमो नास्मि, तथापि मां पिता मृत्यवे ददाति, अस्तु मद्दानेन पितुः किमपि प्रयोजनं स्यादिति मत्वा संयतमनाः नचिकेता पितरं शोकाविष्टं प्रति वदत्यग्रिमे मन्त्रे।

अनुपश्य यथापूर्वे प्रतिपश्य तथापरे।

सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः।। 6 ।।

अन्वय– यथापूर्वे अनुपश्य, तथा अपरे प्रतिपश्य, मर्त्यः सस्यमिव पच्यते पुनः सस्यमिव आजायते।

व्याख्या– **यथापूर्वे** = आपके पूर्वज पितामहादि जिस प्रकार आचरण करते आये हैं, **अनुपश्य** = उन पर विचार कीजिए तथा **अपरे** = तथा दूसरे श्रेष्ठ लोग सम्प्रति जैसा आचरण कर रहे हैं **प्रतिपश्य** = उस पर भी दृष्टिपात कीजिए **मर्त्यः** = मरणधर्मा मनुष्य, **सस्यमिव** = अन्न की तरह **पच्यते** = पकता है, पुनः फिर **सस्यमिव** = अन्न की तरह **आजायते** = उत्पन्न हो जाता है।

अर्थ– पिताजी! अपने पितामहादि पूर्वजों का आचरण देखिये, और सम्प्रति दूसरे श्रेष्ठ पुरुषों का आचरण भी देखिये, फिर आप अपने कर्तव्य का निश्चय कीजिए। मनुष्य मरणधर्मा है, यह अनाज की भांति जरा-जीर्ण होकर मर जाता है, और पुनः अनाज की भांति जन्म लेता है।

संस्कृत भावार्थः- भो पितः! येन प्रकारेण भवत्पितृपितामहादयः पूर्वे पितरः सदाचारं पालितवन्तः यथा च वर्तमान काले साधवः सदाचारं पालयन्ति, तत्सर्वमवलोक्य भवता स्वकर्त्तव्यं

निर्धारणीयम्, यतोहि मनुष्य: सस्यमिव जीर्णतामुपगच्छन म्रियते, पुन: सस्यमिव जायते अत: किं मोहेन? स्ववचनमृषाकरणेन वा, आत्मन: सत्यवच: पालयितुं मां यमं प्रति प्रेषय इति भाव:।

वैश्वानर: प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान्।

तस्यैतां शान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम्।।7।।

अन्वय– ब्राह्मण: अतिथि: वैश्वानर एव गृहान् प्रविशति, तस्य एतां शान्तिं कुर्वन्ति, वैवस्वत उदकं हर।

व्याख्या– ब्राह्मण: अतिथि = अतिथि के रूप ब्राह्मण, **वैश्वानर एव** = स्वयं अग्नि देवता ही (होता है) **गृहान्** = घरो में, **प्रविशति** = प्रवेश करता है, **तस्य** = उसकी, **शान्तिं** = पाद्यार्घ्यादि के द्वारा शान्ति, **कुर्वन्ति** = करते हैं, अत: **हे वैवस्वत:**= सूर्य पुत्र आप भी, **उदकं हर** = पाद्यादि के लिए जल ले जाइए।

अर्थ– ब्राह्मण अतिथि अग्नि के रूप में घरों में प्रवेश करता है। उसकी पाद्यार्घ्यादि से शान्ति की जाती है, हे सूर्यपुत्र आप भी ब्राह्मण अतिथि के निमित्त पाद्यार्घ्यादि के लिए जल ले जाइए।

संस्कृत भावार्थ:–अतिथि: साक्षादग्निरिव भवति स यत्र प्रविशति तत्र स्वतेजसा दहन्निव प्रतिभाति, अत: तस्य दाहं शमयितुं पाद्यासनाददिदानलक्षणां शान्तिं कुर्वन्ति जना:। तस्माद् हे वैवस्वत! त्वमपि अतिथये नचिकेतसे पाद्याद्यर्थं जलं समर्पय इति यमभार्यावचनम्।

आशाप्रतीक्षे सङ्गतं सूनृतां च

इष्टापूर्ते पुत्रपशूंश्च सर्वान्।

एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो

यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे।।8।।

अन्वय–यस्य गृहे ब्राह्मण: अनश्नन् वसति (तस्य) अल्पमेधस: पुरुषस्य आशाप्रतीक्षे संगतं सुनृताञ्च इष्टापूर्ते च सर्वान् पुत्रपशून् एतद् वृङ्क्ते।

व्याख्या–यस्य = जिसके, **गृहे** = घर में, **ब्राह्मण:** ब्राह्मण अतिथि, **अनश्नन्** = विना भोजन किये, **वसति** = निवास करता है, **तस्य** = उस, **अल्पमेधस:** = मन्दबुद्धिवाले, **पुरुषस्य** = मनुष्य की, **आशा-प्रतीक्षे** = नाना प्रकार की आशा और प्रतीक्षा **संगतं** = उनकी पूर्ति से होने वाले सब प्रकार के सुख, **सुनृतां च** = और सुन्दर मधुर वाणी तथा उसका फल, **इष्टापूर्ते च**= यज्ञ दानादि तथा कूपवापी तडागादि खुदवाने का फल, तथा **सर्वान् पुत्रपशून्** = समस्त पुत्र और पशू **एतद् वृङ्क्ते** = इन सबको नष्ट कर देता है।

अर्थ– जिसके घर में ब्राह्मण अतिथि बिना भोजन किये निवास करता है, उस मन्द पुरुष की आशा–अज्ञात पदार्थों की प्राप्ति की कामना एवं प्रतीक्षा = ज्ञात पदार्थों की प्राप्ति की कामना को तथा आशा एवं प्रतीक्षा के संयोग से प्राप्त होने वाले फल को, एवं सत्य प्रिय वाणी के फल को, इष्ट - यागादिजन्यफल तथा पूर्त - वापी कूप सरोवरादि बनवाने के फल को, तथा सारे पुत्रों पशुओं को वह (अतिथि) नष्ट कर देता है।

संस्कृत भावार्थ:– अज्ञात- पदार्थस्य प्राप्तिकामना आशा उच्यते, तथा ज्ञात-पदार्थस्य प्राप्तिकामना प्रतीक्षा उच्यते, यस्य गृहे ब्राह्मणोऽतिथि: भोजपानादिकं विना वसति, तस्य पुरुषस्य आशाप्रतीक्षे विनाशयति, न केवलं पूर्वोक्ताशाप्रतीक्षे, अपितु तत्संयोगजं फलं, वाचोमाधुर्यं यागजन्यं मन्दिरतडागादिनिर्माणजन्यं च फलं सर्वान् पुत्रान् पशूंश्च विनाशयति।

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मे

अनश्नन् ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्य:।

नमस्ते ब्रह्मन् स्वस्ति मेऽस्तु

तस्मात् प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व।।9।।

अन्वय– ब्रह्मन् नमस्यः अतिथिः ते नमः अस्तु ब्रह्मन् मे स्वस्ति अस्तु यत् तिस्रः रात्रीः मे गृहे अनश्नन् अवात्सीः तस्मात् प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व।

व्याख्या– ब्रह्मन् = हे ब्राह्मण देवता, **नमस्यः अतिथिः** = आप मेरे नमस्कार योग्य अतिथि हैं, **ते नमः अस्तु** = आपको मेरा नमस्कार हो, **ब्रह्मन्** = और हे ब्राह्मण देव! **मे स्वस्ति अस्तु** = मेरा कल्याण हो, (इसलिए) **यत्** = जो (आपने) **तिस्रः** = तीन, **रात्रीः** = रात्रियां मे **गृहे** = मेरे घर पर, **अनश्नन्** = विना भोजन किये, **अवात्सीः** = निवास किया है, **तस्मात्** = उसके कारण आप मुझसे **प्रति** = प्रत्येक रात्रि के बदले **तीन् वरान्** = तीन वरदान् **वृणीष्व** = मांग कीजिये।

अर्थ– हे ब्राह्मण देवता! आप हमारे प्रणम्य अतिथि हैं, आपको मेरा प्रणाम हो, आप हमारे पूज्य अतिथि होकर भी हमारे घर में बिना भोजन किये तीन रात तक निवास किये हैं, अतः प्रत्येक रात के बदले तीन वरदान मुझसे मांग लीजिए, जिससे मेरा कल्याण हो।

संस्कृत भावार्थः

यमो नचिकेतसं सादरं वरत्रयग्रहणायोद्बोधयन्वदति, हे ब्रह्मन्नतिथिः त्वं नितरां नमस्कारार्हः तस्मात्तुभ्यं नमस्कारोऽस्तु तथा हे ब्रह्मन् यस्मात्वं मम' गृहे अनश्नन् तिस्रो रात्रीः उषितवानसि, तस्मात् एमैकां रात्रिं प्रति त्रीन् वरान् मत्तः प्रार्थयस्व ।

शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्यात्

वीतमन्युगौर्तमो माभि मृत्यो।

त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत् प्रतीत

एतत् त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे।।10।।

अन्वय– मृत्यो यथा गौतमः मा अभि शान्तसंकल्पः सुमनाः वीतमन्युः स्यात् त्वत्प्रसृष्टं मा प्रतीतः अभिवदेत् एतत् त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे।

व्याख्या–मृत्यो= हे मृत्युदेव यमराज! **यथा** = जिस प्रकार **गौतमः** मेरे पिता गौतमवंशीय उद्दालक, **मा अभि** =मेरे प्रति, **शान्तसंकल्पः** = शान्त संकल्पवाले, **सुमनाः**= प्रसन्नचित्त, **वीतमन्युः** = क्रोध एवं खेद से रहित, **स्यात्**= हो जायं, **तथा त्वत्प्रसृष्टं** = आपके द्वारा वापस भेजा जाने पर जब मैं उनके पास जाऊं तो **मा प्रतीतः** = मुझे पहचान जायं, तथा यह वही मेरा पुत्र नचिकेता है, ऐसा भाव रख कर **अभिवदेत्** = मेरे साथ प्रेमपूर्वक बातचीत करें, **एतत्** = यह, **त्रयाणां** = अपने तीनों वरों में से, **प्रथमं वरं वृणे** = पहला वरदान मांगता हूँ।

अर्थ– हे मृत्युदेव! मेरे पिता मेरे प्रति शान्तसंकल्पवाले, शोकरहित एवं प्रसन्नचित्त हो जायं, तथा आपके द्वारा भेजे गये मुझको पहचान कर मुझसे सस्नेह बात करें, मैं तीन वरों में यह पहला वर मांगता हूँ।

संस्कृत भावार्थः- अत्र नचिकेता यमं प्रथमं वरं याचते तद्यथा– हे मृत्यो! मम पिता येन प्रकारेण मां प्रति नष्टकोपः, शोभनमनाः, शान्तसंकल्पः स्यात् तथाभूतः सन् त्वल्लोकात् तत्रगतं मां स्वतनयं परिचीयं मधुरालापं कुर्यात् एतदेव त्रयाणां मध्ये प्रथमं वरं याचे। अत्र सर्वतः प्रथमं पितुपरितोषणं प्रार्थ्यते।

यथा पुरस्तात् भविता प्रतीत

औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः।

सुखं रात्रीः शयिता वीतमन्यु-

स्त्वां ददृशिवान् मृत्युमुखात्प्रमुक्तम्।। 11 ।।

अन्वयः–त्वां मृत्युमुखात् प्रमुक्तं ददृशिवान् मत्प्रसृष्टः आरुणिः औद्दालकिः यदा पुरस्तात् प्रतीतः वीतमन्युः भविता रात्रीः सुखं शयिता।

व्याख्या– **त्वां** = तुमको **मृत्युमुखात्** = मृत्युके मुख से **प्रमुक्तं** = छूटा हुआ **ददृशिवान्** = देखकर **मत्प्रसृष्टः** = मुझसे प्रेरित, **आरुणिः**. = तुम्हारे पिता अरुण पुत्र औद्दालकिः =उद्दालक **यथा पुरस्तात्** = पहले की भांति ही, **प्रतीतः** = पहचान कर, **वीतमन्युः** = दुःख एवं क्रोध से निवृत्त, **भविता** = हो जायंगे, **रात्रीः** शेष रात्रियों में **सुखं**=सुखपूर्वक **शयिता** = शयन करेंगे

अर्थ– तुमको मृत्यु के मुख से छूटकर घर लौटा हुआ देखकर मेरी प्रेरणा से तुम्हारे पिता अरुण पुत्र उद्दालक बड़े प्रसन्न होंगे, तुमको अपने पुत्र रूप में पहचान कर तुमसे पूर्ववत् प्रेम करेंगे, तथा उनका दुःख और क्रोध सर्वथा शान्त हो जाएगा, तुम्हें पाकर अब वे जीवन भर सुख की नींद सोयेंगे।

संस्कृत भावार्थः अत्र यमः नचिकेतसं प्रत्युत्तरयति, यत् तव पितुः त्वां प्रति यथापूर्वं स्नेहसमन्विता प्रीतिः भवेत् मल्लोकाद्गतं त्वां मृत्युमुखात् प्रमुक्तं दृष्ट्वा विगतक्रोधः प्रसन्नमनाश्च तव पिता जीवनस्य अवशिष्टाः रात्रीः सुखेन यापयिष्यति। अर्थात् शोकरहितेन मनसा शेषं जीवनं ससुखं व्यतिष्यत इति भावः।

स्वर्गे लोके न भयं किञ्चिन्नास्ति

न तत्र त्वं न जरया बिभेति।

उभे तीर्त्वाशनायापिपासे

शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके।।12।।

अन्वय– स्वर्गे लोके किञ्चन भयं नास्ति, तत्र त्वं न जरया न विभेति, स्वर्गलोके अशनाया-पिपासे उभे तीर्त्वा शोकातिगः मोदते।

व्याख्या– स्वर्गे लोके = स्वर्ग लोक में, **किञ्चनभयं** = किञ्चिन्मात्र भी भय, **नास्ति** = नही है,**तत्र त्वं न** = वहाँ मृत्यु रूप स्वयं आप भी नहीं हैं, **जरया** = वुढ़ापे से न **विभेति** = कोई भी भयभीत नहीं होता है, **स्वर्गलोके** = स्वर्गलोक के निवासी, **अशनायापियासे** = भूख और प्यास **उभे तीर्त्वा** = इन दोनों को पारकर, **शोकातिगः** = दुःखों से दूर रहकर **मोदते** = आनन्द प्राप्त करते हैं।

अर्थ– स्वर्गलोक में कोई भय नहीं है, वहाँ न तुम हो, न कोई बुढ़ापे से डरता है। स्वर्ग के लोग भूख और प्यास दोनों को पारकर शोक रहित स्वर्ग में आनन्द करते हैं।

संस्कृत भावार्थः– प्रथमं पितुः परितोषकारकं वरं प्राप्य नचिकेता पुनः वदति एवं किल श्रूयते यत् स्वर्गे लोके रोगादिनिमित्तं किमपि भयं नास्ति, न च तत्र कश्चित् वृद्धावस्थामुपगच्छति, अपि च बुभुक्षा पिपासा च तत्र नोत्पद्यते, अतस्तत्रगतो जनः शोकदुःखरहितः केवलं महन्मोदमुपगच्छतीति।

स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो,

प्रब्रूहि त्वं श्रद्दधानाय मह्यम्।

स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त

एतद् द्वितीयेन वृणे वरेण।।13।।

अन्वय– मृत्यो! स त्वं स्वर्ग्यमग्निमध्येषि, त्वं मह्यं श्रद्दधानाय प्रबूहि, स्वर्गलोकाः अमृतत्वं भजन्ते एतत् द्वितीयेन वरेण वृणे।

व्याख्या– मृत्यो! = हे मृत्युदेव! **स त्वं** = वह आप, **स्वर्ग्यमग्निमध्येषि** = स्वर्ग की प्राप्ति

के साधन रूप अग्नि को जानते हैं, त्वं = अत: आप, **मह्यं श्रद्धधानाय** = मुझ श्रद्धालु का, वह अग्निविद्या **प्रब्रूहि** = अच्छी तरह समझा दीजिए **स्वर्गलोका** = स्वर्गलोक के निवासी, **अमृतत्वं** = अमरत्व को, भजन्ते = प्राप्त होते हैं, इसलिए **एतत्** = यह, **द्वितीयेन वरेण**= द्वितीय वर के रूप में, **वृणे** = मांगता हूँ।

अर्थ– हे मृत्यु देव! आप उस स्वर्ग के साधनभूत अग्नि को अच्छी तरह जानते हैं, अत: कृपया मुझ श्रद्धावान् को अग्निविद्या का उपदेश कीजिये, क्योंकि अग्नि विद्या के जानकार लोग स्वर्ग में रहकर देवत्व को प्राप्त कर लेते हैं, यह आप से मैं दूसरा वर मांगता हूँ।

संस्कृत भावार्थ:– हे भगवान् मृत्युदेव! सुखप्रदस्य स्वर्गलोकस्य प्राप्तिसाधनभूतमग्निं त्वं जानासि, येनाग्निचयनेन फलरूपेण स्वर्ग: प्राप्यते,तदाग्निचयनोपायं मह्यं श्रद्धावते स्वर्गार्थिने कृपया उपदेशय, तदेवाग्निचयनोपायविज्ञानमेवाहं द्वितीयत्वेन वरेण प्रार्थये।

प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध

स्वर्ग्यं मग्निं नचिकेत: प्रजानन्।

अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां

विद्धि त्वमेतं निहितं गुहायाम्।।14।।

अन्वय– नचिकेत: स्वर्ग्यमग्निं प्रजानन् ते प्रब्रवीमि तत् उ मे निबोध त्वमेतम् अनन्तलोकाप्तिं प्रतिष्ठां अथो गुहायां निहितं विद्धि।

व्याख्या– नचिकेता: = हे नचिकेता! **स्वर्ग्यमग्निं** = स्वर्गदायिनी अग्निविद्या को, **प्रजानन्** = अच्छी तरह जानने वाला मैं, **ते प्रब्रवीमि** = तुझे भलीभांति समझाता हूँ, **तत् उ निबोध** = तुम उसे मुझसे अच्छी तरह जान लो, **त्वमेतम्** = तुम इस अग्निविद्या को, **अनन्तलोकाप्तिं** = अविनाशी लोक की प्राप्ति कराने वाली, **प्रतिष्ठां** = उसकी आधारस्वरूपा, **अथो** = और, **गुहायां निहितं** = बुद्धिरूपी गुफा में छिपी हुयी, **विद्धि** = समझो।

अर्थ– हे नचिकेता! मैं उस स्वर्ग की साधनभूता अग्नि विद्या को अच्छी तरह जानता हूँ, अत: तुमको यथार्थ रूप से बतलाता हूँ तुम इसे अच्छी तरह समझ लो, यह अग्नि विद्या अविनाशी- लोकों की प्राप्ति कराने वाली और उसकी आधार रूपा है, तुम इसे बुद्धिरूपी गुफा में छिपी हुयी अत्यन्त गोपनीय समझो।

***संस्कृत भावार्थ**– नचिकेता सो द्वितीय वरयाचनं प्रति यम उत्तरयति, यत् हे नचिकेत! स्वर्गसाधनभूतमग्निमहं सम्यक् विज्ञातवानस्मि, तदेव यदि त्वया प्रार्थ्यते, तर्हि एकाग्रमना: सन् त्वं ममोपदेशं श्रृणुष्व, अहं त्वां प्रब्रवीमि, अनन्तलोकप्राप्तिसाधनभूतोऽयमग्नि: निखिलस्यापिजगत: आश्रयभूत: विदुषां सूक्ष्मबुद्धौ निविष्ट इति त्वया ज्ञातव्यम्।

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै

या इष्टका यावतीर्वा यथा वा।

स चापि तत्प्रत्यवदद्यथोक्त--

मथास्य मृत्यु: पुनरेवाह तुष्ट:।।5।।

अन्वय– तं लोकादिमग्निं तस्मै उवाच या: वा यावती: इष्टका: वा यथा च स: अपि तत् यथोक्तं प्रत्यवदत् अथ मृत्यु: अस्य तुष्ट पुन: एव आह।।

व्याख्या– तं लोकादि' = उस स्वर्ग लोक की कारण रूपा, **अग्निं** = अग्नि **उवाच** = उस नचिकेता को उपदेश दिया, **या: वा यावती:** = उसके कुण्डादि के निर्माण के लिए जो जो और जितनी, **इष्टका** = ईटें आदि आवश्यक होती हैं, **वा यथा** = तथा जिस प्रकार उनका चयन

किया जाता है, **च सः अपि** = तथा उस नचिकेता ने भी **तत् यथोक्तं** = वह जैसा सुना था, ठीक उसी प्रकार समझ कर **प्रत्यवदत्** = यमराज को पुनः सुना दिया, **अथ** = उसके बाद **मृत्युः अस्य तुष्टः** = यमराज उस पर संतुष्ट होकर **पुनः** एव आह = फिर बोले।

अर्थ– यमराज ने लोकों के आदि कारण भूत उस अग्नि का, तथा उसके चयन में जैसी और जितनी ईंटें होती हैं, एवं जिस प्रकार उसका चयन किया जाता है, उन सबका नचिकेता के प्रति वर्णन कर दिया, और नचिकेता ने भी उसे ज्यों का त्यों ग्रहण कर यमराज को सुना दिया, तब उससे प्रसन्न होकर यमराज ने पुनः कहा।

संस्कृत भावार्थः– नचिकेतसा समीहितं स्वर्गसाधन-भूतमग्निं यमः तस्मै नचिकेतसे प्रोक्तवान्। तम् केन प्रकारेण अग्निः चीयते, कियत्यो भवन्ति इष्टकाः, तासां कियती भवति संख्या तत्सर्वं यथा विधिः उक्तवान्। समाहित मनसा श्रुतवर्णो- नचिकेता यममुखात् यथावत् श्रुतं तथावत् तत् समक्षमुच्चारितवान्। ततः नचिकेतसः प्रत्युच्चारणेन संतुष्टो यमः वरत्रयातिरिक्तमन्यं वरं दित्सुः पुनरुवाचैवम्।

तमब्रवीत् प्रीयमाणो महात्मा,

वरं तवेहाद्य ददामि भूयः।

तवैव नाम्ना भवितायमग्निः

सृङ्कां चेमामनेकरूपां गृहाण।।16।।

अन्वयः– प्रीयमाणः महात्मा तमब्रवीत्, अद्य तव इह भूयः वरं ददामि, अयमग्निः तव एव नाम्ना भविता च इमाम् अनेकरूपां सृङ्कां गृहाण।

व्याख्या– प्रीयमाणः = प्रसन्न होकर, **महात्मा** = महात्मा यमराज **तमब्रवीत्** = उस नचिकेता से बोले, **अद्य** = आज, **तव** = तुमको, **इह** = यहाँ, **भूयः वरं** = पुनः एक अतिरिक्त वरदान, **ददामि** = देता हूँ, कि **अयमग्निः** = यह अग्नि विद्या, **तव एव नाम्ना** = तुम्हारे ही नाम से, **भविता** = प्रसिद्ध हो जाय, **च इमाम्** = तथा इस, **अनेक रूपां सृङ्का**= अनेक रत्नों से गुम्फित माला को भी, **गृहाण** = स्वीकार करो।

अर्थ– महात्मा यमराज ने प्रसन्न होकर नचिकेता से कहा, मैं तुम्हारी अद्भुत योग्यता देखकर प्रसन्न हूँ और आज यहाँ तुम्हारे विना मांगे ही एक अतिरिक्त वर प्रदान करता हूँ, वह यह कि यह अग्नि अब तुम्हारे नाम से ही जानी जायेगी, और साथ में यह अनेक मणियों से गुम्फित मेरी रत्नमाला को भी स्वीकार करो।

संस्कृत भावार्थः– यथावत् प्रब्रुवाणं नचिकेतसं प्रति प्रीयमाणो यमः तद्योग्यतां पात्रताचावलोक्य तुष्टमनाः सन् चतुर्थवरप्रदानेन नचिकेतसं सभाजयति, तच्चेत्थं यत् मयोच्यमानोऽयमग्निः अद्य प्रभृति तव नचिकेतसो नाम्ना प्रसिद्धो भविष्यति, अपि च अनेक रत्नमयीं मालामिमां पुरस्काररूपां स्वीकुरु इति।

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं

त्रिकर्मकृत् तरति जन्ममृत्यू।

ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा

निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति।।17।।

अन्वयः– त्रिणाचिकेतः त्रिभिः सन्धिमेत्य त्रिकर्मकृत् जन्ममृत्यू तरति ब्रह्मजज्ञम् ईड्यं देवं विदित्वा निचाय्य इमाम् अत्यन्तं शान्तिमेति।

व्याख्या– त्रिणाचिकेतः = अग्नि का तीन बार अनुष्ठान करने वाला, **त्रिभिः सन्धिम् एत्य** = ऋक् यजुः साम तीनों वेदों से सम्बन्ध जोड़कर, **त्रिकर्मकृत्** = यज्ञ-दान-तप इन तीनों कर्मों को करता हुआ, **जन्ममृत्यू तरति** = जन्म मृत्यु से तर जाता है। **ब्रह्मजज्ञं** - ब्रह्मा से उत्पन्न, **ईड्यं देवं** = स्तुत्य

इस अग्निदेव को, **विदित्वा** = जानकर, तथा **निचाय्य** = इसका चयन करके, **इमामत्यन्तं शान्तिमेति** = इस अत्यन्त शान्ति को प्राप्त कर लेता है।

अर्थ– इस अग्नि का तीन बार अनुष्ठान करने वाला पुरुष ऋक्, यजु, साम-तीनों वेदों से सम्बन्ध जोड़कर, निष्काम भाव से यज्ञ, दान, तप इन तीनों कर्मों को करता हुआ जन्म मृत्यु से पार हो जाता है, और वह ब्रह्मा से उत्पन्न हुये सृष्टि को जानने वाले इस अग्निदेव को भली-भाँति जानकर तथा इसका विधिपूर्वक चयन कर, उस अत्यन्त शान्ति को प्राप्त हो जाता है, जो मुझ जैसे देवों को प्राप्त है।

संस्कृत भावार्थ-- यो हि मनुष्य: त्रिवारं नचिकेतमग्निं यथाविधि अनुष्ठाय मातृपित्राचार्यै: सह यथानुशासनं सम्बन्धं प्राप्नोति, तादृशोजन: इज्याध्ययनदान रूपं कर्मत्रयं कृत्वा जन्म मृत्यू तरति, अपि च यथाशास्त्रमग्निचयनं सम्पाद्य अत्यन्तं शान्तिमवाप्नोती भाव:।

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा
य एवं विद्वांश्चिनुते नाचिकेतम्।
स मृत्युपाशान् पुरतःप्रणोद्य
शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके।।18।।

अन्वय– एतत् त्रयं विदित्वा त्रिणाचिकेत: य एवं विद्वान् नचिकेतं चिनुते स: मृत्युपाशान् पुरत : प्रणोद्य शोकातिग: स्वर्गलोके मोदते।

व्याख्या– एतत् त्रयं = ईटों का स्वरूप, उनकी शास्त्रोक्त संख्या, और अग्नि चयन की विधि, इन तीनों बातों को, **विदित्वा** = जानकर, **त्रिणाचिकेत:** = तीन बार नचिकेत अग्नि का चयन करने वाला, य: **एवम्** = जो कोई भी इस प्रकार **विद्वान्** = जानने वाला पुरुष, **नाचिकेतं** = इस अग्नि का **चिनुते** = चयन करता है, **स: मृत्युपाशान्** = वह मृत्यु के पाश को, **पुरत: प्रणोद्य** = अपने सामने ही काटकर, **शोकातिग:** = शोक से पार होकर, **स्वर्गलोके**= स्वर्ग लोक में, **मोदते** = आनन्द का अनुभव करता है।

अर्थ– किस आकार की कैसी ईटें, कितनी संख्या, और किस प्रकार से अग्नि का चयन किया जाय, इन तीनों बातों को जानकर जो भी विद्वान तीन बार नाचिकेत--अग्नि का चयन करता है, वह शरीरत्याग के पहले ही अपने समक्ष मृत्युपाश को तोड़कर शोक रहित होकर शरीरत्याग के अनन्तर स्वर्गलोक में आनन्द का अनुभव करता है।

संस्कृत भावार्थ:– अत्राग्निचयनस्य फलं निरूप्यते, तद्यथा– त्रिणाचिकेतो जन: वारत्रयं यथोक्तं "या इष्टका यावतीर्वा यथा वा|" इत्युक्त प्रकारेण सम्यक् विदित्वा नाचिकेतमग्निं चिनुते, स शरीरपरित्यागात्पूर्वमेव मृत्युपाशान् अपहाय विगतशोक: सन् सानन्दं स्वर्गे लोके मोदते, आत्मस्वरूप प्रतिपत्या नितरामानन्दतामुपगच्छतीतिभाव:।

शाब्दिक निर्वचन: -पीतोदका:- पीतमुदकं याभिस्ता: बहुव्रीहि समास। जिन्होंने अन्तिम रूप से जल पी लिया ऐसी गाये।

जग्धतृणा:– जग्धं तृणं याभिस्ता: बहुव्रीहि समास जिन्होंने अन्तिम रूप से घास खा लिया है, ऐसी गायें।

वैश्वानर:–विश्वानरस्य अपत्यं पुमान् वैश्वानर:। 'विश्वानर' शब्द से अपत्यार्थक अण् प्रत्यय होने पर वैश्वानर शब्द बनता है, विश्वानर अग्नि के पिता का नाम है जो एक ऋषि है, इसीलिए "ऋष्यन्धकवृष्ठी कुभ्यश्च" पा० 4/1/114) सूत्र से अण् प्रत्यय हुआ है। इन्हीं विश्वानर का पुत्र होने के कारण अग्नि को "वैश्वानर" कहते हैं।

वैवस्वतः = विवस्वत: अपत्यं पुमान् वैवस्वत: यम इत्यर्थ: विवस् + मतुप् = (विवप्रभा तेज: तदस्यास्ति विवस्वान् सूर्य:) विवस् तेज का नाम है, तथा विवस्वान् सूर्य का नाम है, उससे उत्पन्न होने वाले यम का नाम वैवस्वत है।

आशाप्रतीक्षे = आशा च प्रतीक्षाचेति इतरेतर द्वन्द्व समास अज्ञात की प्राप्ति की कामना आशा, और ज्ञात की प्राप्ति की कामना प्रतीक्षा कहलाती है, दोनों को एक साथ द्विवचनान्त में-- आशा प्रतीक्षे कहा गया है।

वीतमन्युः= विगत: मन्यु: शोको यस्य बहुव्रीहि समास, मन्यु शब्द शोक का भी वाचक है, अत: यहाँ समाप्त हो गया है शोक जिसका ऐसा ही अर्थ उचित प्रतीत होता है।

अशनायापिपासे– अशनाया च पिपासा चेति अशनायापिपासे इतरेतर द्वन्द्व समास, अशनाया का अर्थ बभुक्षा तथा पियासा का अर्थ प्यास है, दोनों का द्विवचनान्त प्रयोग अशनायापिपासे है।

शोकातिगः– शोकम् अतीत्य गच्छतीति शोकातिग: उपपद समास, शोक का अतिक्रमण कर जो चलता है वह शोकातिग: कहलाता है।

अध्येषि– अधि + इक्स्मरणे म०पु० एकवचन में प्रयोग निष्पन्न, परस्मैपद होने से यह पद "इङ् अध्ययने" का रूप नहीं हो सकता है, क्योंकि इङ् धातु आत्मनेपदी होती है, एवं उसके रूप अधीते-अधीयते बनते हैं। माधवीया धातुवृत्तिके अनुसार "इक् स्मरणे, अयमपि अधिपूर्व:, मातु रध्येति इति" किया है, इसी से भाष्यकार आचार्यशंकर ने अध्येषि का अर्थ स्मरसि जानासि ऐसा किया है। 'इण् गतौ से भी यह रूप बन सकता है।

त्रिणाचिकेतः त्रि+नाचिकेत:, यमराज द्वारा नचिकेता को दिए गये अतिरिक्त वर के अनुसार अग्नि का नाम नचिकेत हो गया, अत: यम ने स्वयं अग्नि के लिए नाचिकेत अभिधान किया है, त्रि वर्ण में स्थित र के कारण आगामी नकार को णत्व हो गया है, "रषाभ्यां नोण: समान पदे" इस पाणिनीय सूत्र से, अत: 'त्रिणाचिकेत' शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ है नचिकेत अग्नि का ज्ञान, चिन्तन एवं अनुष्ठान इन तीनों प्रकारों से अग्नि का चयन करने वाला "त्रिणाचिकेत कहलाता है।

पारिभाषिक शब्दार्थ– इष्टका = कुण्डनिर्माणादि में प्रयुक्त ईंटें।

सृङ्का = रत्नमयीमाला। मृत्युपाश = सांसारिक बन्धन, (शरीर)

चतुर्थ इकाई - श्लोक व्याख्या

इकाई की रूपरेखा

1. उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. इकाई की परिधि
4. श्लोक व्याख्या, अन्वय, हिन्दी अर्थ एवं संस्कृत भावार्थ
5. शाब्दिक निर्वचन
6. पारिभाषिक शब्दार्थ

उद्देश्य

तीसरी इकाई में आप कठोपनिषद् प्रथम अध्याय के प्रथम वल्ली के 18 श्लोकों की व्याख्या पढ़ चुके हैं, इसके अनन्तर आप चौथी इकाई में–

1. पूर्ववत् श्लोकों की व्याख्या कर सकते हैं।

2. व्याख्या के लिये पूर्ववत् अन्वय, व्याख्या और एवं संस्कृत भावार्थ के माध्यम से श्लोकार्थ को अच्छी तर समझ सकते हैं।

3. इकाई के अन्तर्गत आने वाले कठिन एवं दुरूह शब्दों का अर्थ शाब्दिक निर्वचन प्रकरण में देख सकते हैं।

4. कुछ साम्प्रदायिक एवं पारिभाषिक शब्दों का अर्थ श्लोक व्याख्या के अन्त में विशेष प्रकरण द्वारा समझ सकते हैं।

5. श्लोकगत पदों का अर्थ हिन्दी भाषा के माध्यम से अच्छी तरह समझ सकते हैं।

प्रस्तावना– इस इकाई में भी पूर्ववत् श्लोकों की व्याख्या की जानी है, व्याख्या के प्रकार के रूप में सबसे पहले श्लोक को ग्रहण किया जाएगा, तदनन्तर उसका अन्वय प्रदर्शित किया जाएगा, अन्वय के ही क्रम से उन उन पदों का हिन्दी भाषा के माध्यम से सरलतम अर्थ समझाया जाएगा, श्लोकगत भावों को संस्कृत भावार्थ के माध्यम से दर्शाया जाएगा, किसी कठिन एवं दुरूह शब्दों के तात्पर्य को शाब्दिक निर्वचन द्वारा सुसंगत रूप में दर्शाया जायगा।

इकाई की परिधि– इस इकाई में कठोपनिषद् प्रथम-अध्याय प्रथम वल्ली के श्लोक संख्या 19 से द्वितीय वल्ली के श्लोक संख्या 8 तक श्लोक व्याख्या की जाएगी, यही इस इकाई की परिधि कही जाएगी।

एषः तेऽग्निर्नचिकेतः स्वर्ग्यो
यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण।
एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनास-
स्तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व।। 19।।

अन्वय– नचिकेतः एष ते स्वर्ग्यः अग्निः यं द्वितीयेन वरेण अवृणीथाः एतम् अग्निं जनासः तव एव प्रवक्ष्यन्ति, नचिकेतः तृतीयं वरं वृणीष्व।।

व्याख्या– नचिकेतः = हे नचिकेता! **एषः ते स्वर्ग्यः** = यह तुम्हे उपदिष्ट स्वर्ग साधनभूत, **अग्निः** = अग्नि विद्या है, **यं द्वितीयेन वरेण अवृणीथाः** = जिसको तुमने द्वितीय वर के रूप में वरण कर लिया, **एतम् अग्निं** = इस अग्नि को, **जनासः** = अब लोग, **तव एव** = तुम्हारे ही नाम से **प्रवक्ष्यन्ति** = कहा करेंगे, **नचिकेतः** = हे नचिकेता! अब तुम **तृतीयं वरं वृणीष्व** = तीसरा वरदान मांगो।

अर्थ– यमराज ने कहा हे नचिकेता! मैं तुम्हें स्वर्ग की साधनभूता अग्नि विद्या को प्रदान कर दिया, जिसे तुम द्वितीय वर के रूप में मुझसे मांगे थे, आज से लोग तुम्हारे ही नाम से इस अग्नि को पुकारेंगे, अब तुम अपना तीसरा वर मांगो।

संस्कृत भावार्थः– यमो ह्यत्र नचिकेतसं तृतीयं वरं याचितुं सम्प्रेरयति, तदर्थ द्वितीयं वरं स्मारयन्वदति, यत् हे नचिकेतः! द्वितीय वररूपेण अग्निचयनविज्ञानं यत्त्वया याचितमासीत् तत्तु मया तुभ्यं प्रदत्तम् अपि चैनमग्निं तवैव नाम्ना जनाः लोके प्रवक्ष्यन्ति, इदानीं त्वं मत्तः तृतीयं वरं याचष्व इति सम्प्रेरणा।

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये
अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं
वराणामेष वरस्तृतीयः।। 20 ।।

अन्वय– प्रेते मनुष्ये या इयं विचिकित्सा, एके (आहुः) अयमस्तीति च एके नास्तीति त्वया अनुशिष्टः अहम् एतत् विद्याम् एष वराणां तृतीयः वरः।।

व्याख्या– प्रेते मनुष्ये = मरे हुये मनुष्य के विषय में, **या इयं** = जो यह, **विचिकित्सा** = संशय है कि, **एके (आहुः) अयमस्तीति** = कुछ लोग कहते हैं मरने के बाद यह आत्मा रहता है, **च एके नास्तीति** = और कुछ लोग कहते हैं कि मरने के बाद आत्मा नहीं रहता है। **त्वया अनुशिष्टः** = आपके द्वारा उपदेश पाया हुआ, **अहम् एतत् विद्याम्** = मैं इसका निर्णय भलीभांति समझ लूँ, **एष वराणां** = यही तीनों वरों में से **तृतीय वरः** = मेरा तीसरा वर है।

अर्थ– भगवन्! मृत मनुष्य के सम्बन्ध में यह एक बड़ा सन्देह फैला हुआ है, कुछ लोग तो कहते हैं कि मृत्यु के बाद भी आत्मा का अस्तित्व रहता है।और कुछ लोग कहते हैं नहीं रहता, इस विषय में आपका जो अनुभव हो, वह मुझे बतलाइये, आपके द्वारा उपदेश पाकर मैं इस रहस्य को भलीभांति समझ लूं, बस तीनों वरों में से यही मेरा अभीष्ट तीसरा वर है।

संस्कृत भावार्थः– अत्र नचिकेता आत्मतत्त्व - विज्ञानं नाम चतुर्थं वरं याचते, तदर्थमुपक्रमते यत् मनुष्यस्य वर्तमान देहत्यागानन्तरं लोक आत्मविषये विचिकित्सते तत्र केचन आत्मा अस्तीति मन्वते केचन आत्मा नास्तीति मन्वते, तदेवात्मविज्ञानमहं भवतो ज्ञातुमिच्छामि अयमेव मदीयः तृतीयो वरः भवता पूरणीय इति।

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा
न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः।
अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व
मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम्।। 21।।

अन्वय– नचिकेतः अत्रपुरा दैवैरपि विचिकित्सितं हि एष धर्मः अणुः न सुविज्ञेयम् अन्यं वरं वृणोष्व मा मा उपरोत्सीः एनं मा अतिसृज।

व्याख्या– हे नचिकेतः = हे नचिकेता, **अत्र पुरा** = इस विषय में पहले, **दैवैरपि** = देवताओं

ने भी, **विचिकित्सितं** = सन्देह किया था, **हि एष धर्मः अणुः**= क्योंकि यह विषय बड़ा सूक्ष्म है, न **सुविज्ञेयम्** = सहज में ही समझ में आने वाला नहीं है, इसलिए **अन्यं वरं वृणीष्व** = तुम कोई दूसरा वर मांग लो, **मा मा उपरोत्सीः** = मुझ पर दबाव मत डालो, **एनं मा अतिसृज** = इस आत्मज्ञान सम्बन्धी वर को मुझे लौटा दो।

अर्थ– हे नचिकेता: यह आत्म तत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म है, देवताओं को भी पहले इस विषय में सन्देह हुआ था, इसका समझना अत्यन्त कठिन है, अत: तुम कोई दूसरा वर मांग लो, मुझे इसके लिए वाध्य मत करो, इसको मेरे लिए छोड़ दो।

संस्कृत भावार्थः– अत्र यमेन आत्मतत्त्वस्य दुर्विज्ञेयत्वं दुर्लभत्वञ्च निरूप्यते, तद्यथा– अस्मिन्नात्मतत्त्वविषये देवैरपि पूर्वं संशयितं, एतत् सुविज्ञेयन्नास्ति, अतो हि एतदात्मतत्त्वविषयकं वरमतिरिच्य हे नचिकेता! अन्य वरं वृणीस्व, आत्मतत्त्वविज्ञानाय मां मा विवशीकुरु, कृपया मदर्थमेव तत् परित्यज इति भावः।

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल,
त्वं च मृत्यो यन्नसुविज्ञेयमात्थ।
वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो
नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित्।। 22 ।।

अन्वय– मृत्यो त्वं यत् आत्थ अत्र किल दैवैः अपि विचिकित्सितं च न सुविज्ञेयं च अस्य वक्ता त्वादृक् अन्यः न लभ्यः एतस्य तुल्यः अन्यः कश्चित् वरः न।

व्याख्या– **मृत्यो**= हे मृत्यु देव! **त्वं यत् आत्थ** = आप ने जो यह कहा, कि **अत्र किल देवैः अपि** = सचमुच इस विषय पर देवतताओं ने भी, **विचिकित्सितं** = विचार किया था, **च न सुविज्ञेयं** = और यह सुविज्ञेय भी नही है, **च**= और, **अस्य वक्ता** = इसको बतलाने वाला, **त्वादृक्** = आप के जैसा, **अन्यः न लभ्यः** = दूसरा कोई नहीं मिल सकता, **एतस्य तुल्यः** = इसके समान, **अन्यः कश्चित्** = दूसरा कोई भी, **वरः न** = वर नहीं है।

अर्थ– हे मृत्युदेव! आपने जो यह कहा कि प्राचीन काल में देवताओं ने भी इसके विषय में सन्देह किया था, और यह सरलता से जानने योग्य नहीं है, इससे स्पष्ट है कि आप के जैसा इसको बतलाने वाला कोई दूसरा नहीं मिल सकता, इसीलिए इसके समान कोई दूसरा वर भी नहीं हो सकता, अत: कृपापूर्वक मुझे इसी का उपदेश कीजिए।

संस्कृत भावार्थः– स्वकीयं तृतीयं वरं प्रति नचिकेतसो दार्ढ्यं जिज्ञास्य भाव चात्र निरूप्यते, तथाहि प्रार्थयति– हे भगवन्! अत्र भवानेव वदति, यत् आत्मतत्त्वविषये पुरा देवैरपि जिज्ञासि तं तथेदमतीव दुर्विज्ञेयमिति, अतोऽनुमीयते यत् भवान्तत्सर्व वेत्ति, भवादृशो वक्ता महां नान्यो लभ्यते, अपि च नान्यो वरः तृतीयवरसदृशः, अतस्तदेव त्वया महां दातव्यमिति भावः।

शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व
बहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान्।
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व
स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि।।23।।

अन्वय– शतायुषः पुत्रपौत्रान् बहून् पशून् हस्तिहिरण्यम् अश्वान् वृणीष्व भूमेः महत् आयतनं वृणीष्व स्वयं च यावद् शरदः इच्छसि जीव।।

व्याख्या– **शतायुषः**= सैकड़ों वर्षों की आयु वाले, **पुत्रपौत्रान्** = बेटे और पोतों को, **बहून् पशून्** = बहुत से गौ आदि पशुओं को, **हस्तिहिरण्यं** = हाथी सुवर्ण और, **अश्वान्** = घोड़ों को

वृणीष्व=मांग लो, **भूमेः महत् आयतनं** = भूमि के विस्तृत भाग को, **वृणीष्व** = मांग लो, **स्वयं च** = तुम स्वयं भी, **यावद् शरदः** = जितने वर्षों तक, **इच्छसि** = चाहो, **जीव** = जीते रहो।

अर्थ– हे नचिकेता! तुम सौ-सौ वर्ष की आयु वाले पुत्र पौत्रों को मांग लो, बहुत से उपयोगी पशु, हाथी, घोड़े सुवर्ण और विशाल भूमण्डल का साम्राज्य मांग लो, और इन सबका उपभोग करने के लिए जितने वर्षों तक जीने की इच्छा हो, उतने वर्षों तक जीते रहो।

संस्कृत भावार्थः-हे नचिकेता ! त्वं मत्तः शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व, अपि च गजाश्वप्रभृतीन् अनेकान् पशून् स्वेच्छया याचस्व, अपि च भूमण्डलस्य समृद्धं राज्यं, यथेच्छम् आयूंषि च याचस्व।

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं
वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च।
महाभूमौ नचिकेतस्तवमेधि
कामानां त्वा कामभाजं करोमि।। 24 ।।

अन्वय– नचिकेतः वित्तं चिरजीविकां यदि त्वम् एतत्तुल्यं वरं मन्यसे वृणीस्व च महाभूमौ एधि त्वा कामानां काम भाजं करोमि।

व्याख्या– नचिकेतः = हे नचिकेता! वित्तं चिरजीविकां= धन सम्पत्ति और अनन्त काल तक जीने के साधनों को यदि त्वं = यदि तुम, एतत्तुल्यं = इस आत्मज्ञान के तुल्य, वरं मन्यसे = वर मानते हो, वृणीस्व = मांग लो, च महाभूमौ = और तुम इस पृथिवीलोक में एधि = बहुत बड़े सम्राट बन जाओ, त्वा कामानां = मैं तुम्हें सम्पूर्ण भोगों में से, काम भाजं = अति उत्तम भोगों को भोगने वाला करोमि = बना देता हूँ।

अर्थ– हे नचिकेता! यदि तुम प्रचुर धन सम्पत्ति, दीर्घ जीवन, और अपरिमित सुख साधनों को, इस आत्मतत्व विषयक वर के तुल्य समझते हो, तो उन सबको मांग लो, तुम इस भूमि के सम्राट बन जावो, मैं तुम्हें समस्त भोगों को इच्छानुसार भोगने वाला बनाये देता हूँ।

संस्कृत भावार्थः– विविधप्रलोभनैः नचिकेतसमनुकूलयितुं यमो ब्रवीति, हे नचिकेतः आत्मविज्ञान सदृशं यदि किमपि अन्यं वरं मन्यसे तमपि वृणीष्व, अपि च प्रभूतं हिरण्यादिधनं चिरजीविकां च याचस्व, किम्बहुना त्वमस्यां बृहत्यां भूमौ राजा भूत्वा वर्धस्व, सर्वविधकामानां, त्वां भोक्तारं करोमि, यदि त्वं आत्मज्ञानातिरिक्तं तत्सदृशमन्यं वरं याचसे इति भावः।

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके
सर्वान् कामन् छन्दतः प्रार्थयस्व।
इमा रामाः सरथाः सतूर्या
न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः।
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व
नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः।। 25 ।।

अन्वय– ये ये कामाः मर्त्यलोके दुर्लभाः सर्वान् कामान् छन्दतः प्रार्थयस्व, सरथाः सतूर्याः इमाः रामाः मनुष्यैः ईदृशाः न हि लम्भनीयाः, मत्प्रत्ताभिः आभिः– परिचायस्व नचिकेतः मरणं मा अनुप्राक्षीः।

व्याख्या– ये ये कामाः = जो जो भोग, **मर्त्यलोके** = मनुष्य लोक में, **दुर्लभाः** = दुर्लभ हैं, **सर्वान् कामान्** = उन सम्पूर्ण भोगों को, **छन्दतः प्रार्थयस्व** = इच्छानुसार मांग लो, **सरथाः सतूर्याः इमाः रामाः** = रथ और नाना प्रकार के बाजों के सहित इन स्वर्ग की अप्सराओं को, **मनुष्यैः** = मनुष्यों के द्वारा **ईदृशाः** = ऐसी स्त्रियां, **न हि लम्भनीयाः** = निः सन्देह अलभ्य हैं, **मत्प्रत्ताभिः**

मेरे द्वारा दी हुयी, आभिः = इन स्त्रियों से, **परिचारयस्व** = अपनीसेवा करवावो, **नचिकेतः** = हे **नचिकेता, मरणं** = मरने के बाद आत्मा का क्या होता है, **मा अनुप्राक्षीः** = इस बात को मत पूछे।

अर्थ– हे नचिकेता! जो जो भोग मृत्युलोक में दुर्लभ हैं उन सबको तुम अपने इच्छानुसार मांग लो, ये रथ तथा उनके वाद्यों सहित जो स्वर्ग की सुन्दरी रमणियां हैं, जो मनुष्यों के लिए सर्वथा दुर्लभ हैं, उन सबको मैं तुम्हें सहज में दे रहा हूँ, तुम इन्हें ले जाओ, और इनसे अपनी सेवा कराओ, परन्तु नचिकेता आत्मतत्त्व विषयक प्रश्न मत पूछो।

संस्कृत भावार्थः– यमो ह्यत्र विशिष्टं प्रलोभनान्तरं प्रदर्श्य नचिकेतः समनुकूलयितुं चेष्टते, स आह हे नचिकेतः। अस्मिन् मनुष्य लोके ये ये दुर्लभाः मनोरथाः सन्ति, तान् सर्वान् यथेच्छं मत्तः पूरयस्व अपि च या दिव्या अप्सरसः रामाश्च देवाङ्गनाः रथेन-वादित्रेण च सहिताः भवन्ति याश्च मनुष्यैः न कदापि मनुष्यलोके प्राप्तुं शक्यन्ते, ताभिः मया दत्ताभिः आत्मनः सुश्रूषां कारय, परन्तु मरणानन्तरम् आत्मा अस्ति नास्ति वा इति विषये मा अनुप्राक्षीः, मैवं पृच्छस्व इति भावः।

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्
सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव
तवैव वाहास्तव नृत्यगीते।। 26 ।।

अन्वयः– अन्तक! श्वोभावा मर्त्यस्य सर्वेन्द्रियाणां यत्तेजः एतत् जरयन्ति अपि सर्वं जीवितम् अल्पम् एव तव वाहाः नृत्यगीते तव एव।।

व्याख्या–अन्तक = हे मृत्युदेव! **श्वोभावाः** = भोग सब क्षणभङ्गुर हैं, **मर्त्यस्य**= मनुष्य के, **सर्वेन्द्रियाणां यन्तेजः** = सभी इन्द्रियों का जो तेज हैं, **एतत्** = उसको, **जरयन्ति** = क्षीण कर डालते हैं, **अपि सर्वं** = और भी समस्त, **जीवितं** = आयु (जीवन) **अल्पमेव** = थोड़ा ही है, इसलिए - **तववाहाः**= ये आपके रथ आदि वाहन, **नृत्यगीते** = ये अप्सराओं के नाच गान, **तव एव** = आपके पास ही रहें, मुझे नहीं चाहिए।

अर्थ– हे यमराज! कल तक भी निश्चित रूप से न रहने वाले ये सांसारिक भोग पदार्थ अत्यन्त क्षणिक हैं, तथा मनुष्य के सभी इन्द्रियों के तेज को क्षीण कर देते हैं, मेरा सम्पूर्ण जीवन भी तो बहुत थोड़ा है, अतः आपके वाहन तथा नाचगान आपके ही पास रहें, मुझे इनसे कोई प्रयोजन नहीं है।

संस्कृत भावार्थः– सर्वाणि महान्ति प्रलोभनानि नश्वराणि ह्यनित्यानि च भवन्तीति पुरस्थाप्य नचिकेता स्वदार्ढ्यं प्रस्तौति। सर्वे कामा अनित्या सन्तो मनुष्याणां तेजोऽपहरन्ति, अतः लम्बायमानं जीवनमपि अत्यल्पमेव भवति, अतस्त्वया दीयमानं दिव्यरामादिकं नृत्यगीतादिकं वाहनादिकञ्च तवैव भवतु, महान्तु तदेव रोचते यन्मया तृतीय वरत्वेनोपस्थापितमिति भावः।

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो–
लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं
वरस्तु मे वरणीयः स एव।। 27 ।।

अन्वय– मनुष्यः वित्तेन न तर्पणीयः त्वा चेत्– अद्राक्ष्म वित्तं लप्स्यामहे, यावत् त्वम् ईशिष्यसि जीविष्यामः मे तु स एव वरः वरणीयः।

व्याख्या– मनुष्यः = मनुष्य, **वित्तेन** = धनेन, **नतर्पणीयः** = कभी भी तृप्त नहीं किया जा सकता है, **चेत्** = जब हमने त्वा **अद्राक्ष्म** = आपके दर्शन पा लिये हैं, **तो वित्तंलप्स्यामहे** = धन भी प्राप्त ही कर लेंगे, **त्व यावद्** = आप जब तक, **ईशिष्यति** = शासन करते रहेंगे, **जीविष्यामः** = तब

तक तो जीते रहेंगे, **मे तु** = मेरा तो, **स एव वर** = वही आत्मसम्बन्धी ज्ञान, **वरणीयः** = मांगने लायक हैं।

अर्थ– मनुष्य कभी भी धन से सन्तुष्ट नहीं किया जा सकता है, यदि आप का दर्शन पा लिया है, तो धन भी प्राप्त कर लेंगे, और जब तक आप शासन करेंगे, तब तक तो जीयेंगे ही, इसलिए मेरे लिए तो वही वर मांगने योग्य है।

संस्कृतभावार्थः– नचिकेता वित्तादीनामसारतां प्रतिज्ञाप्य केवलमात्मतत्त्वज्ञानस्य वरणीयतां प्रतिपादयति, तदनुसारं प्रभूतेनापि धनेन न कदापि मनुष्यः तृप्तिमनुभवति, वित्तलाभोऽतिदीर्घजीवन-लाभश्च ईश्वरानुग्रहेण प्राप्तुं शक्यते यावत्कालं यमस्यानुग्रहः तावत्कालं जीवनमिति निश्चप्रचम्। परन्तु मदीय वरणीयो वरस्तु स एव आत्मतत्वविज्ञानरूप इति भावः।

अजीर्यतामृतानामुपेत्य
जीर्यन् मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानन्।
अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदान–
अतिदीर्घे जीविते को रमेत।।28।।

अन्वय– जीर्यन् मर्त्यः प्रजानन् क्वधःस्थः कः अजीर्यताम् अमृतानामुपेत्य वर्णरतिप्रमोदान् अभिध्यायन् अतिदीर्घे जीविते रमेत ।

व्याख्या– **जीर्यन् मर्त्यः** = यह मनुष्य निरन्तर जीर्ण होने वाला और मरण धर्मा है, **प्रजानन्** = इस तत्व को भलीभांति समझने वाला, **क्वधःस्थः**= मनुष्य– लोक का निवासी, **कः** = कौन ऐसा मनुष्य होगा, जो **अजीर्यताम्** = बुढ़ापे से रहित, **अमृतानाम्** = अमरण धर्मा आप जैसे देवताओं का, **उपेत्य** = संग पाकर भी **वर्णरतिप्रमोदान्** = स्त्रियों के सौन्दर्य, क्रीड़ा, आमोद-प्रमोद का **अभिध्यायन्** = बार बार ध्यान करता हुआ, **अतिदीर्घे** = बहुत काल तक, **जीविते** =जीवित रहने में, **रमेत** = प्रेम करेगा।

अर्थ– मनुष्यलोक का जरामरणशील ऐसा कौन सा मनुष्य होगा, जो आप जैसे अजर-अमर देवता का संग प्राप्त कर भी स्त्रियों के सौन्दर्य क्रीडा और आमोद प्रमोद का चिन्तन करता हुआ इस लोक में दीर्घकाल तक जीवित रहना चाहेगा।

संस्कृत भावार्थः– हे भगवन्! मादृशो मनुष्यस्तु मरणधर्मा भवति, भवान् तु अजरोऽमरश्च देव आरति, भवादृशं दैवमधिगत्य कोऽयं मर्त्यः मनुष्यलोकस्यानित्यं सुखं जानन् अतिदीर्घे मनुष्यजीवने स्थातुमिच्छेत्। मानवजीवनस्य परमं लक्ष्यं दैवसन्निधानमवाप्य पुनः मनुष्यजीवनमधिगन्तु को रुचिधरस्स्यादिति भावः।

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो
यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत्।
योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो
नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते।।29।।

अन्वय– मृत्यो! यस्मिन् महति साम्पराये इदं विचिकित्सन्ति तत्र यत् तत् नः ब्रूहि, यः अयं गूढमनु प्रविष्टः वरः तस्मात् अन्यं नचिकेता न वृणीते।

व्याख्या– **मृत्यो** = हे मृत्युदेव। **यस्मिन् महति साम्पराये** = जिस महान् आश्चर्य मय परलोक सम्बन्धी आत्म ज्ञान के विषय में, **इदं विचिकित्सन्ति** = लोग, जो यह सन्देह करते हैं कि मरने के बाद यह आत्मा रहता है या नहीं, **तत्र यत्** = उस विषय में जो निर्णय है, **तत्रः ब्रूहि** = वह आप हमें बतलाइये, **यः अयम्** = जो यह, **गूढमनुप्रविष्टः वरः** = अत्यन्त गम्भीरता को प्राप्त हुआ

वर है, **तस्मात्** = उससे, **अन्यं** = दूसरा वर, **नचिकेता** = नचिकेता **न वृणीते** = नहीं चाहता है।

अर्थ– हे मृत्युदेव! जिस आत्मज्ञान के विषय में लोग यह शङ्का करते हैं कि मरने के बाद आत्मा का अस्तित्व रहता है या नहीं, उसके सम्बन्ध में आपका जो विनिश्चय हो, कृपया उसी का मुझे उपदेश कीजिये, क्योंकि आत्मतत्व सम्बन्धी इस गूढ़ विषयक वर के अतिरिक्त नचिकेता कोई दूसरा वर नहीं चाहता है।

संस्कृत भावार्थः– अत्रात्मतत्त्वज्ञानं प्रति स्वात्मदृढ़निश्च- यं प्रदर्शयन् नचिकेता यमं प्रतिब्रूते, हे मृत्युदेव! यनस्मिन्नात्मनि प्रेते सति लोका: तदस्ति नास्ति वेति विचिकित्सन्ति, तथा तत्महति परलोकविषये भवदीयं यन्मतं भवेत् तन्मह्यमनुब्रूहि, यतोहि आत्मपरिज्ञानविषयको वर: अतीव गूढ़तम: अतोऽन्यं वरं नचिकेता न काङ्क्षति।

द्वितीय वल्ली

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्–
ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु–
भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ।। 1 ।।

अन्वयः– श्रेय: अन्यत् उत प्रेय: अन्यत् एव , नानार्थे ते उभे पुरुषं सिनीत: तयो: श्रेय: आददानस्य साधु भवति, य: उ प्रेय: वृणीते स अर्थात् हीयते।

व्याख्या– **श्रेयः** = कल्याण का साधन, **अन्यत्** = अन्य है, **उत** = और प्रेय: = प्रिय लगने वाले भोगों का साधन, **अन्यत् एव** = अलग ही है, **ते** = वे दोनों, **नानार्थे** = भिन्न-भिन्न फल देने वाले **उभे** = दोनों साधन, **पुरुषं** = मनुष्य को, **सिनीतः** = बांधते हैं, **तयोः** = उन दोनों में से, **श्रेयः** = कल्याण के साधन को, **आददानस्य** = ग्रहण करने वाले का, **साधु भवति**=कल्याण होता है, **यःउ**= परन्तु, **प्रेयःवृणीते**= सांसारिक भोगों के साधन को स्वीकार करता है, **सः** वह, **अर्थात्** = यथार्थलाभ से **हीयते**=भ्रष्ट हो जाता है।

अर्थ– नित्य आनन्द स्वरूप परमात्मा के प्राप्ति का उपाय श्रेय, तथा स्त्री, पुत्र, वित्तादि प्राकृत सुख भोग के प्राप्ति का उपाय प्रेय कहलाता है, ये दोनों उपाय अपने-अपने ढंग से मनुष्य को बांधते हैं, इन दोनों प्रकार के उपायों में से जो श्रेय को अपना लेता है, उसका तो सब प्रकार से कल्याण हो जाता है, परन्तु जो सांसारिक सुख के लोभ से प्रेय को अपनाता है, वह मानव जीवन के परम लक्ष्य परमात्मा की प्राप्ति रूप यथार्थ प्रयोजन से वंचित हो जाता है।

संस्कृत भावार्थ- अत्र नचिकेतसो जिज्ञासां तदीययोग्यताञ्चावलोक्य यम आत्मज्ञानोपदेशार्थमुपक्रमते। श्रेय: प्रेयश्चोभे भिन्न प्रयोजने सती मनुष्यं बध्नीत: तत्र मनुष्य: प्रेयसोऽपेक्षया नि:श्रेयसत्वात् श्रेय: प्रति प्रवर्तते, यस्तु पारमार्थिकप्रयोजनात् हीयते, तादृशो मन्दमति: मनुष्य: प्रेय: प्रति प्रवर्तत इति भाव:।

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते।। 2।।

अन्वय– श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यम् एत: धीर: तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीर: श्रेय: हि प्रेयस: अभिवृणीते मन्द: योगक्षेमात् प्रेय: वृणीते।

व्याख्या– श्रेयश्च प्रेयश्च= श्रेय और प्रेय ये दोनों ही **मनुष्यम् एतः** = मनुष्य के पास आते हैं, **धीरः**= बुद्धिमान् मनुष्य **तौ**= उन दोनों के स्वरूप पर, **सम्परीत्य** = अच्छी तरह विचार करके, **विविनक्ति**= उनको पृथक्-पृथक् समझ लेता है, **धीरः** = बुद्धिमान् मनुष्य, **श्रेयो हि** = परम कल्याण के साधन को ही, **प्रेयसः** = योग साधन की अपेक्षा, **अभिवृणीते** = श्रेष्ठ समझकर ग्रहण करता है, **मन्दः** = परन्तु मन्द बुद्धिवाला मनुष्य, **योगक्षेमात्**=लौकिक योग-क्षेम की इच्छा से, **प्रेयःवृणीते** = भोगों के साधन रूप प्रेय को अपनाता है।

अर्थ– श्रेय और प्रेय दोनों मनुष्य के सामने आते हैं, बुद्धिमान पुरुष इन दोनों के गुण-दोषों पर अच्छी तरह विचार करके सांसारिक भोग प्रदान करने वाले प्रेय की अपेक्षा नित्य आत्मानन्द की प्राप्ति कराने वाले श्रेय को अपनाता है, परन्तु मन्द बुद्धि वाला पुरुष लौकिक योग क्षेम की सिद्धि के लिए प्रेय को अपनाता है।

संस्कृत भावार्थ– यतो हि श्रेयश्च प्रेयश्चोमे मनुष्यं प्रति समागच्छत: तत्र विवेकवान् पुरुष: तौ पदार्थों सम्यगालोच्य गुणदोषौ विविच्य गुरुलाघवं पृथक्करोति, पृथक्करणानन्तरं प्रेयसोऽपेक्षया श्रेयसोऽधिकगुणत्वात् श्रेय: एवाभिवृणीते, अपि च विवेक सामर्थ्याभावात् मन्द प्रज्ञ: शरीर पशुपुत्रादिलक्षणं प्रेय: योगक्षेमार्थं वृणीत इति भाव:।

स त्वं प्रियान् प्रियरूपाञ्च कामान्
अभिध्यायन् नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः।
नैतां सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो-
यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः।। 3 ।।

अन्वय– नचिकेत: स: त्वं प्रियां च प्रियरूपान् कामान् अभिध्यायन् अत्यसाक्षी: एतां वित्तमयीं सृङ्कां न अवाप्त: यस्यां बहव: मनुष्या: मज्जन्ति।

व्याख्या– नचिकेतः=हेनचिकेता। **सः** = उन मनुष्यों में तुम एक ऐसे हो कि, **प्रियां च** = प्रिय लगने वाले, **प्रियरूपान्** = अत्यन्त सुन्दर रूप वाले, **कामान्** = इस लोक एवं परलोक के समस्त भोगों को, **अभिध्यायन्** = भलीभांति सोच समझ कर, **अत्यस्राक्षीः** = तुमने छोड़ दिया **एतां वित्तमयीं सृङ्कां** = इस सम्पत्तिरूप श्रृंखला (बेड़ी) को, **न अवाप्तः** = तुम नहीं प्राप्त हुये, **यस्यां** = जिसमें **बहवः मनुष्याः** = बहुत से मनुष्य, **मज्जन्ति** = करने जाते हैं।

अर्थ– हे नचिकेता उन प्रिय लगने वाले पुत्र, पौत्र, हाथी, घोड़े, धन, सम्पत्ति, अखण्ड भूमिमण्डल आदि अनेक दुष्प्राप्य भोगों तथा स्वर्गीय अप्रतिम रमणियों के चिरभोग सुखों को तुमने सहज में ही उपेक्षा कर दी, तुम इस तरह के सुख भोगों में बांधने वाली बेड़ी में नहीं बध सके, जिसमें बड़े-बड़े त्यागी, महात्मा, चतुर, विवेकी भी फंस जाया करते हैं, इस प्रकार – हे नचिकेता! तुम्हारी परीक्षा करके मैंने अच्छी तरह देख किया कि तुम बड़े बुद्धिमान्, विवेकी तथा वैराग्य सम्पन्न हो, अत: तुम अवश्य ही परमात्मा तत्त्व का श्रवण करने के सर्वोत्तम अधिकारी हो।

संस्कृत भावार्थः– यमो ह्यत्र नचिकेतसं प्रशंसति यत् हे नचिकेत:! त्वं पुन:पुनर्मया प्रलोभ्य मानोऽपि प्रियान् शरीरपुत्रपश्वादीन् प्रिय रूपाश्च देवाङ्गनादि प्रभृति कामान् अनित्यत्वात् परित्यक्तवानसि, अपि च वित्तमयीं पामरजनस्वीकृतां श्रृंखलां नैव अवाप्तवानसि, यस्यां श्रृंखलायां नैके पामरा: मूढ़जना: निरन्तरं बध्नन्ति तत्र नितरां सीदन्ति इतिभाव:।

दूरमेते विपरीते विषूची
अविद्या या च विद्येति ज्ञाता।
विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये
न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त ।। 4 ॥

अन्वय– या अविद्या च विद्या इति ज्ञाता एते दूरं विपरीते विषूची नचिकेतासं विद्याभीप्सिनं मन्ये त्वा बहवः कामाः न अलोलुपन्त।

व्याख्या– या अविद्या= जो अविद्या, **च विद्या इति ज्ञाता** = और विद्या के नाम से विख्यात् हैं, **एते**= ये दोनों, **दूरं विपरीते**= परस्पर अतयन्त विपरीत, **विषूची**= भिन्न भिन्न फल देने वाली हैं, **नचिकेतसं** = तुम नचिकेता को, **विद्याभीप्सिनं मन्ये**= मैं विद्या का ही अभिलाषी मानता हूँ, क्योंकि **त्वा**= तुमको, **बहवः कामाः** = बहुत से भोग, **न अलोलुपन्त** किसी प्रकार भी लुभा नहीं सके।

अर्थ– ये अविद्या और विद्या नाम से प्रसिद्ध दो साधन पृथक्-पृथक् फल देने वाले हैं, और परस्पर अत्यन्त विरुद्ध है। हे नचिकेता! मैं तुम को विद्या का ही अभिलाषी मानता हूँ क्योंकि बड़े बड़े दुर्लभ भोग पदार्थ भी तुम्हारें मन में किञ्चिन्मात्र भी लोभ उत्पन्न नहीं कर सके।

संस्कृत भावार्थ– अत्र सर्वविधपरीक्षणानन्तरं नचिकेतस आत्मज्ञानाधिकारित्वं यमो ब्रवीति, तद्यथा–श्रेयः, प्रेयश्चोभे विद्याविद्ये मन्येते, तत्र हे नचिकेतः। त्वामहं विद्याभीप्सिनं मन्ये यतो हि नृत्यगीतसहिता रामाः सरथा सतूर्याः बहवः कामाः त्वां श्रेयोमार्गात् पृथक् कर्तुं न प्राभवन्। अतस्त्वं श्रेयोभाजनं मन्ये इत्यभिप्रायः।

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥ 5 ॥

अन्वय– अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः मूढ़ा दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति, यथा अन्धेनैव नीयमानाः अन्धाः।

व्याख्या– अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः= अविद्या के अन्दर रहते हुए, **स्वयं धीराः** = अपने आपको बुद्धिमान् और **पण्डितम्मन्यमानाः**= पण्डित मानने वाले, **मूढ़ा** = सांस्सारिक सुखभोग की इच्छा करने वाले वे मूर्ख लोग, **दन्द्रम्यमाणाः** = नाना योनियों चारो ओर भटकते हुये– **परियन्ति** = ठीक उसी तरह ठोंकरे खाते रहते हैं, **यथा** = जैसे **अन्धेनैवनीयमानाः** अन्धे मनुष्य के द्वारा चलाये जाने वाले, **अन्धाः**= अन्धे मनुष्य, प्रायशः अन्धे लोग अपने गन्तव्य तक नहीं पहुंच पाते हैं, इधर उधर भटकते और कष्ट पाते रहते हैं।

अर्थ– जो प्रत्यक्ष सुखरूप प्रतीत होने वाले भोगों के उपभोग एवं उपार्जन में ही संलग्न हैं ऐसे अपने आपको बुद्धिमान् एवं विद्वान् समझने वाले मूर्खजन कीट पतङ्गादि विविध दुःख पूर्ण योनियों में उसी प्रकार भटकते रहते हैं, जैसे– किसी अन्धे मनुष्य के द्वारा ले जाया जाने वाला कोई अन्धा मनुष्य अपने अभीष्ट स्थान पर न पहुंच कर ठोकरे खाता गिरता पड़ता, भटकता रहता है।

संस्कृत भावार्थ– अविद्यायां वर्तमानाः ये सन्ति मनुष्याः तेऽज्ञानान्धकारे विद्यमानत्वादेवात्मानं प्रज्ञावन्तं मन्वते, तादृशा जनाः जरामरणरोगादिदुःखैः तथैव परिपीड्यन्ते, यथा दृष्टिविहीनेन अन्धेन जनेन विषमे पथि नीयमानाः बहवोऽन्धा जनाः परिपीड्यन्ते।

न साम्परायः प्रतिभाति बालं
प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी
पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥ 6 ॥

अन्वय– वित्तमोहेन मूढं प्रमाद्यन्तं बालं साम्परायः न प्रतिभाति अयं लोकः परः न अस्ति इति मानी पनः पनः मे वशं आपद्यते।

व्याख्या– वित्तमोहेन मूढम्= सम्पत्ति के मोह से मोहित, **प्रमाद्यन्तं बालं** = निरन्तर प्रमाद करने वाले अज्ञानी को **साम्परायः** = परलोक, **न प्रतिभाति** = नही दिखाई देता है, अय लोकः = वह समझता है कि यह प्रत्यक्ष दिखने वाला संसार ही सत्य है, **परः न अस्ति**= इसके अतिरिक्त स्वर्ग वाला संसार ही सत्य है, **परः न अस्ति**= इसके अतिरिक्त स्वर्ग-नरक आदि कोई दूसरा लोक नहीं है, **इति मानी** = ऐसा मानने वाला अभिमानी पुरुष, **पुनः पुनः** = बार-बार, **मे वशं** = मेरे वश में आपद्यते= आते रहते हैं।

अर्थ– धनसम्पत्ति के मोह में अन्धे हुये उस प्रमादी मूर्ख को परलोक का साधन नहीं दिखाई पड़ता है, वह समझता है कि यह प्रत्यक्ष दिखाई पड़ने वाला लोक ही वास्तव में सत्य है इसके अतिरिक्त स्वर्ग नरक आदि कोई दूसरा लोक अस्तित्व में नहीं है, ऐसा मानने एवं समझने वाला अभिमानी पुरुष बार-बार यमराज के चङ्गुल में फसता है, और वे उसे उसके कर्मानुसार नाना योनियों में ढकेलते रहते हैं।

संस्कृत भावार्थ– परलोकप्राप्तिप्रयोजनः साम्परायः प्रमादिनं प्रति स्वात्मानं न प्रकाशते, कीदृशं प्रमादिनं? पुत्रपश्वादिप्रयोजनेष्वासक्तमानसं तथा वित्तमोहेन तमसाच्छन्नमानसमविवेकिनं बालं मूढम्। योहिमनुष्य अयं दृश्यमानोलोक अस्ति परलोकोनास्ति इति मनुते स मनुष्यो बारं बारं मृत्योर्वशं प्रपद्यत इति भावः।

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः
श्रृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा
आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥ 7 ॥

अन्वय– यः बहुभिः श्रवणाय अपि न लभ्यः यं बहवः श्रृण्वन्तः अपि न विद्यु अस्य वक्ता आश्चर्यः लब्धा कुशलः कुलानुशिष्टः ज्ञाता आश्चर्यः।

व्याख्या– यः बहुभिः = जो आत्मतत्त्व बहुतों को तो **श्रवणाय अपि** = सुनने के लिये भी, **न लभ्यः** = नहीं, मिलता **यं** = जिसको, **बहवः श्रृण्वन्तोऽपि** = बहुत से लोग सुनकर भी **न विद्युः** = नही समझ सकते हैं **अस्य** ऐसे इस गूढ़ आत्मतत्त्व का, **वक्ता आश्चर्यः** = वर्णन करने वाला महापुरुष **बड़ा** दुर्लभ है, **लब्धाकुशलः** = उसके प्राप्त करने वाला भी बड़ा कुशल होता है, **कुलानुशिष्टः** = और जिसे आत्मतत्व की उपलब्धि हो गयी है, ऐसे ज्ञानी महापुरुष के द्वारा शिक्षा प्राप्त किया हुआ, **ज्ञाता** = आत्मतत्त्व का जानकार भी **आश्चर्यः** = परम दुर्लभ है।

अर्थ– जो आत्मतत्त्व, बहुतों को तो सुनने को भी नहीं मिलता और जिसको बहुत लोग सुनकर भी समझ नहीं पाते हैं, ऐसे गूढ़तत्त्व आत्मा के विषय में उपदेश करने वाला महापुरुष बहुत दुर्लभ होता है, उस आत्मतत्त्व को प्राप्त करने वाला कोई विरला ही होता है, आत्मतत्त्व को प्राप्त कर चुके ज्ञानी महापुरुष के द्वारा शिक्षा प्राप्त कर आत्मा को भलीभांति जान लेने वाला तो सबसे अधिक दुर्लभ होता है, इस प्रकार आत्मतत्त्व का यथोचित वक्ता, श्रोता तथा ज्ञाता तीनों अत्यन्त दुर्लभ होते हैं।

संस्कृत भावार्थ– अत्र यमो ह्यात्मतत्त्वस्य नितरां दुर्लभत्वं प्रतिपादयति। [illegible] बहुभिःजनैः श्रोतुमति न लभ्यते आत्मतत्वम्, बहवः श्रृण्वन्तोऽपि यमात्मतत्त्वं न ज्ञातुं प्रभवन्ति, अस्यवक्तः वक्तापि कश्चिदेवभवति, श्रोतापि कश्चिदेव तथा लब्धापि कश्चिदेव भवति। अतएवास्य [illegible] ज्ञाता, श्रोता वक्ता सर्वोऽपि दुर्लभ एवेति भावः।

न नरेणावरेण प्रोक्त एष
सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।

अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति,

अणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ॥ 8 ॥

अन्वय– अवरेण नरेण प्रोक्तः बहुधा चिन्त्यमानः एष सुविज्ञेयः न अनन्यप्रोक्ते अत्र गति न अस्ति, हि अणुप्रमाणात् अणीयान् अतर्क्यम्।

व्याख्या– अवरेण नरेश प्रोक्तः = अल्पज्ञ मनुष्य के द्वारा बतलाये जाने पर बहुधा चिन्त्यमानः = और उनके अनुसार बहुत प्रकार से चिन्तन किये जाने पर भी, एषः= यह आत्मतत्त्व, सुविज्ञेयः न = सहजता से समझ में आने योग्य नही है, अनन्यप्रोक्ते= किसी दूसरे ज्ञानी पुरुष के द्वारा उपदेश न किये जाने पर, अत्र गतिः न अस्ति= इस विषय में मनुष्य का प्रवेश नही होता है, हि अणु प्रमाणात् = क्यों कि यह आत्मा, सूक्ष्म वस्तु से भी अणीयान्, = सूक्ष्मतम है इसीलिए = अतर्क्यम्= तर्क का विषय वस्तु नही है।

अर्थ– साधारण ज्ञान वाले मनुष्य यदि आत्मतत्त्व के विषय में कुछ बतलाते हैं, और उसके अनुसार यदि कोई विविध प्रकार से इसके चिन्तन का अभ्यास करता है, तो भी उसके समझ में सरलता से यह आत्मतत्त्व आता नहीं है, और दूसरे से बिना सुने केवल अपने आप तर्क वितर्क युक्त विचार करने पर भी यह आत्मतत्त्व सरलता से समझ में नहीं आ सकता है। अतः सुनना आवश्यक तो है, पर इसे उन्हीं से सुनना चाहिए जो इसे भलीभांति जानने वाले महापुरुष हों, तभी तर्क से सर्वथा अतीत इस आत्मा के विषय में जानकारी हो सकती है, क्योंकि स्थूलातिस्थूल से लेकर प्रकृति पर्यन्त जो भी सूक्ष्माति सूक्ष्म तत्त्व हैं, यह आत्मा उससे भी अत्यन्त सूक्ष्म है, इसलिए जब तक इसको यथार्थ रूप में जानने वाला कोई महापुरुष इसको नहीं समझाता है, तब तक मनुष्य अपने आप इसे समझ सकने में सर्वथा असमर्थ है

संस्कृत भावार्थ– हे नाचिकेतः यं ह्यात्मतत्त्वं प्रति त्वं मां पृच्छसि स आत्मा प्राकृतबुद्धिना प्रकारेणा चिन्त्यमानोऽपि विज्ञातुं न शक्यते, अनन्यशोक्ते आत्मनि अन्यावगतिर्भ भवति ज्ञेयस्या नयस्याभावात्। यतो हि आत्मा अणुप्रभाणात् अतर्क्य तर्कस्वाविषय इति भावः।

शाब्दिक निर्वचन– जनासः यह जन शब्द का प्रथमा बहुवचन रूप है, यह रूप केवल वेद में प्रयुक्त होता है, लोक में 'जनाः' रूप प्रयुक्त होता है, 'औज्जसेरसुक' सूत्र से असुक् प्रयत्य होने पर जनाः के स्थान पर विकल्प से वेद में जनासः रूप बनता है।

उपरोत्सीः– इसका अर्थ है, छोड़ दो, त्याग दो, उप उपसर्ग पूर्वक 'रूध्' धातु से लुङ् लकार में मध्यम पुरुष एक वचन में यह रूप निष्पन्न होता है, यहाँ पर "माङिलुङ्" सूत्र लुङ् लकार होने पर "न माङयोगे" सूत्र से 'माङ्' के योग में अट् के आगम का निषेध हुआ है। अन्यथा उप+ अरोत्सीः= उपरोत्सीः यह रूप बनता।

शतायुष– शतं आयूषि येषीते शतायुषः यहाँ पर बहुव्रीही समास है, और युमान् का विशेषण है, जिसका अर्थ है, सैकड़ों वर्षों की आयु वाले पुत्र दोनों को मांगते।

क्वद्यः स्योछ– कौ पृथिव्याम् अधः तिष्ठतीति क्वधः स्थः यहाँ उपपद समास है, कु तथा अद्यः उपपद रहते स्था धातु से कर्ता के अर्थ में कः प्रत्यय हुआ है, जिसका अर्थ है, पृथिवी में भी निम्न योनि अथवा निम्न वर्ग, अथवा निम्न बुद्धि में रहने वाला मरण धर्मा मनुष्य।

सिनीतः– 'षिञ्' बन्ध ने धातु से लट्लकार में प्रथमा द्विवचन में यह प्रयोग बनता है, जिसका अर्थ है, ये दोनों (श्रेय और प्रेय) मनुष्य को बांधते हैं, अर्थात् अपने तरफ खींचते हैं।

विविनक्ति– 'वि' उपसर्ग पूर्वक 'विचिर-पृथग्भावे' धातु से रुधादि प्रकरण मे लट्लकार के प्रथमा एक वचन में यह प्रयोग बनता है, जिसका अर्थ है, अच्छी तरह विचार करने के उपरान्त परस्पर मिले हुये दो तत्त्वों को पृथक्-पृथक् कर लेता है।

पारिभाषिक शब्दार्थ– विचिकित्सा– इसका पारिभाषिक अर्थ है सन्देह किन्हीं दो पदार्थों के वास्तविक स्वरूप का निश्चय न होने की मनोदशा को विचिकित्सा कहते हैं। जैसे आत्मा के अस्तित्व में अस्ति नास्ति दोनों में कोई विनिश्चय न होने स्थिति को विचिकित्सा शब्द से कहा गया है।

शरदः– शरद् शब्द वर्षवाची स्त्रीलिंग में प्रयुक्त होता है, इसका अर्थ आयु से सम्बन्धित वर्ष है।

रामाः– स्वर्गीय सुन्दरियां तथा रमणीय अप्सरायें यहाँ रामाः शब्द से कही गयी हैं।

मरणं– मरण का सामान्य अर्थ मृत्यु है, परन्तु यहाँ पर सान्दर्भिक अर्थ मरण के बाद आत्मा का स्वरूप यह किया गया है।

वाह्याः– वहन के साधन, रथ हाथी घोड़े आदि।

मर्त्यः– मरणधर्मा मनुष्य के लिए मर्त्य शब्द का प्रयोग पारिभाषिक है, इसीलिए पृथिवीलोक को मर्त्यलोक भी कहा जाता है

श्रेयः– कल्याण का साधन, आत्मतत्त्व ज्ञान।

प्रेयः– सांसारिक प्रिय लगने वाले भोगों का साधन।

धीरः– विद्वान्, बुद्धिमान् तथा विवेकी पुरुष के लिए 'धीर' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

सृङ्का– सांसारिक मोहमाया की बन्धनकारी श्रृंखला को सृंका शब्द से कहा जाता है।

विषूची– भिन्न-भिन्न फल देने वाली विद्या और अविद्या दोनो शक्तियों को विषूची शब्द से कहा गया है।

साम्पराय– परलोक के अर्थ में यह शब्द प्रयुक्त हुआ, इसका पारिभाषिक अर्थ मरण के अनन्तर आत्मा का दूसरा जन्म, एवं दूसरा लोक।

पञ्चम इकाई - श्लोक व्याख्या

इकाई की रूपरेखा

1. उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. इकाई की परिधि
4. श्लोक व्याख्या अन्वय, हिन्दी एवं संस्कृत भावार्थ
5. शाब्दिक निर्वचन
6. पारिभाषिक शब्दार्थ

उद्देश्य

अब पांचवी इकाई के अन्तर्गत आने वाले श्लोकों की व्याख्या की जानी है, पिछले इकाई में आप कठोपनिषद् प्रथम अध्याय द्वितीय वल्ली में आठवें श्लोक तक की व्याख्या कर चुके हैं, इसके अनन्तर अब आप इस इकाई में–

1. **पहले की तरह श्लोक व्याख्या कर सकते हैं।**

2. श्लोक व्याख्या के लिए क्रमशः श्लोकों का उल्लेख करके उनके अन्वय, पद व्याख्या तथा हिन्दी तथा संस्कृत भवार्थ सहित श्लोकार्थ प्रदर्शित कर सकते हैं।

3. इकाई की परिधि में आने वाले कठिन एवं दुरूह पदों का शाब्दिक निर्वचन अपने नियत प्रकरण में देखा जा सकता है।

4. श्लोक में आने वाले समस्त पदों का अर्थ हिन्दी भाषा के माध्यम से दर्शाया जा सकता है।

5. कुछ दार्शनिक एवं पारिभाषिक पदों का अर्थ श्लोक व्याख्या के अनन्तर अलग प्रकरण में सरलतम रीति से निर्दिष्ट कर सकते हैं।

प्रस्तावना

इस इकाई में भी पूर्ववत् श्लोकों की व्याख्या की जानी है, श्लोक व्याख्या का प्रकार भी वही होगा, जो चतुर्थ इकाई में अपनाया गया है, सबसे पहले श्लोक का उल्लेख किया जाएगा, तदन्तर उसकी व्याख्या के लिए पहले अन्वय का निर्देश किया जायगा, अन्वय के पदों के अनुसार ही हिन्दी भाषा में उसका अर्थ बतलाया जाएगा। पुनः समग्र श्लोक का संस्कृत भाषा में भावार्थ किया जाएगा। श्लोक गत कठिन पदों की शाब्दिक व्युत्पत्ति तथा पारिभाषिक अर्थ अलग-अलग प्रकरणों में दर्शाया जाएगा।

इकाई की परिधि

इस इकाई में कठोपनिषद् प्रथम अध्याय के द्वितीय बल्ली में श्लोक संख्या 9 से लेकर 25 श्लोक संख्या तक के श्लोकों का व्याख्यान प्रस्तुत किया जाएगा, यही इस इकाई की परिधि कही जाएगी।

नैषा तर्केण मतिरापनेया
प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ।
यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि
त्वादृङ् नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ॥ 9 ॥

अन्वय– प्रेष्ठ! यां त्वमापः एषामतिः तर्केण न आपनेया अन्येन प्रोक्ता एव सुज्ञानाय (भवति)

वत सत्यधृतिः असि नचिकेत! त्वादृक् प्रष्टा नः भूयात्।

व्याख्या– प्रेष्ठ= हे प्रियतम नचिकेता। यां **त्वमापः**= जिसको तुमने प्राप्त कर लिया है, **एषामतिः**= यह बुद्धि, **तर्केण न आपनेया**= तर्क से न ही मिल सकती है, **अन्येन प्रोक्ता एव**= यह तो दूसरे के द्वारा कही हुयी ही **सुज्ञानाय**= आत्मज्ञान के निमित्त (भवति) होती है, **बत** = सचमुच ही, **सत्य धृतिः** = तुम उत्तम धैर्य वाले, **असि** = हो, **नचिकेतः** = हे नचिकेता **त्वादृक** = तुम्हारे जैसा ही, **प्रष्टा**= पूछने वाला जिज्ञासु **नः भूयात्**= हमें मिला करें।

अर्थ– हे प्रिय नचिकेता! जो नैष्ठिक बुद्धि तुमारे पास है, वैसी बुद्धि किसी भी तर्क के द्वारा नही प्राप्त की जा सकती है, आत्मा के सम्यक् ज्ञान के लिए ऐसी ही निर्मल बुद्धि की आवश्यकता होती है, और यह भगवत्कृपा से किसी महापुरुष के द्वारा निरन्तर परमात्म तत्त्व के विशद विवेचन सुनने से प्राप्त होती है, मुझे प्रसन्नता है कि तुम सत्य संकल्प वाले हो, हे नचिकेता तुम्हारे जैसा ही जिज्ञासु तथा सत्य निष्ठ प्रश्नकर्ता मुझे प्राप्त हो, यही मेरी इच्छा है।

संस्कृत भावार्थ– आत्मबुद्धिः न केवलं तर्केण प्रापणीया भवति, सुविज्ञानाय सा मतिर्भवति यां त्वं मद् वरप्रदानेन प्राप्तवानसि, हे प्रियतम नचिकेतः। त्वादृक् सत्यव्रतः आत्मतत्त्व प्रष्टा त्वमतिरिच्य काश्चिदन्यो नास्तीति भावः।

जानाम्यहं शेवधिरित्यनित्यं
न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्।
ततो मया नचिकेतश्चितोऽग्नि-
रनित्यद्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ॥10॥

अन्वय– अहं जानामि शेवधिरनित्यमिति हि अध्रुवैः तत् ध्रुवं नहि प्राप्यते, ततः मया अनित्यैः द्रव्यैः नाचिकेतः अग्निः चितः नित्यं प्राप्तवानस्मि।

व्याख्या– अहं जानामि= मैं जानता हूँ कि, **शेवधिः**= कर्मफल रूप निधिः, **अनित्यमिति**= अनित्य है हि **अध्रुवैः** = क्योंकि अनित्य वस्तुओं से, **तत् ध्रुवं** = वह नित्य पदार्थ परमात्मा, **नहि प्राप्यते** = नही मिल सकता, **ततः** इसलिये, **मया**= मैंने कर्त्तव्यबुद्धि से **अनित्यैः द्रव्यैः** = अनित्य पदार्थों के द्वारा, **नाचिकेतः**= नाचिकेत नामक, **अग्निश्चितः** = अग्नि का चयन किया, जिससे **नित्यं** = नित्यवस्तु परमात्मा को **प्राप्तवान् अस्मि** = प्राप्त हो गया हूँ।

अर्थ– हे नचिकेता! मैं इस बात को भली-भाँति जानता हूं, कि कर्मों के फलस्वरूप इस लोक और परलोक के भोग समूह की जो निधि मिलती है, वह चाहे कितनी ही महान् क्यों न हो, एक दिन उसका भी विनाश निश्चित है, अतएव वह अनित्य है, और यह सिद्ध है कि अनित्य पदार्थों से नित्य पदार्थों की प्राप्ति नही की जा सकतीं, इस रहस्य को जानकर ही मैंने पूर्व में निष्काम भावना से युक्त होकर केवल कर्त्तव्य बुद्धि से नाचिकेत अग्नि का चयन अनित्य वस्तुओं (इहम ध्विर्द्रव्यादि) के द्वारा किया, जिसके परिणामस्वरूप नित्य याम्य पद को प्राप्त कर लिया।

संस्कृत भावार्थ– मन्त्रेऽस्मिन् यमेनानित्यपदार्थैः नित्यात्मतत्त्वपरिज्ञानं न लभ्यत इति निर्दिश्यते। स वदति, यत् कर्मफललक्षणो निधि अनित्य इति जानामि, नहि कश्चिन्मनुष्य, अनित्यपदार्थैः नित्यपदार्थैः प्राप्तुं शक्यते, यस्तु अनित्य सुखात्मक = शेवधिः स अनित्य द्रव्यैः प्राप्यते। नित्यमनित्य साधनैर्न प्राप्यत इति जानतापि मया नाचिकेतोऽग्निः स्वर्गसाधनभूतः पश्वादिभिरनित्यद्रव्यैः चितः तेनैव परिणामेन याम्यं नित्य पदं प्राप्तवानस्मि।

कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां
क्रतोरनन्त्यमभयस्य पारम्।

स्तोमं महदुरुगायं प्रतिष्ठां

दृष्ट्वा धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः॥ 11 ॥

अन्वय– नचिकेतः कामस्य आप्तिं जगतः प्रतिष्ठां क्रतोः अनन्त्यम् अभयस्य पारम् स्तोमं महत् उरुगायम् प्रतिष्ठां दृष्ट्वा धृत्या अत्यस्राक्षीः (अतः) धीरः असि।

व्याख्या नचिकेतः = हे नचिकेता! **कामस्य आप्तिं** = जिसमें सब प्रकार के भोग मिल सकतेहैं, **जगतः प्रतिष्ठां** = जो जगत का आधार, **क्रतोः अनन्त्यं** = यज्ञ का चिरस्थायी फल, **अभयस्य पारं** = निर्भयता की अवधि, **स्तोमं महत्** = स्तुति करने योग्य एवं महत्त्वपूर्ण हैं, **उरुगायं** =वेदों में जिसके गुणों की महिमा गायी गयी है, **प्रतिष्ठां** = जो दीर्घकाल तक प्रतिष्ठित है, **दृष्ट्वा धृत्या** = देखकर भी तुमने धैर्यपूर्वक, **अत्यस्राक्षीः** = उसका परित्याग कर दिया (अतः) इसलिए **धीरः असि** = तुम बहुत बुद्धिमान् हो।

अर्थ–हे नचिकेता! तुम वस्तुतः श्रेष्ठ बुद्धि सम्पन्न निष्काम हो, क्योंकि मैंने तुम्हारे सामने वरदान के रूप में उस स्वर्ग को रखा, जो सब प्रकार के भोगों से परिपूर्ण, जगत का आधार स्वरूप, यज्ञादि शुभ कर्मों का अन्तरहित फल, सब प्रकार के दुःख और भय से रहित, स्तुति करने योग्य, और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, वेदों में उसकी महिमा का गान है, वह दीर्घकाल तक स्थिर रहने वाला है, तुमने उसके महत्त्व को समझकर भी बड़े धैर्य से उसका परित्याग कर दिया, इसलिए मैं यह समझता हूँ कि तुम बड़े ही बुद्धिमान्, अनासक्त और आत्मतत्त्व को जानने के अधिकारी हो।

संस्कृत भावार्थ : मन्त्रेऽस्मिन् यमो नचिकेतसो धैर्यं प्रशंसति, स कथयति = हे नचिकेत! त्वमत्यन्तं दृढ़ निश्चयः धीर पुरुषोऽसि, यतो हि त्वया सर्वविध काम्यफलं हैरण्यगर्भ पदं निरति शयं महत्प्रतिष्ठां सांसारिकैश्वर्यजातञ्च परित्यक्तवानसि।

तं दुर्दशं गूढमनुप्रविष्टं

गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।

अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं

मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति।।12।।

अन्वय : गूढम् अनुप्रविष्टं गुहाहितं, गह्वरेष्ठं पुराणं तं दुर्दशं देवं धीरः अध्यात्मयोगाधिगमेन मत्वा हर्षशोकौ जहाति।

व्याख्या–गूढं = जो छिपा हुआ, **अनुप्रविष्टं** = सर्वव्यापी **गुहाहितं** = सबके हृदयाकाश में स्थित, **गह्वरेष्ठं** =संसार रूप गहन वन में रहने वाला, **पुराणं** = सनातन है, **तं दुर्दर्शं देवं** = ऐसे उस कठिनता से देखे जाने वाले परमात्म देव को, **धीरः** = शुद्ध बुद्धि युक्त साधक, **अध्यात्मयोगाधि गमेन** = अध्यात्म योग की प्राप्ति के द्वारा,समझकर **हर्षशोकौ** = हर्ष और शोक को, **जहाति** = त्याग देता है।

अर्थ–बुद्धिमान् पुरुष कठिनता से दीख पड़ने वाले, सभी प्राणियों के हृदयाकाश में निवास करने वाले, सर्वव्यापी उस सत्य सनातन परमात्मा को अपने चित्त की एकाग्रता के द्वारा अच्छी तरह जानकर, हर्ष और शोक का परित्याग कर देता है, अर्थात् बीतशोक होकर आत्माराम हो जाता है।

संस्कृत भावार्थ : धीरः पुरुषः स्वात्मनि प्रकाशितं तत् परमात्मतत्वं साधनचतुष्टयसम्पन्नतया द्रष्टुं शक्यं तं दीप्यमानं देवं अध्यात्मयोगाधिगमनेनाधिगत्य हषशोकौ परित्यजति, वीतशोकः सन् आत्मारामो जायत इति भावः।

एतच्छ्रुत्वा संपरिगृह्य मर्त्यः

प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य।

स मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा

विवृतं सद्म नचिकेतसं मन्ये।। 13।।

अन्वय–मर्त्यः एतत् धर्म्यं श्रुत्वा सम्परिग्रह्य प्रवृह्य एतम् अणुम् आप्य सः मोदनीयं लब्ध्वा मोदते हि नचिकेतसं विवृतं सद्म मन्ये।

व्याख्या–मर्त्यः = मनुष्यः **एतत्** = इस, **धर्म्यं** = धर्ममय उपदेश को, **श्रुत्वा** = सुनकर, **सम्परिग्रह्य** = अच्छी तरह धारण करके, **प्रवृह्य** = और उस पर विवेकपूर्ण विचार करके, **एतम्** = इस, **अणुं** = सूक्ष्म आत्मतत्त्व को, **आप्य** = जानकर, **स** = वह, **मोदनीयं** = आनन्दस्वरूप उस पर ब्रह्म परमात्मा को, **लब्ध्वा** = प्राप्त कर **मोदते हि** =आनन्द में ही मग्न हो जाता है, **नचिकेतसं** = तुम नचिकेता के लिए, **विवृत्तं सद्म मन्ये** = मैं परमात्मा का द्वार खुला हुआ मानता हूँ।

अर्थ–मनुष्य को सबसे पहले इस आत्मज्ञान विषयक धर्ममय उपदेश को सुनना चाहिए, सुनकर उसे एकान्त में मनन एवं चिन्तन कर अपनी बुद्धि में स्थिर करना चाहिए, इस प्रकार के साधनोपाय से जब वह आत्मा को तत्त्वतः समझ लेता है, तब आनन्द स्वरूप परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। हे नचिकेता तुम्हारे लिए उस परमात्मा का द्वार खुला हुआ है, तुमको वहाँ जाने से कोई नहीं रोक सकता है, तुम परमात्मा प्राप्ति के उत्तम अधिकारी हो, ऐसा मैं मानता हूँ।

संस्कृत भावार्थ : अध्यात्मयोगेनात्मज्ञानावाप्तिः शोकादिनिवृत्तिश्चोपदिश्यतेऽत्र यमेन। शास्त्रादिभ्यो ह्यात्मतत्त्वविषये श्रुत्वा तमात्मभावेन परिगृह्य मरणधर्मा मनुष्यः शरीरादेः सूक्ष्मतममेतमात्मानमवाप्य मोदते। एवं प्रकारेण हे नचिकेत! ब्रह्मद्वारं त्वां प्रति सुविवृतमस्तीत्यहं मन्ये।

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्।

अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद।। 14 ।।

अन्वयः- यत् यत् धर्मात् अन्यत्र अधर्मात् अन्यत्र च अस्मात् कृताकृतात् अन्यत्र च भूतात् भव्यात् अन्यत्र पश्यसि तत् वद।

व्याख्या–यत् तत् = जिस उस परमेश्वर को, **धर्मात् अन्यत्र** = धर्म से अतीत, **अधर्मात् अन्यत्र** = अधर्म से अतीत, **च** तथा **अस्मात् कृताकृतात्** = इस कार्य कारण सम्पूर्ण जगत् से भी, **अन्यत्र** = भिन्न, **च** = और, **भूतात् भव्यात्** = भूत भविष्य और वर्तमान तीनों कालों से तथा इनसे सम्बन्धित पदार्थों से भी अन्यत्र पृथक्, **पश्यसि** =आप जानते हैं, **तत्** = उसे, **वद** = मुझको बतलाइये।

अर्थ–नचिकेता ने पूछा कि हे मृत्युदेव! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं, तो धर्म और अधर्म से अतीत, कार्य-कारण प्रकृति से भिन्न, भूत, भविष्य, वर्तमान इन तीनों कालों तथा इनसे सम्बन्धित पदार्थों से भी सर्वथा भिन्न, जिस परमात्मतत्त्व को आप जानते हैं, कृपया उसे मुझको बतलाइये।

संस्कृत भावार्थ : यमेनात्मज्ञानार्हतां श्रुत्वा नचिकेता यमं प्रत्युवाच, हे मृत्युदेव! यदि भवान् मत्तोऽतीव प्रसन्नोऽस्ति, तर्हि धर्माधर्मेभ्योऽतीतं, कार्य-कारणाभ्यां भिन्नं कालत्रयादपि सर्वथातीतं यत् परमात्म तत्त्वं भवान् जानाति, तदेव मह्यमपि समुपदिशतु इति भावः।

सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति

तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।

यदिछन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति

तत्ते पदं सङ्ग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्।।15।।

अन्वय–सर्वे वेदाः यत् पदम् आमनन्ति, च सर्वाणि तपांसि यत् वदन्ति, यत् इच्छन्तः ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत् पदं ते संग्रहेण ब्रवीमि ओम् इति एतत्।।

व्याख्या–सर्वे वेदाः = सम्पूर्ण वेद, **यत् पदं** = जिस परम पद का, **आमनन्ति** = बार-बार प्रतिपादन करते हैं, = **सर्वाणि तपांसि** = सभी प्रकार की तपस्यायें, **यत्** = जिस पद को लक्ष्य करके, **वदन्ति** = साधन का उपदेश करती हैं **यत् इच्छन्तः** = जिसको चाहने वाले साधक गण, **ब्रह्मचर्यं** = ब्रह्मचर्य का, **चरन्ति** = आचरण करते हैं **तत् पदं** = वह पद **ते** = तुम्हें मैं, **संग्रहेण** = संक्षेप में **ब्रवीमि** = बतलाता हूँ वह है = **ओम्** = ओंकार इति एतत् = ऐसा एक अक्षर वाला वर्ण उसका वाचक है।

अर्थ = समस्त वेद जिसका प्रतिपादन करते हैं, सम्पूर्ण तप आदि साधनों का जो एकमात्र परम एवं चरम लक्ष्य है, तथा जिसको प्राप्त करने की इच्छा से साधक निष्ठा पूर्वक ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान किया करते हैं, उस परमात्मतत्त्व को मैं तुम्हें संक्षेप में बतलाता हूँ वह है "ॐ" यह एक अक्षर।

संस्कृत भावार्थ : नचिकेतसः प्रश्नान्तरं यमेन आत्मतत्त्वं निरूपयितुमोंकार उपदिश्यते, तदनुसारं सर्वे ऋगादिवेदा तत्त्वेन यत्प्रतिपादयन्ति, सर्वाणि तपांसि यत्प्राप्तये साधनरूपाणि कथ्यन्ते, यदिच्छया मुमुक्षवो ब्रह्मचर्यमाचरन्ति, तदेव पदं संक्षेपेण तुभ्यं ब्रवीमि ओमिति शब्दवाच्यम्।

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।

एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ।। 16 ।।

अन्वय–एतत् अक्षरम् एव हि ब्रह्म एतत् अक्षरम् एव हि परम् हि एतत् एव अक्षरं ज्ञात्वा यः यत् इच्छति तस्य तत्।

व्याख्या- एतत् = यह, **अक्षरम् एव हि** = अक्षर ही **ब्रह्म** = ब्रह्म है, और, **एतत् अक्षरम् एव हि** = यह अक्षर ही परब्रह्म है, **हि** = इसलिए **एतत् एव** = इसी, **अक्षरं** = अक्षर को, **ज्ञात्वा** = जानकर, **यः** = जो **यत्** = जिसको, **इच्छति** = चाहता है, **तस्य** = उसको **तत्** = वह मिल जाता है।

अर्थ–यह एक अक्षर वाला 'ॐ' ही ब्रह्म पदाभिधेय परमात्मा का स्वरूप है, और यही परब्रह्म पदाभिधेय पर पुरुष का स्वरूप है, अर्थात् उस ब्रह्म और परब्रह्म दोनों का नाम ॐकार है, अतः इस तत्त्व को समझकर साधक जिसको चाहते हैं, उस अभीष्ट रूप को प्राप्त कर लेते हैं।

संस्कृत भावार्थ : ओंकार एवं परम परञ्च ब्रह्म कथ्यते, एतद्धि ब्रह्मपदमुपास्य यो यदिच्छति परमपरं वा तस्य तद्भवति। ओंकार एव स्थूल-सूक्ष्मयोरालम्बनमस्तीति भावः।

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।

एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते।। 17 ।।

अन्वय–एतत् श्रेष्ठं आलम्बनं एतत् परम् आलम्बनम् एतत् आलम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते।

व्याख्या–**एतत्** = यही, **श्रेष्ठम्** = अत्युत्तम, **आलम्बनं** = आलम्बन है, **एतत्** = और यही, **परम् आलम्बनं** =सबका अन्तिम आश्रय है, **एतत् आलम्बनं** = इस आलम्बन को **ज्ञात्वा** = भली-भाँति जानकर, **ब्रह्मलोके** = ब्रह्मलोक में (साधक) **महीयते** = सम्मानित होता है।

अर्थ–यह ॐकार ही परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति के साधनों में सबसे श्रेष्ठ साधन है, और वही अन्तिम आश्रय है। इस रहस्य को अच्छी तरह समझकर जो इस परमात्मा प्राप्ति के साधन को अपना लेता है, वह परमात्मा के सन्निधान में सम्मानित होता है।

संस्कृत भावार्थ : ओंकार एवं श्रेष्ठं परञ्चालम्बनं भवति, आलम्बनमिदम् ज्ञात्वा पुरुषो ब्रह्मलोके सम्मान्यते।

न जायते म्रियते वा विपश्चित्
नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।। 18 ।।

अन्वय-विपश्चित् न जायते वा न म्रियते अयं न कुतश्चित् न कश्चित् बभूव अयं अज: नित्य: शाश्वत: पुराण: शरीरे हन्यमाने न हन्यते।

व्याख्या-विपश्चित् = नित्य ज्ञान स्वरूप आत्मा, **न जायते** = न तो जन्मता है, **वा न म्रियते** = और न मरता ही है **अयम् न** = यह न तो स्वयं, **कुतश्चित्** = किसी से उत्पन्न हुआ है, न कश्चित् **बभूव** = और न इससे कोई पैदा हुआ है, **अयं** = यह, **अजः** = अजन्मा **नित्यः** = नित्य, **शाश्वतः** सदा एक जैसा रहने वाला, **पुराणः** = पुरातन है, **शरीरे हन्यमाने** = शरीर के नष्ट हो जाने पर भी यह, **न हन्यते** = नष्ट नहीं होता है।

अर्थ-नित्य ज्ञान स्वरूप वाला यह आत्मा न किसी काल में उत्पन्न होता है, और न ही मरता है, यह न तो किसी से पैदा होता है, और न किसी को पैदा करता है, क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत, सनातन और पुरातन है, शरीर के नष्ट हो जाने पर भी यह नष्ट नहीं होता है। अर्थात यह आत्मा जन्म-मरण से रहित तथा कार्य-कारण से परे शुद्ध निर्विकार सर्वदा एक रस नित्य चेतन ज्ञान स्वरूप है।

संस्कृत भावार्थ : आत्मज्ञानाय ओंकारालम्बनं यमेनोपदिष्टं, तदेवात्मस्वरूपमिदानीमु पदिश्यते, आत्मा न कदाचिदुत्पद्यते नवा म्रियते, स नित्यचैतन्यस्वरूप: न कुतश्चित् कारणाज्जायते, न चान्यं किमप्युत्पादयति, अयन्तु अजन्मा, नित्यः, शाश्वत: कदाचिदपि नापक्षीयत इति, पुराण: पुरापिनव: साम्प्रतमपि नव: वृद्धिह्रासविवर्जित इत्यर्थ, अतएव शस्त्रादिभि: शरीरे हन्यमानेऽपि न हिंस्यते, आकाशवद स्थिरो भवती त्यर्थ।

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ।।19।।

अन्वय-हन्ता हन्तुं चेत् मन्यते, हत: हतं चेत् मन्यते, तौ उभौ न विजानीत, अयं न हन्ति न हन्यते।

व्याख्या-हन्ता = मारने वाला, **हन्तुं** = अपने को मारने में समर्थ, **चेत्** = यदि, **मन्यते** मानता है, **हतः** = मारा जाने वाला, **हतं** = अपने को मारा गया, **चेत्** = यदि, **मन्यते** = मानता है, तो **तौ उभौ** = वे दोनों ही **न विजानीतः** =अपने वास्तविक स्वरूप को न ही जानते हैं, क्योंकि **अयम्** = यह आत्मा, **न हन्ति** = न तो किसी को मारता है, और **न हन्यते** = न किसी के द्वारा मारा ही जाता है।

अर्थ-यदि कोई अपने आपको आत्मा को मारने वाला मानताहै, तथा कोई आत्मा को मरा हुआ मानता है तो वे दोनों ही आत्मा के वास्तविक स्वरूप को नहीं जानते हैं। वस्तुत: आत्मा न किसी को मारता है, न किसी के द्वारा मारा जा सकता है।

संस्कृत भावार्थ : आत्मनो नित्यत्वमजरामरत्वञ्चा त्र निरूप्यते, यदि कश्चिदात्मानं हन्ता मन्यते तथा कश्चित आत्मा केनचित हतो मन्यते तर्हि उभौ तौ नैव जानीत: आत्मनो वास्तविकं स्वरूपम्, यतो हि आत्मा न कञ्चित् हन्ति न केनाचित् हन्यते, शरीरमेव हन्ता हतञ्च भवतीति भाव:।

अणोरणीयान् महतो महीयान्
आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।

तमक्रतुः पश्यति वीतशोको

धातुप्रसादान् महिमानमात्मनः।।20।।

अन्वय–अस्य जन्तोः गुहायाम् निहितः आत्मा अणोः अणीयान् महतः महीयान् आत्मनः तं महिमानं अक्रतुः वीतशोकः धातु प्रसादात् पश्यति।

व्याख्या–अस्य = इस, **जन्तोः** = जीवात्मा के, **गुहायां** = हृदय रूपी गुफा में, **निहितः** = रहने वाला, **आत्मा** = परमात्मा **अणोः अणीयान्** = सूक्ष्म से अति सूक्ष्म, तथा **महतः महीयान्** = महान् से भी महान है, **आत्मनः तं महिमानं** = परमात्मा की उस महिमा को, **अक्रतुः** = कामना रहित, और **वीतशोकः** = चिन्ता रहित कोई विरला साधक, **धातुप्रसादात्** = सर्वाधार परब्रह्म परमेश्वर की कृपा से ही, पश्यति = देख पाता है।

अर्थ–प्राणी के हृदय रूपी गुफा में रहने वाला वह परमात्मा सूक्ष्म से सूक्ष्मतम तथा महान् से भी अति महान् है, परमात्मा के इस माहात्म्य स्वरूप को उन्हीं परमेश्वर की कृपा प्रसाद से कोई निष्काम एवं चिन्तारहित साधक ही देख पाता है।

संस्कृत भावार्थ : प्राणीनां हृदयेषु सन्निविष्टोऽयमात्मा सूक्ष्मादपि सूक्ष्मतमः महतोऽपि महत्तमः अस्ति। तदेतद् परमात्मनो माहात्म्यं तदीयानुग्रहेणैव कश्चित् ज्ञातुं प्रभवतीति भावः।

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।

कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ।। 21।।

अन्वय–आसीनः दूरं व्रजति शयानः सर्वतः याति तं मदामदं देवं मदन्यः कः ज्ञातुमर्हति।

व्याख्या–आसीनः = बैठा हुआ ही वह परमेश्वर, **दूरं व्रजति** = दूर-दूर तक चला जाता है, **शयानः** = सोता हुआ भी **सर्वतः याति** = सब ओर चलता रहता है, **तं मदा मदं देवं** = उस ऐश्वर्य के मद से उन्मत्त न होने वाले देव को, **मदन्यः कः** = मेरे अतिरिक्त और कौन दूसरा **ज्ञातुमर्हति** = जानने में समर्थ हैं।

अर्थ–वह परमात्मा एकत्र बैठा हुआ भी दूर-दूर तक पहुँच जाता है, सोता हुआ भी सभी ओर चलता रहता है, उस ऐश्वर्य के मद से उन्मत्त न होने वाले देव (परमेश्वर) को मेरे अतिरिक्त दूसरा कौन (मर्त्य) प्राणी जानने में समर्थ है।

संस्कृत भावार्थ : स परमात्मा एकत्रस्थितः सन् दूरात् दूरतरमातो गन्तुं शक्नोति, शयानोऽपि सर्वत्राभिगन्तुं समर्थो भवति, तादृशोऽयमात्मा परमसामर्थ्यसम्पन्नो ऽपि मदरहितो भवति तमात्मानं मदन्यः कश्चित् मर्त्यो न कदापि ज्ञातुं शक्नोति।

अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्वस्थितम्।

महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ।। 22।।

अन्वय–अनवस्थेषु शरीरेषु अशीररम् अवस्थितम् महान्तं विभुम् आत्मानं मत्वा धीरः न शोचति।

व्याख्या–अनवस्थेषु = जो स्थिर न रहने वाले विनाशशील, **शरीरेषु** = शरीरों में, **अशरीरं** = शरीर रहित एवं अविचल भाव से, **अवस्थितं** = स्थित है, **महान्तं** = उस महान्, **विभुं** = सर्वव्यापी, **आत्मानं** = परमात्मा को **मत्वा** =जानकर, **धीरः** = बुद्धिमान पुरुष, **न शोचति** = कभी किसी भी कारण से शोक नहीं करता।

अर्थ–प्राणिओं के अनित्य एवं विनाशशील शरीरों में नित्य अशरीरी रूप से रहने वाले उस परमात्मा को, जो प्राकृत देश कालादि से अपरिच्छिन्न होने के कारण महान् एवं सर्वव्यापी है, को जानकर ज्ञानी बुद्धिमान् पुरुष कभी किसी भी कारण से किञ्चिन्मात्र भी शोक नहीं करता है।

संस्कृत भावार्थ : प्राणिमात्र शरीरेषु निवसन्तं तं परमात्मानं यः कश्चिद् मतिमान् पुरुषो जानाति स न कदापि शोकमोहादियुक्तो भवति, अर्थात् परमात्मानं ज्ञात्वा वीतशोको भवतीत्यभिप्रायः।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो

न मेधया न बहुना श्रुतेन।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः

तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।।23।।

अन्वयः—अयम् आत्मा न प्रवचनेन, न मेधया, न बहुना श्रुतेन लभ्यः यम् एषः वृणुते तेन एव लभ्यः, एषः आत्मा तस्य स्वां तनुं विवृणुते।

व्याख्या—अयमात्मा = यह परब्रह्म परमात्मा, **न प्रवचनेन** = न तो प्रवचन से, **न मेधया** = न बुद्धि से न **बहुना श्रुतेन** = और न बहुत सुनने से ही, **लभ्यः** = प्राप्त हो सकता है, **यं** = जिसको, **एषः** = यह, **वृणुते** = वरण करता है, **तेन एव लभ्यः** उसी के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, क्योंकि **एषः आत्मा** = यह परमात्मा, **तस्य** = उसके लिए, **स्वां तनुं** = अपने यथार्थ स्वरूप को, **विवृणुते** = प्रकट कर देता है।

अर्थ—प्राणि मात्र के हृदय गुफा में निवास करने वाला वह परमात्मा न तो प्रवचन से, न धारणात्मिका बुद्धि से और न बहुत ही श्रवण से प्राप्त होने योग्य है, वह परमात्मा ही जिसको अपना लेता है वही उस परमात्मा को जान पाने में समर्थ होता है, उसी के अन्तःकरण में परमात्मा अपने यथार्थ स्वरूप को प्रकट कर देता है।

संस्कृत भावार्थ : प्राणिहृद्देशेषु प्रतिष्ठितोऽयमात्मा न कदापि प्रवचनेन, न बुद्धया, न बहुश्रुतेनापि लब्धुं ज्ञातुं वा योग्यः। स परमात्मा आत्मनोऽभिज्ञानार्थं यं वृणुते स एव तं परमात्मानं ज्ञातुं प्रभवति नान्यः कश्चिदिति भावः।

नाविरतो दुश्चरितात् नाशान्तो नासमाहितः।

नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥ 24॥

अन्वय—प्रज्ञानेन अपि एनं न दुश्चरितात् अविरतः आप्नुयात् न अशान्तः न असमाहितः वा न अशान्तमानसः।

व्याख्या—प्रज्ञानेन = सुक्ष्म बुद्धि के द्वारा, **अपि** = भी, **एनं** = इस परमात्मा को, **न दुश्चरितात् अविरतः आप्नुयात्** = न तो वह मनुष्य प्राप्त कर सकता है, जो बुरे आचरणों से निवृत्त नहीं हुआ है, **न अशान्तः** = न वह प्राप्त कर सकता है, जो अशान्त है, **न असमाहितः** = न वह, जिसके मन, इन्द्रियां संयत नहीं है, **वा** = और **न अशान्तमानसः** = और न वह प्राप्त कर सकता है जिसका मन शान्त नहीं है।

अर्थ—जो बुरे आचरणों से निवृत्त नहीं हुआ है, तथा जिसके मन एवं इन्द्रियां संयमित नहीं है, तथा जिसका मन शान्त एवं निश्चल नहीं है, वह अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा भी परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकता है।

संस्कृत भावार्थ : यः खलु मनुष्यः निषिद्धाचरणेभ्यः नास्ति विरतः तथा यः नास्ति जितेन्द्रियः, स अत्यन्त सूक्ष्मतमं परमात्मनो रूपं ज्ञातुं न प्रभवतीति तात्पर्यम्।

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः।

मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः।

अन्वय—यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे ओदनः भवतः मृत्यु यस्य उपसेचनं (भवति) सः यत्र इत्था क· वेद।

व्याख्या–यस्य = प्रलयबेला में जिस परमेश्वर के, **ब्रह्म च क्षत्रं च उभे** = ब्राह्मण और क्षत्रिय ये दोनों ही, **ओदनः** = भोजन, **भवतः** = बन जाते हैं, **मृत्युः** = सबका संहार करने वाली मृत्यु भी, **यस्य** = जिसका **उपसेचनं** =भोजन का सहयोगी हो जाता है। **सः यत्र** = वह परमेश्वर जहां और जैसा है, **इत्था** = उसको ठीक-ठीक **कः वेद** = कौन जान सकता है।

अर्थ–सृष्टि के संहार काल में ब्राह्मण क्षत्रिय आदि मनुष्य जिस परमेश्वर के भोजन अर्थात् आहारग्रास हो जाते हैं, तथा सबका संहार करने वाला मृत्यु भी जिसके भोजन में सहायक हो जाता है उस परमेश्वर के विषय में यथार्थ रूप से कौन जान सकता है।

संस्कृत भावार्थ : सृष्टि प्रलयावसरे परमेश्वरः स्वात्मनि समग्रं जगद् विलीनयति, ब्राह्मण क्षत्रियादयो मनुष्यास्तु तस्मिन्काले मृत्युरूपपरमेश्वरस्य ओदनकल्पाः भोजनसामग्रिरूपाश्च भवन्ति। तादृशस्य मृत्युरूपस्य परमेश्वरस्य विषये याथातथ्येन कः वक्तुमर्हति, कश्च ज्ञातुं प्रभवतीति भावः।

विशेष–ब्राह्मणादि समस्त प्राणी मात्र जिस काल स्वरूप परमेश्वर के भोजन बन जाते हैं, तथा सबको मारने वाले मृत्युदेव भी जिस परमेश्वर के भोजन के सहायक पदार्थ (चटनी आदि) बन जाते हैं, ऐसे ब्राह्मणादि समस्त प्राणियों के तथा स्वयं मृत्यु के संहारक उस परमात्मा को, कोई भी मनुष्य अपने अनित्य मन-बुद्धि-इन्द्रियों के द्वारा कैसे जान सकता है और किसका सामर्थ्य है कि जो सबके जानने वाले को जान सकता है, अतः यही कहना उचित है कि परमात्मा स्वयं ही अपनी कृपा से जिसको अपना यथार्थ स्वरूप समझाना चाहते हैं, वहीं उनको जान सकता है, दूसरा कोई नहीं। महर्षि वाल्मीकि ने राम से यही वेदोक्ततत्त्व कहा था, जिसे तुलसीदास ने व्यक्त किया - "सोई जानइ जेहि देहु जनाई, जानत तुम्हइ तुम्हइ होइ जाई।। (अयोध्या काण्ड)

शाब्दिक निर्वचन

आपनेया–'आप्लृ' धातु से अनीयर प्रत्यय करने के बाद मति का विशेषण होने से स्त्रीलिङ्ग टाप् प्रत्ययान्त यह प्रयोग है, परन्तु पाणिनीय व्याकरण के अनुसार 'आपनीया' प्रयोग होना चाहिए, अतः आर्ष प्रयोग के रूप में यह साधु है,

अनन्त्यम् = अनन्तस्य भावःकर्म वा आनन्त्यं यह प्रयोग होना चाहिए, परन्तु वैदिक आर्ष प्रयोग होने से ष्यञ् प्रत्यय होने पर भी आदि वृद्धि नहीं हुयी, अतः वैदिकि प्रयोग के रूप में अनन्त्यं साधु प्रयोग है।

गुहाहितम् = गुहायाम् आहितः = गुहाहितः तम् यहाँ पर क्त प्रत्यय हुआ है, **"दधातेर्हि"** सूत्र से धाके स्थान पर हि आदेश होने 'गुहाहितं' यह प्रयोग सिद्ध होता है, जिसका अर्थ है, हृदय रूपी गुफा में स्थित उस आत्मा को।

विपश्चित–वि एवं प्र उपसर्ग पूर्वक चित् धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर विपश्चित शब्द निष्पन्न होता है। विशिष्टं प्रकृष्टञ्च चेतति इति) "पृषोदरादीनि यथोपदिष्टं" सूत्र के बल से यहाँ 'प्र' को पश आदेश हो गया है, और क्विप् का सर्वापहारी लोप हो गया है। अतः 'विपश्चित्' यह प्रयोग निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है, चैतन्य आत्मा, या ज्ञानवान् पुरुष।

पारिभाषिक शब्दार्थ

बत–यह एक अव्यय पद है, जिसका अर्थ है, सचमुच, वास्तव में।

त्वादृक्–युस्मत् सर्वनाम से त्वा आदेश होने पर समान अर्थ में दृश तथा क्विप् प्रत्यय के अनन्तर 'त्वादृक' रूप बनता है, जिसका अर्थ है, तुम्हारे जैसा।

उरुगाय–महात्माओं के द्वारा जिसका यशोगान किया जाता है, अथवा जिसका महती गति होती है, उसे उरुगाय कहा जाता है, प्रायः यह पद ईश्वर या आत्मा के विशेषण के रूप में प्राप्त होता है।

पुराणम् = अत्यन्त पुरातन आत्मा को पुराण सनातन शाश्वत, आदि शब्दों से कहा गया है।

मर्त्य = मरणधर्म मनुष्य के लिए मर्त्य शब्द का प्रयोग किया जाता है।

संग्रहेण–यहाँ संग्रह का अर्थ संक्षेप किया गया है अत: "संग्रहण ब्रवीमि" का अर्थ है संक्षेप से कहता हूँ।

अजः–जो कभी उत्पन्न नहीं होता है, उसे अज: कहा गया है, यह आत्मा का विशेषण पद है।

मदामदं–"मदश्च अमदश्चेति महामद: "इसका अर्थ है, मद = ऐश्वर्य होने पर भी जो मद वाला न हो, अर्थात् उन्नत न हो वह मदामद् कहलाता है, ऐसा विशेषण केवल ईश्वर में ही संगत होता है।

षष्ठ इकाई-श्लोक व्याख्या

इकाई की रूपरेखा

1. उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. इकाई की परिधि
4. श्लोक व्याख्या
5. शाब्दिक निर्वचन
6. पारिभाषिक शब्दार्थ

उद्देश्य

1. छठी इकाई में अब आप आत्मज्ञान के विषय में यमराज द्वारा नचिकेता को उपदिष्ट रथ रूपक का अध्ययन कर सकते हैं।

2. रथ रूपक के उदाहरण से आत्मा और जीवात्मा का भेद समझ सकते हैं।

3. वस्तुत: जीवात्मा और परमात्मा का अभेद सम्बन्ध है, दोनों अभिन्न हैं, फिर भी रथ रूपक में आप दोनों को भिन्न-भिन्न उपाधि से युक्त देख सकते हैं।

4. हृदय अथवा बुद्धि रूपी गुफा में छिपे हुये उस आत्मा के स्वरूप को यमराज के शब्दों में सुन सकते हैं।

5. आत्मा और जीवात्मा दोनों को एक ही अधिष्ठान में आतप और छाया की तरह समझ सकते हैं।

6. प्रथम अध्याय की तृतीय वल्ली का विषय वस्तु ही इस इकाई का विवेच्य होगा।

प्रस्तावना–पांचवीं इकाई में विद्या और अविद्या का कथन किया गया, जिसको श्रेय और प्रेय के रूप में समझाया गया, जिसका फल सहित निर्णय इस छठी इकाई में बतलाया जाएगा, उसके लिए रथ-रूपक की प्रकल्पना द्वारा जीव के प्राप्तव्य को उसके गन्तव्य के रूप में दर्शाया जायगा। यहां पर गन्ता और गन्तव्य रूप से जीवात्मा और परमात्मा का उपन्यास करके सर्वथा अभिन्न दो आत्माओं को भिन्न-भिन्न रूप से दर्शाकर अन्त में उसके तात्त्विक एकता का प्रतिपादन किया जाएगा।

इकाई की परिधि–कठोपनिषद् प्रथम अध्याय की सम्पूर्ण तृतीय वल्ली इस छठी इकाई की परिधि कही जाएगी, इसमें कुल 17 श्लोक हैं, जिसमें अन्त के दो श्लोकों में फल श्रुति बतलायी गयी है, तथा प्रारम्भिक श्लोकों में रथ रूपक द्वारा जीवन का परम लक्ष्य परमात्मा की प्राप्ति है ऐसा बतलाया गया है।

तृतीय वल्ली

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके
गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति
पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः॥ 1 ॥

अन्वय–सुकृतस्य लोके परमे परार्धे गुहां प्रविष्टौ ऋतं पिबन्तौ छायातपौ ब्रह्मविद: वदन्ति च ये त्रिणाचिकेता: पञ्चाग्नय: (ते वदन्ति)

व्याख्या–सुकृतस्य लोके = शुभ कर्मों के फलस्वरूप मनुष्य शरीर में, **परमे परार्धे** =

परब्रह्म के उत्तम निवास स्थान हृदयाकाश में, **गुहां प्रविष्टौ** = बुद्धि रूप गुफा में छिपे हुये, **ऋतं पिबन्तौ** = सत्य का पास करने वाले वे दोनों, **छायातपौ** = छाया और धूप की भांति परस्पर भिन्न हैं **ब्रह्मादि** = ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी पुरुष, **वदन्ति** = इस बात को कहते हैं, **च ये** = और जो, **त्रिणाचिकेता** = तीन बार नाचिकेत अग्नि का चयन कर लिए हैं, ऐसे, **पञ्चाग्नयः** =पञ्चाग्निसम्पन्न गृहस्थ लोग भी कहते हैं।

अर्थ–ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी जन तथा नाचिकेत अग्नि का तीन बार चयन करने वाले पञ्चाग्नि के उपासक सद्गृहस्थ जन भी यही कहते हैं कि शुभ कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त मनुष्य शरीर के हृदयाकाश में बुद्धि रूपी गुफा के अन्दर स्वकर्मकृत फल का भोग करने वाले छाया और धूप के समान जीवात्मा और परमात्मा दो तत्त्व रहते हैं।

संस्कृत भावार्थ : ऋतं नाम सत्यं कर्म फलं जीवात्मपरमात्मयोः यद्यपि एकः कर्मफलं पिबति अपरः केवलं साक्षी रूपेण पश्यति सर्वम् तथापि पातृसम्बन्धात् पिबन्तौ इत्युक्तं छत्रिन्यायेन। तदेवात्रोच्यते ब्रह्मवेत्तारः त्रिवारं कृतचयनाग्नयः पञ्चाग्नि समुपासकाः वदन्ति, यत् अस्मिन् शरीरे बुद्धिगुहायां छायातपौ सदृशौ द्वौ तत्त्वौ सुकृतफलं लभन्तौ प्रतिष्ठितौ स्तः। तदेव तत्वद्वयं श्रुतौ "द्वा सु पुर्णा सयुजा" इति मन्त्र-वर्णेन समाम्नातं दृश्यते।

यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत् परम्।

अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतं शकेमहि ॥ 2 ॥

अन्वय–ईजानानां यः सेतुः नाचिकेतं पारं तितीर्षतां यत् अभयम् अक्षरम् परम् ब्रह्म शकेमहि।

व्याख्या–ईजानानां = यज्ञादि करने वालों के लिए **यः सेतुः** = जो दुःख समुद्र से पार पहुंचा देने योग्य सेतु है, **नाचिकेतम्** = उस नाचिकेत अग्नि को **पारं तितीर्षतां** = संसार समुद्र से पार होने की इच्छा वालों के लिए, **यत् अभयं** = जो भय रहित पद है **अक्षरं** = उस अविनाशी, **परं ब्रह्म** = परब्रह्म परमात्मा को, **शकेमहि** = जानने और प्राप्त करने में हम समर्थ हों।

अर्थ–जो यज्ञादि धर्म कार्य करने वालों के लिए सेतु (पुल) के समान है, ऐसे उस नाचिकेत अग्नि को, तथा जो संसार सागर को पार कर जाने वाले ज्ञानी महात्माओं के लिए भयशून्य किनारा है, ऐसे उस परब्रह्म परमात्मा को जानने में हग समर्थ हों, अर्थात् स्वर्ग साधनभूत नाचिकेत अग्नि को तथा उसके अनन्तर परब्रह्म परमात्मा को हे प्रभो! तुम्हारी कृपा से हम जान सकने में समर्थ हो जाय।

संस्कृत भावार्थ : अत्र नचिकेता यमराजं प्रार्थ यति यत् यजन कर्मिणां यः परमात्मा सेतुरिव वर्तते, तथा संसारं तर्तुमिच्छतां ब्रह्मविदां कृते यः परमाश्रयं विद्यते, तमात्मानं वयं ज्ञातुं प्रभवाम इति कृपा विधेया।

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।

बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ 3 ॥

अन्वय–आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरम् एव तु रथं बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः एव च प्रग्रहम्॥

व्याख्या–आत्मानं = जीवात्मा को, **रथिनं** = रथी, **विद्धि** = जानो, **शरीरम् एव तु रथं** = और शरीर को ही रथ समझो, **बुद्धिं तु सारथिं विद्धि** = तथा बुद्धि को रथ चलाने वाला सारथि समझो, **च मनः एव प्रग्रहम्** = और मन को ही लगाम समझो।

अर्थ–हे नचिकेता! तुम आत्मा को रथी समझो, और शरीर को ही रथ समझो, बुद्धि को सारथि समझो तथा मन को ही लगाम समझो।

संस्कृत भावार्थ : अत्र यमो नचिकेतसमुपदिशति, हे नचिकेतः! त्वया शरीरमिदं रथोऽवगन्तव्यः तमारुढः जीवात्मा एव रथी ज्ञातव्यः तत्र सारथीरूपा बुद्धिरस्तीति मन्तव्या, अथ च मन एव तत्र प्रग्रहोऽवगन्तव्य इति।

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।

आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥ 4 ॥

अन्वय–मनीषिणः इन्द्रियाणि हयान् आहुः विषयान् तेषु गोचरान् आत्मेन्द्रियमनो युक्तं भोक्ता इति आहुः।

व्याख्या–मनीषिणः = ज्ञानी जन, **इन्द्रियाणि** = इन्द्रियों को, **हयान्** = घोड़े, **आहुः** = बतलाते हैं, **विषयान्** =और विषयों को, **तेषु गोचरान्** = उन घोड़ों के विचरने का मार्ग, **आत्मेन्द्रिय मनोयुक्त** = शरीर इन्द्रिय, और मन के साथ रहने वाला जीवात्मा ही, **भोक्ता** = भोक्ता है, **इति आहुः** = ऐसा बतलाते हैं।

अर्थ–ज्ञानी जन इन्द्रियों को घोड़े, विषयों को उनके विचरने का मार्ग तथा शरीर इन्द्रिय और मन से युक्त जीवात्मा को उसका भोक्ता बतलाते हैं।

संस्कृत भावार्थ : तस्मिन् शरीरात्मके रथे मनीषिणः परिकल्पयन्ति यत् इन्द्रियाण्येव तत्र अश्वरूपाः सन्ति, इन्द्रिय विषयो हि तेषामभिचरण पन्था अस्ति, शरीरेन्द्रिय मनोभिः युक्तो जीवात्मा रथी रूपेण तमारूढ़ः सन् भोक्ता विचरण कर्ता च भवति।

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।

तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः॥ 5 ॥

अन्वयः- यः सदा अविज्ञानवान् तु अयुक्तेन मनसा भवति तस्य इन्द्रियाणि सारथेः दुष्टाश्वा इव अवश्यानि (भवन्ति)

व्याख्या–यः = जो, **सदा** = सदा, **अविज्ञानवान्** = विवेकहीन बुद्धि वाला, **तु** = और, **अयुक्तेन मनसा** =चञ्चल मन वाला, **भवति** = होता है, **तस्य** = उसकी **इन्द्रियाणि** = इन्द्रियां, **सारथेः** = असावधान सारथि के, **दुष्टाश्वा इव** = दुष्ट घोड़ो की तरह **अवश्यानि** = वश में न रहने वाली हो जाती है।

अर्थ–जो मनुष्य विवेक शून्य बुद्धि वाला तथा असंयत मन वाला होता है, उसकी इन्द्रियां उसी प्रकार उसके वश में कभी भी नहीं रहती हैं; जैसे किसी असावधान सारथि के दुष्ट घोड़े उसके वश में नहीं होते हैं।

संस्कृत भावार्थ : विवेकसम्पन्नः सारथिः रथसंचालनं साधुरीत्या कर्तुं प्रभवति तथा विवेक रहितः सारथिस्तु असंयतमनाः भूत्वा रथं गर्ते निपातयति। विवेकशून्य त्वात् असावधानतया तदीयाः रथाश्वाः तत् वशगाः न भवन्तीति भावः।

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।

तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः॥ 6 ॥

अन्वय–यः तु सदा विज्ञानवान् युक्तेन मनसा भवति तस्य इन्द्रियाणि सारथेः सदश्वाः इव वश्यानि (भवन्ति)।

व्याख्या–यः तु सदा = परन्तु जो सदा, **विज्ञानवान्** = विवेकशील बुद्धिवाला, **युक्तेन मनसा** = संयतमन वाला, **भवति** = रहता है, **तस्य**= उसकी **इन्द्रियाणि** = इन्द्रियां, **सारथेः** = सावधान सारथि के **सदश्वाः इव** = अच्छे घोड़ों की तरह, **वश्यानि** = वश में रहती है।

अर्थ–परन्तु जो सदा विवेकशील बुद्धि वाला और संयत मन वाला होकर रहता है, उसकी इन्द्रियां अच्छे सारथी के घोड़ों की भाँति इसके वश में रहती है।

संस्कृत भावार्थ : परन्तु रथवाहको यदा विवेकयुक्तः समनस्को भवति तदा तदीया रथाश्वाः ततवशगाः अवश्यं भवन्ति तथा तस्य रथो न कदाचिदपि गर्ते पततीति भावः।

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाशुचिः।

न स तत्पदमाप्नोति संसारञ्चाधि गच्छति ॥ 7 ॥

अन्वय–यः तु सदा अविज्ञानवान् अमनस्कः अशुचिः भवति सः तत्पदं न आप्नोति च संसारम् अधिगच्छति।

व्याख्या–यः तु सदा = और जो सदा, **अविज्ञानवान्** = विवेकहीन बुद्धि वाला, **अमनस्कः** = असंयत चित्त वाला **अशुचिः** = अपवित्र, **भवति** = रहता है, **सः तत्पदम्** = वह उस परम पद को, न आप्नोति = प्राप्त नहीं कर सकता, **अपितु, संसारमधिगच्छति** = बार-बार जन्म-मृत्यु रूप संसार में ही भटकता रहता है।

अर्थ–और जो मनुष्य सदा विवेक शून्य बुद्धि वाला, असंयत चित्त वाला, अपवित्र रहता है, वह उस परम पद (परमात्म प्राप्ति) को प्राप्त नहीं कर पाता है, बल्कि जन्म-मृत्यु वाले इस संसार में बार-बार भटकता रहता है।

संस्कृत भावार्थ : अपि च यः मनुष्यः सदा असंयतमनाः विवेकशून्यो भवति स तं परमात्मानं ज्ञातुमेव न शक्नोति अपितु पौनः पुन्येन जन्ममृत्युग्रहेणन संसारेऽस्मिन् चिरकालं यावत् भ्रमत्येव।

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः।

स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ॥ 8 ॥

अन्वय–तु यः सदा विज्ञानवान् समनस्कः शुचिः भवति सः तु तत्पदम् अप्नोति यस्मात् भूयः न जायते।

व्याख्या–तु यः सदा = और जो सदा, **विज्ञानवान्** = विवेकशील बुद्धि से युक्त, **समनस्कः** = संयत चित्त-वाला, **शुचिः** = पवित्र, **भवति** = रहता है, **सः तु** = वह तो, **तत्पदं** = उस परम पद (परमात्म प्राप्ति) को **आप्नोति** = प्राप्त कर लेता है, **यस्मात्** = जहाँ से लौटकर, **भूयः** = पुनः, **न जायते** = उत्पन्न नहीं होता है।

अर्थ–और जो मनुष्य सदैव विवेक सम्पन्न तथा संयत मन वाला, पवित्र आचरण वाला होकर रहता है, वह तो निश्चित ही उस परमात्मा प्राप्ति रूप परम पद को प्राप्त कर लेता है, और पुनः इस संसार में लौटकर जन्म नहीं लेता है।

संस्कृत भावार्थ : अपि च य साधको मनुष्यः सदा शुचिः समनस्कः विवेकसम्पन्नो भवति स तं परमात्मानमवश्यं ज्ञातुं प्रभवति यद् ज्ञात्वा संसारचक्रे पुनः न निपततीति भावः।

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान् नरः।

सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ 9॥

अन्वय–यः नरः विज्ञान सारथिः तु मन-प्रग्रहवान् सः अध्वनः पारम् विष्णोः तत्परमं पदं आप्नोति।

व्याख्या–य नरः = जो कोई मनुष्य, **विज्ञान सारथिः तु** = विवेकशील बुद्धि रूपी सारथि से सम्पन्न और, **मनः प्रग्रहवान्** = मन रूपी लगाम को वश में रखने वाला है, **सः** = वह, **अध्वनः** = संसार मार्ग के, **पारं** = पार पहुंच कर, **विष्णोः** = सर्वव्यापी परमात्मा के **तत्परमं पदं** = उस परम पद को **आप्नोति** = प्राप्त हो जाता है।

अर्थ–और जो कोई मनुष्य अपनी बुद्धिरूपी सारथि से युक्त, तथा अपने मनरूपी लगाम को वश में रखने वाला होता है, वह संसार मार्ग के पार पहुँच कर सर्वव्यापी परमात्मा के उस परम पद (धाम) को प्राप्त हो जाता है, जिसे भगवान् ने स्वयं गीता में बतलाया है, "यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।"

संस्कृत भावार्थ : "यद् गत्वा न विवर्तन्ते तद्धाम परमं मम" इति गीतायां भगवदुक्तं यद्धाम तदेव विष्णोः परमं पदमभिज्ञायते, यः साधकः बुद्धिमता सारथिना युक्तः स्ववशीकृतो मनो रूप ग्रग्रहः स एव संसारात् परं परमात्मनः परमं स्थानं प्राप्तुं शक्नोति नान्य इति भावः।

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।

मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥ 10 ॥

अन्वय–हि इन्द्रियेभ्यः अर्थाः पराः च अर्थेभ्यः मनः परम् तु मनसः बुद्धि परा बुद्धेः महान् आत्मा परः।

व्याख्या–**हि इन्द्रियेभ्यः** = क्योंकि इन्द्रियों से, **अर्थाः** = शब्दादि विषय, **पराः** बलवान् है **च** = और, **अर्थेभ्यः** =शब्दादि विषयों से, **मनः** = मन, **परम्** = प्रबल है, **तुमनसः** = और मन से भी, **बुद्धिः** = बुद्धि **परा** = बलवती है, **बुद्धेः** = बुद्धि से, **महान् आत्मा** = महान् आत्मा सबका स्वामी होने के कारण, **परः** = अत्यन्त श्रेष्ठ और बलवान् है।

अर्थ– इन्द्रियों से उनके शब्द स्पर्श रूप रसादि विषय सूक्ष्म या श्रेष्ठ हैं, विषयों से मन सूक्ष्म या श्रेष्ठ है, मन से बुद्धि सूक्ष्म या श्रेष्ठ है, बुद्धि से महान् आत्मा अर्थात् हिरण्यगर्भ सूक्ष्म या श्रेष्ठ है।

संस्कृत भावार्थ– अत्र स्थूलात् सूक्ष्मं निरूप्यते, यत् सूक्ष्मं तत् स्थूलापेक्षया श्रेष्ठं भवति, शब्दस्पर्शादिभ्यो विषयेभ्यः इन्द्रियाणि स्थूलानि भवन्ति तेभ्यो शब्दादि विषयाः सूक्ष्माः विषयेभ्यो मनः सूक्ष्मं मनसो बुद्धिः सूक्ष्मा बुद्धेः महान् श्रेष्ठश्च आत्मा सूक्ष्मो भवति, अर्थात् इन्द्रियादि भ्यो सूक्ष्मतमो ह्यात्मा भवतीत्यर्थः।

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।

पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥ 11॥

अन्वय– महतः परम् अव्यक्तम् अव्यक्तात् परः पुरुषः पुरुषात् परं किञ्चित् न सा काष्ठा सा परा गतिः॥

व्याख्या– **महतः**= उस जीवात्मा से, **परम्**=बलवती है, अव्यक्त मायाशक्ति, **अव्यक्तात्**=उस मायाशक्ति से भी, **परः**= श्रेष्ठ है, **पुरुषः**= स्वयं परमेश्वर, **पुरुषात्** = उस परमेश्वर से, **परं**=श्रेष्ठ, **किञ्चिन्न**=कुछ भी नही है, **सा काष्ठा**=वही सबकी परम अवधि, **सा परा गतिः**= वही परम गति है।

अर्थ– जीवात्मा से श्रेष्ठ एवं बलवती है परमेश्वर की माया शक्ति, उस माया शक्ति से भी श्रेष्ठ एवं बलवान् हैं, स्वयं परमेश्वर, उस परमेश्वर से बलवान् और श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है, क्योंकि वही श्रेष्ठता की अन्तिम सीमा है और वही एक मात्र सबका प्राप्तव्य एवं गन्तव्य है।

संस्कृत भावार्थ– जीवात्मनो जगतो वीजभूतमक्तं परं श्रेष्ठञ्च वर्तते, ग्रेस्मादपि अव्यक्तात् परमात्मा परः श्रेष्ठश्च वर्तते। तस्मात् परमात्मनः परं श्रेष्ठञ्च न किञ्चिदपि विद्यते, स एव सर्वकारणकारणः, परमप्राप्तव्यो विद्यत इति भावः।

एष सर्वेषु भूतेषु गूणोत्मा न प्रकाशते।

दृश्यते त्वग्रय्या बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥ 12॥

अन्वय– एषः आत्मा सर्वेषु भूतेषु गूढः न प्रकाशते तु सूक्ष्म दर्शिभिः सूक्ष्मया अग्रय्या बुद्धया दृश्यते।

व्याख्या– **एषः आत्मा**= यह सबका आत्मरूप परम पुरुष, **सर्वेषु भूतेषु**= समस्त प्राणियों में रहता हुआ भी **गूढः** = माया के परदे में छिपा रहने के कारण **न प्रकाशते** = सबके प्रत्यक्ष नही होता है, **तु सूक्ष्मदर्शिभिः**= केवल सूक्ष्मतत्त्वों को जानने वाले पुरुषों द्वारा ही, **सूक्ष्मया अग्रय्या**

बुद्ध्या= अति सूक्ष्म तीक्ष्ण बुद्धि से **दृश्यते** देखा जाता है।

अर्थ– यह सबका आत्मरूप परम पुरुष सभी प्राणियों में निवास करता हुआ भी मायाशक्ति से आवृत्त होने के कारण सबको दिखाई नहीं देता है, परन्तु जो सूक्ष्म तत्त्वों को यथार्थता से जानते हैं ऐसे मनीषियों द्वारा अत्यधिक तीक्ष्ण बुद्धि से वह देखा जाता है।

संस्कृत भावार्थ– स परमात्मा सर्वप्राणिनिवासभूत: जीवात्मा कथ्यते, मायाशक्ते: आवृतत्वात् न सर्वै: द्रष्टुं शक्यते, परन्तु सूक्ष्मतत्वविदा मनीषिणा योगसाधनसम्पन्नतया अतीव तीक्ष्णया बुद्धया स सूक्ष्मतम: परमात्मा ज्ञातुं द्रष्टुं च शक्यते।

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।

ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छान्ते आत्मनि ॥13॥

अन्वय– **प्राज्ञः** = वाक् मनसी यच्छेत् तत् ज्ञाने आत्मनि यच्छेत् ज्ञानं महति आत्मनि नियच्छेत् तत् शान्ते आत्मनि यच्छेत्।

व्याख्या– **प्राज्ञः**= बुद्धिमान् साधक को चाहिए कि **वाक्**= वागादि समस्त इन्द्रियों को **मनसी**= मन में, **यच्छेत्** = निरुद्ध करे, **तत्** = उस मन को, **ज्ञाने आत्मनि** = ज्ञान स्वरूप बुद्धि में, **यच्छेत्** = विलीन करे, **ज्ञानं** = ज्ञान स्वरूप बुद्धि को, **महति आत्मनि**= महान् आत्मा में **नियच्छेत्** = विलीन करे, तत् और उस जीवात्मा को भी, **शान्ते आत्मनि** = शान्त स्वरूप परम पुरुष परमात्मा में, **यच्छेत्** = विलीन करे।

अर्थ– बुद्धिमान् साधक को चाहिए कि अपने वागादि समस्त इन्द्रियों को मन में, मन को बुद्धि में, बुद्धि को जीवात्मा में, और जीवात्मा को शान्त स्वरूप परम पुरुष परमात्मा में विलीन करे।

सस्कृत भावार्थ– योग साधनायात्र ह्युपदिश्यते, तद्यथा बुद्धिमता साधकेन तत् परमात्मानं ज्ञातुं द्रष्टुञ्च सर्वत: प्रथमं वागादिन्द्रियाणि मनसि, मन: बुद्धौ, बुद्धि: जीवात्मनि जीवात्मा च तास्मिन् परब्रह्मणि परमात्मनि विलीन: कर्तव्य: तदैव जीवब्रह्मणोरैक्यं जायते तथा ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवतीति संगच्छते।

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत।

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥ 14॥

अन्वय– उत्तिष्ठत जाग्रत वरान् प्राप्य निबोधत कवय: तत्पथ: क्षुरस्य निशिता दुरत्यया धारा (इव) दुर्गं वदन्ति।

व्याख्या– **उत्तिष्ठत**= मनुष्यों उठो, **जाग्रत** = जागो वरान् **प्राप्य** = श्रेष्ठ सत्पुरुषों का सन्निधान प्राप्तकर, **निबोधत**= उस पर ब्रह्म परमेश्वर को अच्छी तरह समझ लो, **कवयः**= ज्ञानी जन **तत्पथः** = उस तत्त्वज्ञान के मार्ग को, **क्षुरस्य** = छूरे की, **निशिता दुरत्यया** = तीक्ष्ण की हुयी दुस्तर धारा (इव) = धारा के समान, **दुर्गं** = अत्यन्त कठिन, **वदन्ति** = बतलाते हैं।

अर्थ– हे मनुष्यों उठो, सावधान हो जावो, श्रेष्ठ महापुरुषों के समीप में जाकर उनसे उस परब्रह्म परमात्मा के विषय में अच्छी तरह समझ लो, क्योंकि ज्ञानी जन उस तत्त्वज्ञान के मार्ग को छूरे की तीक्ष्ण की हुयी धारा के समान अत्यन्त कठिन बतलाते हैं।

संस्कृत भावार्थ– समग्रं लोकं प्रति औपनिषदिक उपदेशोऽत्र निर्दिश्यते, यत् ब्रह्मप्राप्ति मार्ग: अतीव कठिन: तत्र गमनं क्षुरस्य धारोपरि गमनं भवति, अत: सर्वे मनुष्या: स्वात्मनि जागृता भवेयु: तत्परमात्मविषयकं ज्ञानमवाप्तुं ब्रह्मतत्त्वविदं महापुरुषं प्रति गच्छेयुरिति।

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं

तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।

अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं

निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ॥15॥

अन्वय– यत् अशब्दम् अस्पर्शम् अरूपम् अरसम् च अगन्धवत् तथा अव्ययम् नित्यम् अनादि अनन्तं महतः परं ध्रुवं तत् निचाय्य मृत्युमुखात् प्रमुच्यते।

व्याख्या– **यत्** = जो **अशब्दं** = शब्दरहित, **अस्पर्श**= स्पर्शरहित, **अरूपं** = रूपरहित, **अरसं** = रसरहित च = और **अगन्धवत्** = बिना गन्ध वाला है, **तथा** = तथा जो, **अव्ययं** = अविनाशी **नित्यं** = नित्य, **अनादि** = अनदि, **अनन्तं** = अनन्त, **महतः परं** = महान् आत्मा से श्रेष्ठ **एवं ध्रुवं** = सर्वथा सत्य तत्त्व है, तत् उस परमात्मा को **निचाय्य**= जानकर मनुष्य, **मृत्युमुखात्** = मृत्यु के मुख से, **प्रमुच्यते** = सदा के लिए छूट जाता है।

अर्थ– जो परमात्मा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध से रहित है, तथा जो अविनाशी, नित्य, अनादि और अनन्त है, और जो जीवात्मा से श्रेष्ठ तथा सर्वथा ध्रुव सत्य तत्त्व है, उस परमात्मा को यथार्थ रूप से जानकर मनुष्य मृत्यु के मुख से सदा के लिए छूट जाता है।

संस्कृत भावार्थः– स परमात्मा इन्द्रियागोचरः आद्यन्तःरहितत्वात् नित्योऽविनाशी विद्यते स एव 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादिश्रुत्या अभिधीयते, तमेव परमात्मानं ज्ञात्वा मनुष्यः मृत्युमुखात् सर्वथा प्रमुच्यत इति भावः।

नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तं सनातनम्।

उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते ॥ 16॥

अन्वय– मेधावी मृत्युप्रोक्तं नाचिकेतं सनातनम् उपाख्यानम् उक्त्वा च श्रुत्वा ब्रह्मलोके महीयते।

व्याख्या– मेधावी = बुद्धिमान मनुष्य, **मृत्युप्रोक्तं** = यमराज के द्वारा कहे गये, **नाचिकेतं** = नचिकेता से सम्बन्धित **सनातनं** = अत्यन्त पुरातन, **उपाख्यानं** = उपाख्यान का, **उक्त्वा** = वर्णन करके, **श्रुत्वा** = श्रवण करके **ब्रह्मलोके** = देवलोक में, **महीयते** = प्रतिष्ठित होता है।

अर्थ– जो कोई बुद्धिमान् मनुष्य यमराज के द्वारा कहे गये नचिकेता से सम्बन्धित इस पुरातन आख्यान को कहता है या सुनता है, वह देवलोक में सम्मानित एवं प्रतिष्ठित होता है।

संस्कृत भावार्थ– कठोपनिषदाख्यानस्यात्र फलश्रुतिः कथ्यते, यत् यः कश्चित् बुद्धिमान् मनुष्यः यमेन नचिकेतसे प्रदत्तं पुरातनं ब्रह्मज्ञानाख्यानं परस्मै कथयति श्रावयति वा स देवलोके सम्मान्यते पूज्यते चेति भावः।

य इयं परमं गुह्यं श्रावयेद् ब्रह्मसंसदि।

प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते। तदानन्त्याय कल्पत इति॥ 17॥

अन्वय– यः प्रयतः इमम् परमम् गुह्यं ब्रह्मसंसदि श्रावयेत् वा श्राद्धकाले (श्रावयेत्) तत् आनन्त्याय कल्पते, तत् आनन्त्याय कल्पते इति।

व्याख्या– यः=जो मनुष्य, **प्रयतः** = सर्वथा पवित्र होकर, **इमं परमं गुह्यं** = इस आत्मज्ञान के रहस्यात्मक प्रसंग को, **ब्रह्म संसदि** = ब्राह्मणों की सभागोष्ठी में, **श्रावयेत्** = सुनाता है, **वा**= अथवा **श्राद्धकाले** = श्राद्ध के अवसर पर सबसे सुनाता है, **तत्** = वह श्रावणरूप कर्म आनन्ताय कल्पते = अनन्तफल देने में समर्थ होता है, **तत् आनन्त्याय कल्पते**= वह अक्षुण्ण फल देने में समर्थ होता है।

अर्थ– जो मनुष्य पवित्र होकर इस आत्मज्ञान विषयक रहस्यात्मक प्रसंग को यथोक्तरीति से सभीष्ठी ब्राह्मणों की गोष्ठी में सुनाता है, अथवा पिता पितामहादि के पार्वणादि श्राद्ध के अवसर पर ब्राह्मणों को सुनाता है, उसका श्रावण रूप कर्म अनन्त फल देने वाला हो जाता है. दो बार फल श्रति बतलाकर

इससे सिद्धान्त की दृढ़ता तथा अध्याय की परिपूर्णता बतलाई गयी है।

संस्कृत भावार्थ– अत्रापि कठोपनिषद: परिज्ञानस्य फलश्रुतिरेवोपदिश्यते, तद्यथा–यो हि पवित्रात्मा मनुष्य: कठोपनिषद: आत्मतत्त्वज्ञानात्मकं सरहस्यं प्रसंगमिदं यथाशास्त्रोक्तरीत्या विद्वत्सभायां श्रावयति, अथवा पार्वणश्राद्धावसरे पितृभ्य: ब्राह्मणेभ्यश्च श्रावयति तदीयं श्रावणरूपमिदं कर्म अनन्त-पुण्यफलदायकं भवति सन्निश्चयं तत्फलमानन्त्याय भवतीति ज्ञापनाय अध्याय परिसमाप्तौ वाक्यस्य द्विरावृत्तिरिति दिक्।

शाब्दिक निर्वचन– शकेमहि= 'शक्लृशक्तौ' धातु से विधिलिङ्ग लकार के उत्तम पुरुष बहुवचन में यह रूप बनता है, यह रूप वैदिक संस्कृत में ही बनने के कारण आर्ष या छान्दस कहलाता है। लौकिक संस्कृत में शक्नुयाम् रूप बनता है।

आत्मा– यह शब्द 'अत' सातत्यगमने धातु से उणादि मनिन् प्रत्यय लगने पर आत्मन शब्द निष्पन्न होता है, इसका समान्य अर्थ है, गन्ता= चलने वाला, 'अतति= गच्छति सर्वत्र व्याप्नोति सर्वम्- इस अर्थ में आत्मा व्यापक निर्विकार विशुद्ध चैतन्य रूप प्रसिद्ध अर्थ का वाचक है।

अमनस्क:– अविद्यमानं मनोयस्य स: अमनस्क: यहां नञ बहुव्रीहि समास है, समासान्तरूप प्रत्यय स्वार्थ में हुआ है, इसका अर्थ है, जिसका मन सावधान अथवा जागरूक न हो, वह पुरुष अमनस्क: कहा जाता है।

समनस्क= मनसा सहेति समनस्क यहाँ पर सह के स्थान पर स आदेश और समासान्त रूप होने पर समनस्क रूप निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है, सावधान मन वाला पुरुष।

अध्वन:– अध्वा शब्द मार्गवाची है, उसके षष्ठी विभक्ति के एक वचन का रूप अध्वन: बनता है, जिसका अर्थ है, संसार मार्ग के।

पारिभाषिक शब्दार्थ-

महान् आत्मा– कठोपनिषद् में इसका सान्दर्भिक अर्थ जीवात्मा है, व्यष्टि का स्वामी होने से वह महान् विशेषण से युक्त कहा गया है, समष्टि बुद्धि का अभिमानी देवता होने के कारण 'हिरण्य गर्भ' नाम से कहा जाता है।

गूढ़ोत्मा– यह वैदिक आर्ष प्रयोग है, लोक में गूढात्मा बनता है, इसका पारिभाषिक अर्थ है, प्राणियों के हृदयाकाश में छिपा हुआ परमात्मा इसी को प्रत्यगात्मा या कूटस्थ आत्मा भी कहा जाता है।

अव्यक्त– सांख्य दर्शन के अनुसार मूलप्रकृति को अव्यक्त कहा गया है, यह बुद्धितत्त्व से सूक्ष्म होने के कारण व्यक्त नहीं हो पाती, अत: इसे अव्यक्त कहा जाता है, दूसरे शब्दों में यह परमेश्वर की मायाशक्ति है, जो पुरुष और हिरण्यगर्भ के बीच में अव्यक्त रूप से रहती है।

पुरुष– पुरुष परमतत्त्व है, इससे बड़ा कुछ तत्त्व नहीं है, यह समस्त प्राणियों के अन्दर शयन करता है, समस्त कारणों का कारण, [illegible] प्रत्यगात्मा स्वरूप, सभी सृष्टी को पूरित करने के कारण 'पुरुष' नाम से जाना जाता है।

इन्द्रिय– इन्द्र शब्द से आत्मा अभिप्रेत होता है, उसी आत्मा का लिंग होने का कारण चक्षुरादि को इन्द्रिय कहा गया है, यह जड़ पदार्थ है [illegible] जाता है।

सप्तम इकाई- संस्कृत अनुवाद

संस्कृत अनुवाद

किसी भाषा के शब्दार्थ को दूसरी भाषा के शब्दों में बदलने को अनुवाद कहतें हैं। अनुवाद प्रणाली के वर्णन करने के पूर्व वाक्य में जो सुबन्त एवं तिङन्त पद आते हैं, उनका विवेचन करना तथा कारकों का संक्षिप्त निर्देश करना यहाँ उचित होगा।

संस्कृत में क्रिया वाचक शब्दों को तिङन्त तथा संज्ञा वाचक शब्दों को सुबन्त पद से जाना जाता है, किसी भी वाक्य में एक तिङन्त अर्थात् क्रिया वाचक पद का होना अनिवार्य है, संज्ञावाचक सुबन्त पद एक या अनेक हो सकते हैं, जिनका सम्बन्ध क्रिया से होता है, क्रिया के साथ सम्बन्ध रखने वाले सुबन्त पदों को ही कारक कहा गया है (क्रियान्वयित्वं कारकत्वम्)। संस्कृत व्याकरण में सामान्यत: सात कारक माने गये हैं, परन्तु कुछ वैयाकरण केवल छ: कारक ही स्वीकार करते हैं, षष्ठी विभक्ति को कारक नहीं मानते हैं, क्योंकि उसका सम्बन्ध साक्षात् क्रिया से न होकर अन्य किसी कारक से होता है। उनके अनुसार –

कर्ता कर्म च करणं च सम्प्रदानं तथैव च।

अपादानाधिकरणे इत्याह: कारकाणि षट्।।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि क्रिया के सम्पादन में जिन सुबन्त पदों का साक्षात् उपयोग होता है उन्हें कारक कहा जाता है। उदाहरणार्थ हम एक-एक कारक यहाँ सरलता से समझ सकते हैं।

कर्त्ताकारक – क्रिया करने वाले को कर्त्ता कहा जाता है, जैसे राम पढ़ता है। उक्त वाक्य में 'राम' कर्त्ता कारक है, क्योंकि वही पढ़ने का कार्य कर रहा है।

कर्मकारक – कर्त्ता, क्रिया सम्पादन के लिए जिसको सर्वाधिक चाहता है उसे 'कर्म' कारक कहते हैं, जैसे राम पुस्तक पढ़ता है, यहाँ राम पढ़ने के लिए पुस्तक को चाहता है, अत: पुस्तक कर्मकारक है।

करणकारक – इसी प्रकार कर्त्ता, क्रिया का सम्पादन जिसके द्वारा अथवा जिस साधन से करना चाहता है, उस साधन को करण कारक कहते हैं, जैसे राम हाथ से मुख धोता है, यहाँ पर मुख धोने का कार्य राम हाथ से सम्पादित कर रहा है, अत: हाथ करण कारक है।

सम्प्रदान कारक – कर्ता, क्रिया का सम्पादन जिसके लिये करता है, उसे सम्प्रदान कारक कहा जाता है, जैसे राजा ब्राह्मणों को दान देता है इस वाक्य में राजा दान स्वरूप क्रिया ब्राह्मणों के लिए करता है, अत: ब्राह्मण शब्द में सम्प्रदान कारक होता है।

अपादान कारक – कर्ता का सम्बन्ध जहाँ से छूट जाता है, उसे अपादान कारक कहा जाता है, जैसे राम गाँव से आता है, इस वाक्य में राम का सम्बन्ध गाँव से छूट जाता है, अत: 'ग्राम' शब्द में अपादान कारक होता है।

सम्बन्ध कारक – क्रिया के सम्पादन में जिसका साक्षात् उपयोग न हो, अपितु कर्ता से उसका सम्बन्ध अवश्य हो, उसे सम्बन्ध कारक कहा जाता है, जैसे 'ब्राह्मण का पुत्र पढ़ता है' इस वाक्य में 'पठन रूप क्रिया का कर्ता पुत्र है, परन्तु वह ब्राह्मण का पुत्र है, जिस ब्राह्मण का पठन रूप क्रिया में कोई उपयोग नहीं है, अत: कर्ता से सम्बन्धित होने के कारण 'ब्राह्मण' पद में सम्बन्ध कारक माना जाता है, कुछ वैयाकरण 'सम्बन्ध कारक' को क्रिया के साथ साक्षात् सम्बन्ध न होने के कारण कारक नहीं मानते हैं।

अधिकरण कारक – क्रिया के सम्पादन में कर्ता अथवा कर्म का जो आधार बनता है, उसे अधिकरण कारक कहा जाता है, जैसे 'राम शय्या पर सोता है' यहाँ सोने की क्रिया राम द्वारा सम्पादित हो रही है, जिसका आधार शय्या है, अत: उसी में अधिकरण कारक बताया गया है।

संस्कृत व्याकरण के अनुसार आधार तीन प्रकार का होता है, (1) औपश्लेषिक आधार, (2) वैषयिक आधार (3) अभिव्यापक आधार। इन आधारों के अनुसार अधिकरण भी तीन प्रकार का बन जाता है, जिसे आगे के प्रकरणों में समझाया जाएगा।

संस्कृत में अनुवाद के लिए उक्त कारकों का परिज्ञान सबसे पहले आवश्यक है। कारकों को पहचानने के लिए हिन्दी भाषा के कुछ परिचायक चिन्ह बतलाये गये हैं, जिन्हें विभक्ति चिन्ह भी कहा जाता है, ज्ञातव्य है कि संस्कृत व्याकरण में कारकों के अनुसार ही विभक्तियाँ आती हैं, जिसके अनुसार सुबन्त पदों का रूप चलता है, सरलता के लिये यहाँ विभक्तियों के साथ कारक एवं उनके चिन्हों को दर्शाया जाता है।

विभक्तियाँ	कारक के नाम	चिन्ह
प्रथमा	कर्त्ता	ने
द्वितीया	कर्म	को
तृतीया	करण	से, के द्वारा
चतुर्थी	सम्प्रदान	के लिए
पञ्चमी	अपादान	से (जहाँ सम्बन्ध छूट जाय)
षष्ठी	सम्बन्ध	का, की, के, रा, री, रे
सप्तमी	अधिकरण	में, पर,

इसके साथ सम्बोधन के लिये भी प्रथमा विभक्ति का प्रयोग किया जाता है, जिसका चिन्ह अरे, हे. भये, भो: इत्यादि प्राप्त होता है।

कर्त्ता, कर्म आदि कारकों को प्रदर्शित करने के लिए ही प्रथमा, द्वितीया आदि विभक्तियों का उपयोग किया जाता है। संस्कृत व्याकरण में कुछ विभक्तियाँ किन्हीं विशेष पदों से युक्त होने पर भी प्रयुक्त होती हैं, ऐसी स्थिति में इन्हें 'उपपद विभक्ति' के नाम से जाना जाता है, जबकि कारक को आधार मानकर प्रयुक्त होने वाली विभक्तियों को 'कारक विभक्ति' के नाम से जाना जाता है, सामान्यत: प्रति, बिना, अन्तरा, अन्तरेण आदि पदों के साथ द्वितीया विभक्ति, सह, साकं, सार्धं, बिना, प्रभृति पदों के साथ तृतीया विभक्ति, तथा नमः, स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा, वषट् आदि अव्यय पदों के साथ चतुर्थी विभक्ति तथा ऋते के साथ पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग किया जाता है।

संस्कृत में अनुवाद के लिए कारक का परिज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। विदित है कि कारक सुबन्त नाम (संज्ञा) अथवा सर्वनाम पदों में ही होते हैं, नाम अथवा सुबन्त शब्दों के साथ सातों विभक्तियों के तीनों वचनों में कुल 21 प्रत्यय लगते हैं, जिनसे विभक्तियों के रूप अपने-अपने वचनों के अनुसार भिन्न-भिन्न होते है, जिन विभक्तियों के द्विवचन एवं बहुवचन के प्रत्यय एक समान हैं, वहाँ शब्द रूप भी एक समान होते हैं। कारकों तथा विभक्तियों के साथ प्रत्येक वचन के प्रत्ययों का ज्ञान अत्यावश्यक होता है, क्योंकि सुबन्त के पदों में कारकानुसार जो परिवर्तन होता है, उसे सरलता से समझने के लिए वही आधार बनते हैं। अध्येताओं के बोध के लिए कारक विभक्तियों के चिन्हों के साथ सुबन्त के 21 प्रत्ययों को हम यहाँ उल्लिखित करते हैं, इससे प्रत्येक कारक तथा उसकी विभक्ति एवं उनके एक वचन, द्विवचन एवं बहुवचन के प्रत्ययों का बोध सरलता से हो सकता है।

कारक	चिन्ह	विभक्ति	एक वचन	द्विवचन	बहुवचन
कर्त्ता	ने	प्रथमा	सु	औ	जस्
कर्म	को	द्वितीया	अम्	औट्	शस्
करण	से	तृतीया	टा	भ्याम्	भिस्
सम्प्रदान	के लिए	चतुर्थी	ङे	भ्याम्	भ्यस्
अपादान	से (सम्बन्ध नहीं)	पञ्चमी	ङसि	भ्याम्	भ्यस्

सम्बन्ध	का, की, के	षष्ठी	ङस्	ओस्	आम्
अधिकरण	में, पर	सप्तमी	ङि	ओस्	सुप्

इन प्रत्ययों से बनने वाले सुबन्त पद तीनों (पुलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग एवं नपुंसक लिङ्ग) लिङ्गों में प्रयुक्त होते हैं, उदाहरणार्थ तीनों लिङ्गों के एक-एक रूप यहाँ प्रदर्शित किये जाते हैं।

राम शब्द का रूप (पुल्लिङ्ग)

विभक्ति	एक वचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	रामः	रामौ	रामाः
द्वितीया	रामम्	रामौ	रामान्
तृतीया	रामेण	रामाभ्यां	रामैः
चतुर्थी	रामाय	रामाभ्यां	रामेभ्यः
पञ्चमी	रामात्	रामाभ्यां	रामेभ्यः
षष्ठी	रामस्य	रामयोः	रामाणाम्
सप्तमी	रामे	रामयोः	रामेषु

इसी प्रकार समस्त अकारान्त पुलिङ्ग के शब्द राम के समान ही चल सकते हैं, स्त्रीलिङ्ग के रूपों में कुछ भिन्नता आ जाती है, जिन्हें निम्नलिखित रूपों से जाना जा सकता है।

रमा शब्द का रूप (स्त्रीलिङ्ग आकारान्त)

प्रथमा	रमा	रमे	रमाः
द्वितीया	रमाम्	रमे	रमाः
तृतीया	रमया	रमाभ्यां	रमाभिः
चतुर्थी	रमायै	रमाभ्यां	रमाभ्यः
पञ्चमी	रमायाः	रमाभ्यां	रमाभ्यः
षष्ठी	रमायाः	रमयोः	रमाणाम्
सप्तमी	रमायाम्	रमयोः	रमासु

आकारान्त स्त्री शब्द के समस्त रूप रमा के समान ही चलते हैं। एक के परिज्ञान से प्रत्ययों को यथोचित विभक्तियों के अनुसार लगाकर उनके रूपों को अच्छी तरह समझा जा सकता है। अब नपुंसकलिङ्ग के रूप बतलाये जाते हैं। इसमें केवल प्रथमा एवं द्वितीया विभक्तियों में ही रूप भिन्नता होती है, शेष विभक्तियों के रूप पुलिंग के समान ही चलते हैं। उदाहरणार्थ 'ज्ञान' शब्द का रूप प्रदर्शित किया जाता है।

ज्ञान शब्द का रूप (नपुंसक लिङ्ग)

प्रथमा	ज्ञानम्	ज्ञाने	ज्ञानानि
द्वितीया	ज्ञानम्	ज्ञाने	ज्ञानानि
तृतीया	ज्ञानेन	ज्ञानाभ्यां	ज्ञानैः
चतुर्थी	ज्ञानाय	ज्ञानाभ्यां	ज्ञानेभ्यः
पञ्चमी	ज्ञानात्	ज्ञानाभ्यां	ज्ञानेभ्यः
षष्ठी	ज्ञानस्य	ज्ञानयोः	ज्ञानानाम्
सप्तमी	ज्ञाने	ज्ञानयोः	ज्ञानेषु

तिङन्त पद – यह बताया जा चुका है कि किसी भी वाक्य की पूर्ति बिना क्रिया के नहीं होती

है। प्रत्येक वाक्य में एक क्रिया का होना अनिवार्य है। संस्कृत भाषा में क्रिया का कोई लिङ्ग नहीं होता है, चाहे कर्ता पुलिङ्ग अथवा नपुंसक लिङ्ग में क्यों न हो। क्रिया सदैव एक सी रहती है, जैसे राम: पठति, रमा पठति-इन दोनों में लिङ्ग भिन्न होने पर भी क्रिया एक ही है, इसी प्रकार बालक: पतति, बालिका पतति, फलं पतति, इन तीनों वाक्यों में लिङ्ग भिन्न होने पर भी क्रिया (पतति) एक रूप ही है। हिन्दी भाषा में कर्त्ता के लिङ्ग के अनुसार क्रिया का भी लिङ्ग बदल जाता है, जैसे लड़का पढ़ता है, लड़की पढ़ती है, परन्तु संस्कृत में ऐसा नहीं है। संस्कृत भाषा में क्रिया पदों के निर्माण के लिए लगभग 2000 धातुओं की परिकल्पना की गयी है, जो 10 गणों में व्यवस्थित की गयी है, जिनके नाम निम्नलिखित हैं।

भ्वाद्यदादी जुहोत्यादि: दिवादि: स्वादिरेव च।

तुदादिश्च रुधादिश्च तनादि: क्रीचुरादय:।।

प्रत्येक गण की धातुएं परस्मैपद एवं आत्मनेपद में विभक्त होती हैं, कुछ धातुएं दोनों पदों में व्यवहृत होने के कारण उभय पदी कही जाती हैं। इनमें कुछ धातुएं सकर्मक होती हैं, तथा कुछ धातुएं अकर्मक कही जाती हैं। जिन धातुओं के साथ किसी कर्म की अपेक्षा होती है, उसे सकर्मक धातु कहा जाता है, और जिन धातुओं में कर्म की आकांक्षा नहीं होती है, उन्हें अकर्मक धातु कहा जाता है।

वाच्य प्रकार – धातुओं से तीन प्रकार के वाक्य निष्पन्न होते हैं, जिन्हें संस्कृत भाषा में वाच्य के नाम से जाना जाता है, जैसे –

कर्तृ वाच्य – इस दृष्टान्त में कर्त्ता के वचन के अनुसार क्रिया का वचन होता है, उदाहरण राम: पठति।

रामलक्ष्मणौ पठत:।

रामलक्ष्मणभरता: पठन्ति।

कर्मवाच्य – इस वाच्य में कर्म के अनुसार क्रिया आती है, और कर्म के वचन के अनुसार ही क्रिया में भी वचन परिवर्तित होता है, यहाँ कर्त्ता प्रथमान्त न होकर सदैव तृतीया विभक्ति में रहता है।

उदाहरण – रामेण पुस्तकं पठ्यते।

रामेण पुस्तके पठ्येते।

रामेण पुस्तकानि पठ्यन्ते।

भाववाच्य – इस वाच्य में कर्ता सदैव तृतीयान्त होता है, तथा क्रिया केवल प्रथम पुरुष के एक वचन में ही प्रयुक्त होती है, इसमें कोई कर्म नहीं होता है। क्रिया की मुख्यता होने के कारण ही इसे भाव वाच्य कहते हैं।

उदाहरण – त्वया हस्यते

मया गम्यते

मनुष्यै: म्रियते

संस्कृत अनुवाद के नियम – संस्कृत भाषा में शब्दों का दो प्रकार माना जाता है, (1) विकारी (2) अविकारी। विकारी शब्द उन्हें कहते हैं जिनका स्वरूप वक्ता की विवक्षा के अनुसार बदलता रहता है, इसमें सुबन्त और तिङन्त पदों को रखा जा सकता है। अविकारी उन शब्दों को कहा जाता है, जो किसी भी दशा में परिवर्तित अथवा विकृत नहीं होते हैं, ऐसे शब्दों को ही संस्कृत भाषा में 'अव्यय' के नाम से कहा गया है। जैसे –

राम: नित्यं पितरौ प्रणमति।

अहम् सदा प्रात: प्रणमामि।

त्वम् सर्वदा सुन्दरं वदसि।

उक्त उदाहरणों में नित्यं, सदा, प्रातः, सर्वदा, सुन्दरं आदि शब्द अविकारी शब्द हैं, जो कभी नहीं बदलते हैं, जबकि सुबन्त रामः, अहं, त्वं तथा तिङन्त प्रणमति, प्रणमामि, वदसि आदि विकारी हैं, जो कर्ता के अनुसार अपने स्वरूप को बदलते रहते हैं। विकारी शब्दों में संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण तथा क्रियापद आते हैं, और अविकारी शब्दों में केवल अव्यय शब्द माने जाते हैं।

संस्कृत भाषा में क्रिया के तीन पुरुष होते हैं, जिन्हें प्रथम पुरुष, मध्यम पुरुष और उत्तम पुरुष कहा जाता है। प्रथम पुरुष में समस्त नाम पद आते हैं, परन्तु मध्यम एवं उत्तम पुरुष में सर्वनाम नियत किये गये हैं, मध्यम पुरुष के सर्वनाम त्वं, युवां, यूयम् तथा उत्तम पुरुष के सर्वनाम अहं, आवां, वयम् रखे गये हैं, इन्हीं के अनुसार क्रियाओं के रूप भी एकवचन, द्विवचन और बहुवचन में परिवर्तित होते रहते हैं। प्रथम पुरुष के सर्वनाम स, तौ, ते के अतिरिक्त अन्य नामों का भी योग बना रहता है, इसीलिए प्रथम पुरुष को अन्य पुरुष के नाम से भी जाना जाता है।

जिस प्रकार सुबन्त के पदों के लिए भिन्न-भिन्न प्रत्यय बतलाये गये हैं, वैसे ही तिङन्त पदों के निर्माण के लिए पुरुष के अनुसार परस्मैपद एवं आत्मनेपद के भेद से प्रत्यय क्रियापद के भी बतलाये गये हैं।

संस्कृत अनुवाद के लिए यह आवश्यक है कि जिस पुरुष का कर्त्ता होगा, क्रिया भी उसी पुरुष की होनी चाहिए, तथा जिस पुरुष के जिस वचन का कर्त्ता अथवा सर्वनाम होगा, क्रिया भी उसी पुरुष एवं वचन की होनी चाहिए। इस प्रकार प्रत्येक पुरुष के वचन के अनुसार क्रिया का पुरुष एवं वचन होगा।

उदाहरणार्थ –

पुरुष	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथम पुरुष	सः	तौ	तै
क्रियापद	पठति	पठतः	पठन्ति
मध्यम पुरुष	त्वम्	युवां	यूयम्
क्रियापद	पठसि	पठथः	पठथ
उत्तम पुरुष	अहम्	आवाम्	वयम्
क्रियापद	पठामि	पठावः	पठामः

संस्कृत भाषा में क्रिया के विभिन्न कालों में प्रयुक्त होने वाले शब्दों को 10 लकारों में विभाजित किया गया है। सामान्यतः तीन ही काल मुख्य रूप से व्यवहार में प्रयुक्त होते हैं, और इन्हीं तीन कालों में ही दसों लकारों को अन्तर्भूत कर दिया जाता है। इनमें आज्ञादि सूचक लकार पृथक् माने गये हैं तथा लेट्लकार का प्रयोग केवल वैदिक संस्कृत में ही माना गया है। संस्कृत भाषा के लकारों तथा उनके कालों को निम्न रूप में पहचाना जा सकता है।

क्रम	लकार	काल
1.	लट्	वर्तमान काल
2.	लिट्	परोक्ष भूतकाल
3.	लुट्	अनद्यतनभविष्यकाल
4.	लृट्	सामान्य भविष्य काल
5.	लेट्	(केवल वैदिक साहित्य में प्रयुक्त)
6.	लोट्	आज्ञा के अर्थ में
7.	लङ्	अनद्यतन भूतकाल
8.	लिङ्	विधि, निर्देशादि के अर्थ में

9.	लुङ्	सामान्य भूतकाल
10.	लृङ्	क्रियातिपत्ति के लिए

वर्तमान काल

वर्तमान काल की क्रिया लट् लकार द्वारा बतायी जाती है, जैसे वह पढ़ता है, या वह पढ़ रहा है, आदि का अनुवाद स: पठति के रूप में किया जाता है, इसी प्रकार तुम पढ़ रहे हो या मैं पढ़ रहा हूँ आदि को मध्यम पुरुष एवं उत्तम पुरुष के प्रत्ययों के अनुसार अनुवाद करते हैं, त्वं पठसि, अहं पठामि आदि। जैसे - उदाहरणार्थ-

स: पठति।	तौ पठत:।	ते पठन्ति।
त्वं पठति।	युवां पठथ:।	यूयं पठथ।
अहं पठामि।	आवां पठाव:।	वयं पठाम:।

भूतकाल

भूतकाल की क्रिया को प्रकट करने के लिए संस्कृत भाषा में लङ्, लिट् और लुङ् लकारों का प्रयोग किया जाता है। इनमें जो कार्य आज से पहले हो गया हो, ऐसे भूतकालिक क्रिया का बोध कराने के लिए लङ् लकार का प्रयोग किया जाता है जैसे - वह एक दिन पानी पीने के लिए यमुना के किनारे गया'' इसका अनुवाद करते हैं – ''स एकदा जलं पातुं यमुनातीरमगच्छत्'' यहाँ अगच्छत् लङ् लकार की क्रिया है, इसका रूप निम्नलिखित रूप से चलता है।

अगच्छत्	अगच्छताम्	अगच्छन्
अगच्छ	अगच्छतम्	अगच्छत
अगच्छम्	अगच्छाव	अगच्छाम

लिट्लकार – इन्द्रिय से अगोचर होने वाले परोक्षभूत काल में लिट् लकार का प्रयोग होता है, जैसे - भगवान् ने कहा- भगवान् उवाच्, दशरथ के पुत्र राम हुये- दशरथपुत्र: राम: बभूव इत्यादि। उक्त वाक्यों में उवाच तथा बभूव लिट् लकार के प्रयोग हैं, इनका रूप निम्न प्रकार से चलता है।

बभूव	बभूवतु:	बभूवु:
बभूविथ	बभूवथु:	बभूव
बभूव	बभूविव	बभूविम

लुङ् लकार – यदि भूतकाल सूचक वाक्य में अद्यतन का अभिप्राय छिपा हो, तो लुङ्लकार का प्रयोग किया जाता है, जैसे - बालक ने दूध पी लिया- बालक: दुग्धम् अपिबत्, उसने अपना पाठ पढ़ लिया- स: स्वकीयं पाठम् अपाठीत्, इत्यादि वाक्यों में अपिबत तथा अपाठीत् पद लुङ्लकार में प्रयुक्त किये गये हैं। इसका रूप निम्नवत् चलता है –

अपाठीत्	अपाठिष्टाम्	अपाठिषु:
अपाठी:	अपाठिष्टम्	अपाठिष्ट
अपाठिषम्	अपाठिस्व	अपाठिस्म

भविष्यत् काल – हिन्दी भाषा में जब हम जाएगा, खाएगा, पीएगा, चलेंगे, पढ़ोगी इत्यादि वाक्यों में गा, गी, गे का प्रयोग करते हैं, तब संस्कृत भाषा में इसका अनुवाद करते समय भविष्यत् कालबोधक लृट् और लुट् लकार का प्रयोग किया जाता है। यद्यपि इन दोनों ही लकारों से भविष्यत् काल का बोध होता है, फिर भी दोनों में भेद यह है कि दूरवर्ती भविष्य के बोध के लिए लुट्लकार और समीपवर्ती भविष्य के लिए लृट्लकार का प्रयोग होता है। जैसे पाँच दिनों के बाद मैं वाराणसी जाऊँगा- पञ्चदिवसानन्तरम् अहं वाराणसी गन्तास्मि तथा आज ही मैं काशी जाऊँगा -अद्यैव अहं काशीं गमिष्यामि, इन वाक्यों में गन्तास्मि लुट् लकार तथा गमिष्यामि लृट्लकार में प्रयुक्त किये गये हैं। इन लकारों के

है, बहुत प्रलोभन देने पर भी तुम अपनी निष्ठा पर दृढ़ रहे, अतः तुम एकमात्र आत्मतत्त्व जानने के अधिकारी हो।

संस्कृत – हे नचिकेत! आत्मज्ञानं प्रति त्वदीयां सत्यनिष्ठां विमलां बुद्धिं चावलोक्य अहमतीव प्रसन्नोऽस्मि एतादृशी सत्यनिष्ठा तर्केण न कदापि लभ्यते इयन्तु भगवदनुग्रहेण कस्यचित् महापुरुषस्य। सन्निधानेन च प्राप्यते। एतादृशी सत्यनिष्ठा एव मनुष्यम् आत्मज्ञानाय प्रेरयति । बहुप्रलोभनदानेऽपि त्वं स्वात्मनिष्ठायां द्रढीयान् आसीः, अतस्त्वमेव एकमात्रं आत्मत्त्वविज्ञाने अधिकारी असि।

15. हिन्दी – ओंकार ही परब्रह्म परमात्मा का वाचक शब्द है। इसे प्रणव भी कहा जाता है। समस्त वेद इसी का प्रतिपादन करते हैं। तपस्वीजन इसी को पाने के लिए तपस्या करते हैं। महात्मा लोग इसी को जानने के लिए ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं।

संस्कृत – ओंकार एव परब्रह्मपरमात्मनो वाचकः शब्दः अस्ति। अयमेव प्रणव इत्युच्यते, सर्वेऽपि वेदाः अस्यैव प्रतिपादनं कुर्वन्ति, तपस्विजनाः एतदेवाधिगन्तुं तपश्चरन्ति, महात्मजनाः अमुमेव ज्ञातुं ब्रह्मचर्यमाचरन्ति।

16. हिन्दी – साधक को यह विश्वास होना चाहिए कि जीवात्मा और परमात्मा दोनों एक ही तत्त्व हैं। शरीरान्तर्वर्ती आत्मा को जीवात्मा तथा बिना किसी शरीर वाले नित्य चेतनस्वरूप को परमात्मा कहा जाता है। जड़ शरीर तथा सुख दुःखादि भोगों से जीवात्मा का कोई सम्बन्ध नहीं होता है। वह जन्म मरण से रहित सर्वदा एकरस तथा निर्विकार रहता है। शरीर के नष्ट हो जाने पर भी इसका विनाश नहीं होता है। जो लोग इसको मारने वाला या मरने वाला मानते हैं, वे वस्तुतः आत्मस्वरूप को नहीं जानते हैं, वे सर्वथा भ्रान्त हैं।

संस्कृत – साधकेनायं विश्वासः कर्त्तव्यः यत् जीवात्मा परमात्मा चोभयोः तत्त्वतः ऐक्यं विद्यते, शरीरान्तर्वर्ती आत्मा एव जीवात्मा कथ्यते, परमात्मा तु नित्यः चेतनः ज्ञानस्वरूपः अशरीरी कथ्यते। जीवात्मनोः जडशरीरेण सुखदुःखादिभोगैश्च न भवति कश्चित् सम्बन्धः। स तु जन्ममरणरहितः सर्वदा एकरसरूपः निर्विकारश्च दृश्यते। शरीरे नष्टेऽपि तस्य विनाशो न जायते। ये जनाः एनं हन्तारं हतं वा मन्यन्ते, ते वस्तुतः आत्मस्वरूपं न विदन्ति, ते सर्वथा भ्रान्ताः सन्ति।